है। मानों काल यही सिद्ध करता है। जिसको देखते हैं कि है, देखते-देखते वही अगले क्षण हमारे लिए अनहुआ हो जाता है। अर्थात् जिसकी उत्पत्ति है उसका विनाश है। फिर वह क्या है जिसमें यह सब उत्पत्ति विनाश की लीला चलती रहती है, इसलिए जिसका अपना आदि है न अंत है? न जिसकी उत्पत्ति है न विनाश है?

यह केवल और अखण्ड सत्य पाया कैसे जाय? जाना कैसे जाय?

इसलिए लगता है कि जानने में केवल अज्ञान आता है और पाने में केवल नाशवान्। इसलिए जहां तक ज्ञान का सम्बन्ध है अनिश्चितता और व्यग्रता ही उसका सार रह जाता है और दुःख, विरह वियोग व्यथा ही एक उपलब्धि बन आती है।

मैं देख रहा हूं कि मेरा मैं ही सबसे बड़ी बाधा है। उसी शर्त पर मुझे जीना होता है। पर वही सबसे बड़ी व्यर्थता है। इस तरह अपने प्रति ही लौटकर आने वाला जीवन भार सरीखा हो जाता है। मैं अपने को पाऊं करने वाला ने यह कोशिश बहुत की है। हाथ उसके क्या आया है, मालूम नहीं हो सका है। मैं एक बिन्दु इस अखण्ड सत्ता में सागर में से मानो पृथक छिटकी हुई बूंद के मानिन्द है। उसमें सत्यता है ही नहीं। इसलिए मैं की पाने की कोशिश अंत में कहीं नहीं जायगी, पछाड़ खाकर अपने पर ही लौटकर सिसकती रह जायेगी। यही मैं की सबसे बड़ी असहायता है कि वह अपने को मान रहता है और अपने से छूट नहीं पाता।

सच पूछिए तो यह वियोगता मैं के लिए अनिवार्य नहीं है। बल्कि अनिवार्य उसमें उलटी अवस्था है अर्थात् मुक्ति की अवस्था। यहां जगत में कोई या कुछ भी नहीं है जो सम्बद्धता से रहित हो। आकर्षण और परस्पराकर्षण पर समस्त सृष्टि टिकी है। कोई उस भाव और प्रभाव से वंचित नहीं है। अर्थात् प्रत्येक के यह द्वार मुक्ति का आह्वान खुला पड़ा है। अपने में जनमा हो लेकिन हर कोई मुक्ति में जी सकता है।

क्षण रहते हुए अतीत और अनागत को भी वर्तमान में ले आने की क्षमता जब चेतना में होती है तब मानों उसको जीना कहा जाता है। चिन्मय जीवन समय के अधीन नहीं होता। अधिक-से-अधिक समय का सगी वह होता है अथवा तो मुक्त एवम् विभु होता है।

काल सबको समाता खाता चला जा रहा है। फिर भी परम्परा आज जीवित है। उस परम्परा के द्वारा ऐतिहासिक के पार अनैतिहासिक तक जीवित है। इस प्रकार सुदूर अतीत वर्तमान से मिल आता है। साहित्य द्वारा उसी प्रकार सुदूर भविष्य को भी कल्पना के जोर से खींचकर हम आज में बांध लेते हैं। इस पद्धति से बीतते और बिताते हुए काल को मानो स्थिरीभूत करने की क्षमता हममें आ जाती है। हम सोचते हैं और इस सोचने के जरिये मानों अपने ही बीतते हुए जीवन से अलग होकर मात्र साक्षी बन जाते हैं। तब काल हमारे सामने से बहता हुआ चला जाता है हम पर उसका वश नहीं चलता। जीनेवाला प्राणी अपनी आयु की समाप्ति पर समाप्त हो जाता हो पर उस द्वारा सोचा हुआ विचार और देखा गया दर्शन ज्यों-का-त्यों कायम बना रह जाता है। वह मानों समय को चुनौती देता हुआ अमर बनता है।

तो यही चक्कर है नित्य और अनित्य का चक्कर। हमारे जीवन में अवश्य ही कुछ नित्य है। किन्तु जिसमें उस नित्यता के बीज को सुरक्षित बनाकर रखा गया है वह अनित्य और क्षरणशील है। उसी को लेकर शायद यह संसार है जो मूर्त और प्रत्यक्ष है। इसमें वह जो नित्य है अमूर्त और परोक्ष बना रहता है। उसे कैसे पाया देखा जाय यह साधना और समस्या का ही विषय बन रहता है।

मैं जब तक हूं मेरे लिए ईश्वर भी है। अर्थात् मैं द्वैत में ही हो सकता है। दूसरा उपाय नहीं है। होना मात्र खण्डित है। कुछ आप से अलग किया जा सकता है इसी अर्थ में वह हो सकता है। यह अलगपन अन्त में माना हुआ ही तो है। इस तरह सब होना असत् हो जाता है अब बाधा बन जाता

है। मानों काल यही सिद्ध करता है। जिसको देखते हैं कि है, देखते-देखते वही अगले क्षण हमारे लिए अनहुआ हो जाता है। अर्थात् जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश है। फिर वह क्या है जिसमें यह सब उत्पत्ति विनाश की लीला चलती रहती है, इसलिए जिसका अपना आदि है, न अन्त है? न जिसकी उत्पत्ति है न विनाश है?

वह केवल और अखण्ड सत्य पाया कैसे जाय? जाना कैसे जाय?

इसलिए लगता है कि जानने में केवल अज्ञान आता है और पाने में केवल नाशवान्। इसलिए जहां तक पाने का सम्बन्ध है, अनिश्चितता और व्यग्रता ही उसका सार रह जाता है और दुःख विरह वियोग व्यथा ही एक उपलब्धि बन आता है।

मैं देख रहा हूं कि मेरा मैं हो सबसे बड़ी बाधा है। उसी शर्त पर मुझे जीना होता है। पर यही सबसे बड़ी व्यथता है। इस तरह अपने प्रति ही लौटकर आने वाला जीवन भार सरीखा हो जाता है। मैं अपने को पाऊं, करने वालों ने यह कोशिश बहुत की है। हाथ उनके क्या आया है मालूम नहीं हो सका है। मैं वह बिन्दु इस अखण्ड सत्ता के सागर में से मानो पृथक छिटकी हुई बूंद के मानिन्द है। उसमें सत्यता है ही नहीं। इसलिए मैं को पाने की कोशिश अंत में कहीं नहीं जायगी, पछाड़ खाकर अपने पर ही लौटकर सिसकती रह जायगी। यही मैं की सबसे बड़ी असमर्थता है कि वह अपने को मान रहता है और अपने से छूट नहीं पाता।

सच पूछिए तो यह विफलता मैं के लिए अनिवार्य नहीं है। बल्कि अनिवार्य उससे उलटी अवस्था है अर्थात् मुक्ति की अवस्था। यहां जगत में कोई या कुछ भी नहीं है जो सम्बद्धता से रहित हो। आकर्षण और परस्पराकर्षण पर समस्त सृष्टि टिकी है। कोई उस भाव और प्रभाव से वंचित नहीं है। अर्थात् प्रत्येक के चहुं ओर मुक्ति का आह्वान खुला पड़ा है। बन्धन में जनमा हो लेकिन हर कोई मुक्ति में जी सकता है।

उसमें से तो केवल अहंता और आग्रह और असंस्कृत ही खुर-खलन ही रह जायगा। संस्कारिता का नाश हो जायगा। इसलिए इच्छा के निरोध को तप मानना होगा और उस तप के तेज से ही जीवन प्रकृष्ट होगा। इच्छामात्र के प्रति संशय से देखना होगा और निरभिलाषी निष्काम बनकर चलना होगा।

उन समाजहितैषी व्यवस्थापकों की बात गलत नहीं है। लेकिन जो सारे जगत् -लीला पर भगवान् की छाप लिखी हुई दिखाई देती है क्या उनकी बात उससे भी अधिक सही है? नीति नियमों से, मर्यादा रेखाओं से, निषेधों से, अंकुश से और दंड से हम निरुद्ध किसको क्या करना चाहते हैं? जिसको रोकना चाहते हैं वह असत् बनने में ही कम आया? कहा ऐसा तो नहीं कि असत् के नाम पर सत् को रोकने की चेष्टा में से ही उस असत् भाव की सृष्टि हो आ रही हो? हमारे रोक-थाम के साग्रह प्रयत्नों के कारण ही अनिष्ट न उपज रहा हो?

भगवान् की सृष्टि अगम है। ऐसा नहीं कि वहां विष अनुपस्थित है। लेकिन विष के साथ अमृत भी मिल जाता है। कुल मिलाकर हम उस पर विश्वास रखें। अर्थात् इच्छा मात्र में भोग है तो साथ ही यज्ञ और योग भी है। इसलिए जब इच्छा को मूल से रोका जाता है तो योग और यज्ञ की संभावनाएं भी समाज में से सूखने लग जाती हैं। तब है सो समाप्त तो नहीं होता लेकिन संस्कार बनने की जगह घुटकर वह विकार अवश्य बन सकता है। विकास की प्रक्रिया में मनुष्य के बनते ही असंभव हो गया कि वह लौटकर पशु बन सके। उसमें अंतरंग विवेक पैदा हो गया। उस विवेक के पक्ष से हीन कोई व्यक्ति हो सकता नहीं है। प्रत्येक इच्छा को उस यज्ञ में से छनकर आना होता है। किन्तु जब हम मनुष्य की प्रकृति का ही अविश्वास करते हैं तो मानो उसमें अंतर्भूत ईश्वरत्व का भी अविश्वास कर जाते हैं। परिणाम होता है कि इच्छा ऐंठ और तप कर वासना बन जाती है और उसमें के गूढ़ यज्ञ तत्त्व का वहां ह्रास और लोप होने लगता है। तब भावना

की प्रफुल्लता नष्ट हो जाती है और वहां वासना की वीभत्सता बसने लग जाती है। जो यज्ञ रूप हो सकता था वह निरा भोग रूप पकड़ लेता है और जिसमें दिव्य फलित हो सकता था वहां हीनत्व दीखने लग जाता है।

हमारे प्रयासों में नम्रता और स्वीकारता जब नहीं रहती, दृढ़ता और नियन्त्रकता आ जाती है, तो मानो भगवत् चेतना के विरोध में हमारी अहम् चेतना खड़ी हो जाती है। प्रकृत तब अहङ्कृत और विकृत हो जाता है और जीवन को संस्कृत बनाने की संभावना से हीन हो जाता है।

मैंने जो लिखा है उसमें इसीलिए यथार्थ की ऊपरी यथावता के साथ न्याय नहीं हो पाया है। अर्थात् उसके प्रति मैं अपनी ओर से नतमस्तक नहीं हो सका हूं। मैं नहीं मान पाता कि कोई केवल दुष्ट है या केवल साधु है। सब स्वयं हैं और समाज व्यवस्था के नाते अथवा ऊपरी भेद के हिसाब से जो हमने खाने बना लिये हैं उसमें कोई भी बंद या खतम हो रहने के लिए नहीं है। हम अपनी समझ पर ही डांट लगाते हैं जब किसी को लेबिल देकर अपने से दूर हटा देते हैं। प्रत्येक चरित्र अपने में चुनौती है और किसी न किसी रूप में सत्य के अमुक पहलू का उद्घाटन भी है। यदि कुछ अनिष्ट उसमें दीखता है तो शायद इसी कारण कि इष्ट को वहां कदाचित् मुक्त अवसर नहीं मिल पाया है। अन्यथा मेरा आग्रह है कि भागवत् सत्य प्रत्येक के चरित में से हठात् अपनी पूर्ति और अभिव्यक्ति खोज रहा है। यदि हममें से हरेक अन्यथा दीखता है तो इसी का कारण कि उसमें मैं का दंभ है और समष्टि के विधान में उसका योग नहीं बन पाया है। योग की चेष्टा अनिवार्य है और हममें से कोई इससे मुक्त नहीं है। यदि हम चेष्टा के स्रोत की तरफ हमारी निगाह हो तो मुझे प्रतीत होता है कि समाज में आलोचना और निन्दा का तत्व कम होगा, संवेदन तीव्र हो सकेगा और परिणाम रसमय और अनंत श्रेयस्कर होगा।

■ ■ ■

मथुरा १८

अनुक्रम



राष्ट्रीयता

कई बरस की बात है कि एक पुस्तक देखी थी 'राष्ट्र धर्म'। प्रचार के साथ विचार के लिए भी वह लिखी गई मालूम होती थी। कुल मिलाकर उसमें राष्ट्र को अपने इष्ट देव की तरह मानने की सीख थी और सब धर्मों का धर्म बताया था—राष्ट्रीयता।

उसके बाद एक विवाह देखा। वहां वेदी की जगह भारत का नक्शा बना था। वेद मंत्रों की जगह राष्ट्र गीत ने ली थी। अग्नि देवता के बजाय भारत माता की साक्षी पवित्र समझी गई थी। और दूसरे कुछ इस तरह के सुधार थे। उस विवाह को बताया गया था—राष्ट्रीय।

और अभी थोड़े दिन पहले बालिकाओं की एक शिक्षण-संस्था देखी। वह संस्था सिर्फ गिनती बढ़ाने वाली नहीं थी। उसका ध्येय था और वहां जिन्दगी नजर आती थी। उसकी ओर से उनकी शिक्षा के आदर्श की व्याख्या में एक पुस्तिका भी निकली है। उसमें देखा कि उनके दो बुनियादी सिद्धान्त हैं, उनमें एक है—राष्ट्रीयता।

यों तो अपनी कांग्रेस राष्ट्रीय है। नाम ही है 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस'। पर कांग्रेस के साथ के 'राष्ट्रीय' शब्द से मन में कुछ सवाल नहीं उठता। माना वह शब्द सही है और अपनी जगह है। पर ऊपर के उदाहरणों में काम में आने वाली राष्ट्रीयता पर मन में सवाल उठता है। जो राष्ट्र और राष्ट्रीयता पूजी जाती है, विवाह में मध्यस्थ होती है, कन्या शिक्षा में बुनियादी सिद्धान्त का काम देती है, उस राष्ट्रीयता पर मन कुछ ठहरता है।

फिर सामने विलायत में लड़ाई चली है। लेकिन शायद जो यहां जिस बिना पर पक्ष होता और लिया जाता है, उसको भी हम शायद राष्ट्रीयता कह सकते हैं। जर्मन लोग जर्मनी के नाम पर और इंगलैंड के लोग इंगलिस्तान के नाम पर अपनी रक्षा के डर से या अपनी बढ़ती की आकांक्षा से एक दूसरे की जान के प्यासे हो रहे हैं। उनका आखिरी धर्म क्या है?—राष्ट्रीयता।

इसमे राष्ट्रीयता "नाग" पर कुछ भटकना वैसा नहीं है। चाहिए कि देखें उस शब्द की उपादेयता पर कुछ देखें हैं या नहीं ? देखें हैं तो वह क्या है ? या कि यह शब्द ऐसा आखिरी है कि उसके आगे ख्याल को जाना ही नहीं चाहिए ?

हाल की ही तो बात है कि अपने हिन्दुस्तान में काग्रेस और गाधी दो अलग रास्ते जाते दिखलाई दिये। अब ऐसा नहीं है। सन १९ से शायद कभी वह बात नहीं थी। पर कुछ देर के लिए वह अन्तर राह चलते के लिए भी साफ हो गया। हिन्दुस्तान के मामूली आत्मा के लिए तो यह बात ऐसी अनहोनी हुई कि वह उस पर भौचक रह गया और ठीक तरह कुछ समझ नहीं सका। लेकिन सूझत के लिए बात साफ हो गई। कारण काग्रेस सिर से पाव तक राष्ट्रीय थी। गाधी पर वह पाबन्दी नहीं थी।

गाधी इधर बीस वर्ष से अधिक से हिन्दुस्तान की समूची राष्ट्रनीति को गति और दिशा दे रहे हैं। अर्थात राष्ट्र उनके कारण कुछ सच्चे ही अर्थों में राष्ट्रीय हुआ है। फिर भी गाधी हर अवसर पर कह देते हैं कि राष्ट्रीय कहां मैं तो धार्मिक हूं। धर्म की निगाह से सब बातो को देखता और उन पर फैसला करता हूं।

इसलिए खुद राष्ट्र को और उसकी राजनीति को चलाने और अपने निजी और समाजी जीवन को सुधारने की दृष्टि से हम मुड़कर राष्ट्रीयता का लेखा लेने की जरूरत है। देखना चाहिए कि कितनी उससे हम मदद मिलती है और कहा पर रोक थाम चाहिए हम कहां पहुचना है और राष्ट्रीयता बे-लगाम हमको कहा ले जा सकता है यानी आदमी राष्ट्रीयता को ने तो किन मर्यादाओ के साथ य सारी बातें सोचने की हैं।

कहा जाता है कि मानवता एक है। आदि दिन से यह कहा जाता है। विरोध इसका नहीं सुना गया। सब मनुष्य भाई भाई हैं और मानव जाति एक परिवार है—सब जातियों के साहित्य और धर्म में यह पुकार मिल जायगी।

इसलिए यह बात झूठ तो नहीं है। पर सचमुच क्या हमारे काम देखते हुए भी वह सच है ?

धरती पर निगाह डालते हैं तो वह बटा-बटा है। राष्ट्र बट है प्रान्त बट है। फिर अनेक जातियां अनेक वर्ण अनेक धर्म-सम्प्रदाय और गिरोह हैं। उनमें आपस में अनबन है और खून खराबी होती है। अर्थात् धरती के व्यवहार में मनुष्य जाति एक नहीं है।

फिर भी मानवता तो एक है। और स्पष्ट है कि वह बाहर से नहीं बल्कि भीतर से यानी ईश्वर (आत्मा) में एक है।

और धरती ही सच नहीं, बल्कि आसमान भी सच है। शायद आसमान ज्यादा सच है। क्योंकि आत्मा का बिगाड़ वहां नहीं है और ईश्वर की अछूती कुदरत वहां है।

इसलिए धरती पर की स्वार्थ की अनेकता से परमार्थ की एकता ज्यादा सच है। क्योंकि वही अच्छा सच है।

लेकिन एकदम उस सच्ची सचाई से अपना काम कहां चलता है? वह काम धरती का जो है। तो भी यह निश्चित है और निश्चित रहे कि मानवता का कुछ ध्येय है तो वह इस पारमार्थिक एकता को पाना है। उससे हटकर कोई गति प्रगति नहीं और कोई कर्म इष्ट नहीं है।

आदर्श व्यवहार से भिन्न है। इसीलिए व्यवहार के बारे में उलझन और पेंच हों तब आदर्श को याद कर लेना इष्ट है क्योंकि माप वही है। व्यवहार को परखने की कसौटी खुद व्यवहार ही कैसे हो सकता है? और आदर्श से यदि हम कुछ काम लें तो वह यही काम है कि व्यवहार में दिशा भूल होने पर आदर्श हमें राह बताए।

मानव जाति का इतिहास वहां से चलता है, जहां हर एक अकेला और हर एक अपने में मगन ही था। समाज नहीं था, व्यक्ति ही था। अपनी गरज उसके लिए सब था, हर दूसरा उसका दुश्मन था। आपस में नाता रिश्ता की कल्पना न थी और भोग और भूख का ही उनमें सम्बन्ध था। प्यार जगा, मिल लिए। भूख लगी, खा डाला। अर्थात् व्यक्ति अपने में आज़ाद था और हर दूसरे से अलग था। परिवार भी न बना था, बनने को था।

वहां से हम चले। परिवार बना। जनपद बने, नगर बना। आपसीपन पैदा हुआ। सामाजिकता उपजी। जातियां बन चलीं। राज अस्तित्व में आये। इस तरह आदमी ने दृश्यमान नाता जोड़ना शुरू किया। उसका अपनापन फैला। उसी तरह वर्तमान को लांघ कर अतीत और भविष्य से भी उसने अपना रिश्ता देखा। काल में भी उसने अपने को फैलाया और संस्कृति ने जड़ पकड़ी। चलते चलते मनुष्य जाति आज इस भूमिका पर है कि उसका व्यापक व्यवहार राष्ट्र को इकाई मानकर सम्भव बनता है। आज की जीवित राजनीति का घटक (unit) राष्ट्र राज्य (Nation State) है।

मैं इसको विकास मानता हूं, ह्रास नहीं। आदिम मनुष्य का कायापन आज के मनुष्य में नहीं है, वह ह्रास कोई नहीं है, वह चपलता नहीं है। यह उचित ही है। घर बसता है और जगत में रहता है। इसमें उन वर्ग का मिलन भी उसमें है। पर आदमी अगर ढोर नहीं है, तो इस पर अफसोस करने की जगह

नहीं है।

आज के दिन राष्ट्र की भाषा में हम सोचते हैं। जनता का मन राष्ट्र को अपना कहकर अपनाने में आज समर्थ है। यह छोटी बात नहीं है।

जैन तीर्थङ्कर महावीर ने अहिंसा धर्म पर जोर दिया। पर वह धर्म व्यक्ति के दायरे में देखा गया और पाला गया। आज अहिंसा को राष्ट्र की परिभाषा में सोचा जाता है। सोचा नहीं, अमल में लाने का आग्रह रखा जाता है। यानी *राष्ट्र और राष्ट्रीयता की धारणा मनुष्य जाति के विकास का लक्षण है।*

पर धारणा का कब लिया गया है और विकास कब खतम हुआ है? इसलिए राष्ट्र हमारे राजनीति-व्यवहार की धरती की इकाई बनने में अधिक उसके उदय की परिधि भी बनता है तो वह मनुष्य जाति के विकास में खतरा है। हम आज राष्ट्रीयता पर हां पर वहां रुक नहीं सकते हैं। आगे भी चलना है। यदि राष्ट्रीयता आगे ले जाने में उपयोगी नहीं होती है तो वह बाधा है। ऐसी अवस्था में वह जकड़ है जिसको तोड़े बिना गति सम्भव नहीं। वही राष्ट्रीयता प्रतिक्रिया का अस्त्र है।

मनुष्यता बढ़ती आई है और बढ़ती चलेगी। सर्वेश्वर तक उसे उठने ही चलना है। इस यात्रा में हर *कदम की सार्थकता* हां यह है कि *वह अगले कदम को प्रेरणा दे। जिस जमीन पर अब हैं अगर चलना है तो वह जमीन छूटेगी।* एक कदम तभी सच है जब कि आगे दूसरा भी हो। जिसके आगे दूसरा नहीं वह कदम मौत का हो जाता है। इस तरह कोई कदम और कोई मंजिल अपने आप में सच नहीं। राष्ट्रीयता भी अपने आप में सच मान ली जायगी, तो वह झूठ पड़ जायगी। क्योंकि तब वह मानवता को बढ़ाव में नहीं रोकने में काम आने लगेगी। तब वह अगति का साधन होगी। किंतु मानवता को तो सब के ऐक्य तक उठे बिना रुक रहना नहीं है इससे उसकी राह में अटक बनने वाली राष्ट्रीयता को गिरना होगा।

इतिहास यही है। वीर आये उन्होंने जीवन की विजय साधी। तब वह काल के मुंह पर खेले। पर काम हुआ कि वह काल के गाल में आ रहे। इतिहास उनको समा कर आगे बढ़ गया। राष्ट्रीयता भी हमारे विकास की विजय है। पर पराजय बने इससे पहले ही उसे मानवता में समा जाना चाहिए। अन्यथा गाथा का विशेष सिर लेकर राष्ट्रीयता कलंकिनी होगी।

यानी राष्ट्रीयता अपनी जगह सामयिक रूप में सही है। पर जो सामयिक नहीं ऐसे विचार और भावना पर भी वह यदि आरोप की भांति लादी जाती है तब वह सही नहीं रह जाती क्योंकि अपने क्षेत्र और काल की मर्यादा का

उल्लंघन करती है। अहंकार शुभ नहीं और उग्र राष्ट्रीयता उसी का लक्षण है।

पर अहंकार हवा में थोड़े उड़ जाता है। साधना में उसे धीमे धीमे हलका और व्यापक बनाना होता है। यही उससे छुटकारे की पद्धति है। राष्ट्र को लेकर हम अपने स्वार्थ और अहंकार के विसर्जन की प्रेरणा पायें तब तक वह इष्ट है। पर उसका मतलब व्यक्तिगत अहंकार की भांति हममें राष्ट्रीय अहंकार का भर जाना हो तो उसको इष्ट नहीं कहा जा सकता और जब जब हम राष्ट्रीयता के उपयोग को सामयिक से अधिक और अलग देखते हैं तो कुछ उसी प्रकार के अहंभाव के विकार में फंसे हो सकते हैं। या तो कोई वस्तु सिरजनहार की याद बनकर पूज्य है पर उपासक की उपासना उसमें अटक रहे तो वह पूजा की नहीं विडम्बना की वस्तु हो जायगी। इसी तरह राष्ट्रीयता यदि सब की एकता का नमूना बनकर उसी प्रेम की भावना जगाने में मदद देती है तो ठीक पर अगर कहीं वह दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रवादियों की तरफ बैर या विरोध को शह देती है तो कहना होगा कि वह अपनी हद से बाहर पांव रखता है और यह उसकी उद्दण्डता है।

हमने देखा कि इतने विस्तार में हम बन्द ही पाते हैं। बढ़कर राष्ट्रीयता तक आ पहुंचे हैं। यहां से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर भी कदम रखना है। जब तक हमारा हित कुल दुनिया के साथ मिला हुआ हमें नहीं लग आता तब तक हमारी मुक्ति कहां? और तब तक बन्धन ही चलता है।

लेकिन बढ़ना सपनों से नहीं प्रयत्नों से है। सपने के पर लगा कर तो आंख मूंद छन में हम आसमान छू लेंगे। लेकिन धरती से आसमान की ओर उड़ने के लिए हवाई जहाज बनाने में मानवता को इसकी बीसवीं में। तब धीरज रखना और मेहनत करनी पड़ी।

इसी भांति कविता पर चलकर राष्ट्रीयता में आगे बढ़ना कम न होगा। कविता में कल्पना तो उड़ती पर पैर टिके रहते हैं। सभी कवि को समाज अपनी बागडोर नहीं सौंपता रहा है। पर कवि मनुष्यता के भाग्य की चौकसी रखता है। रात अंधेरी है और दुनिया नींद में या नशे में है तब भी कवि मनुष्यता की निधि यानी प्रेम के आदर्श पर पहरा दिये जागता रहा है।

कवि का काम जरूरी है। पर उससे इतर काम भी है जो कम जरूरी नहीं है। कवि से कुछ उलटा एक व्यक्ति हुआ—गांधी। जनता और गांधी की अनहोनी और उनका परस्पर विशेष असर मन में नया घर कर गया। राष्ट्रीयता को वह नहीं समझ पाता जो इस संगठित रेखा के उधर के वासी

को पराया बनाती है। इस विधान की कृत्रिमता पर वह आंख नहीं मूंद सका। उसे आस-पास के लोगों में फर्क नहीं नजर आई कोई बुनियादी फर्क नहीं समझ आया। इसमें राष्ट्र के नाम पर की गलतफहमी से वह अपने विचार में समझौता नहीं कर सका।

पर मार्क्स उतना लेखक या कवि नहीं था। यानी अंतिम अभेद की निष्ठा उसे प्राप्त न थी। इससे वह सत्य का नहीं समाज का दार्शनिक बना। उस समाज में उसे विषमता दीखी। उसका मस्तिष्क विषमता के साथ जूझने में लग गया। वह ऊपर की सब उलझनों के भीतर पहुंच कर विग्रह की असल गांठ को पकड़ना चाहता था। यानी उस मौलिक विरोध को जो दूसरे सब विरोधों को थामता और उपजाता है। कोशिश के बाद उसे एक चीज नजर आई—धन यानी पूंजी। उसने वहीं अपना सब विश्लेषण गाड़ दिया और तर्क की राह चलते चलते उसने समाज के सारे विरोधों को एक अन्तिम मूल विरोध के रूप में जा ढूंढा। वह था—पूंजी और श्रम का विरोध।

इस अपनी खोज पर पहुंच कर उसने पाया कि मनुष्यता खंडित है। भूगोल से (Vertically) नहीं बल्कि श्रेणियों में (Horizontally) वह बटी हुई है। असल विरोध इन श्रेणियों का आपसी विरोध है। उस विरोध को नष्ट करना होगा और उसके लिए जो ऊपर की श्रेणी अपने स्वार्थ साधन में उस विरोध को कायम रखती है उसी को नष्ट कर देना होगा। पर कैसे? वह ऐसे कि पहले उस विरोध को ही तीव्र करना होगा। वर्ग विग्रह की भावना को चेताना होगा। उस चैतन्य से नीचे की श्रेणी को जहां सच्ची जनता और मानवता का निवास है बल मिलेगा। इतना बल मिलेगा कि ऊपर से उसको दबाने वाली तह उसे असह्य हो जायगी। तब वह तह बिखर रहेगी नष्ट भ्रष्ट कर दी जायगी और इस तरह समाज श्रेणियों से छुटकारा पाकर परिवार के मानिन्द एक हो जायगा। तब व्यक्ति समाज का और समाज व्यक्ति के लिए होगा और परस्पर का हित विरोध और स्वार्थ संघर्ष नहीं रहेगा। मार्क्स की इस तर्क-पद्धति ने समूचे विकास को विग्रह मूलक परिभाषा में देखा और दिखाया।

राष्ट्रीयता को ज्यों का त्यों न अपनाने वाले लोग तो या सब देश और कालों में हुए पर वे धार्मिक जन थे या साहित्यिक। राजकीय व्यवहार के धरातल पर लोग उसको स्वीकार करके ही चलते थे। राजनीति विचारक शासन तथा के दार्शनिक विचार में चाहे कुछ भी कह राष्ट्र के दायरे और विभाजन को जाने अनजाने में मानते ही थे। मार्क्स ने उसी धरातल पर रहकर पहल-पहल राष्ट्र विधान के अस्वीकार में अपनी आवाज ऊंची की।

मार्क्स से पहिले भी कुछ सद्विचारक राष्ट्र-सत्ता (सरकार) से बिना संघर्ष में आये समाजवादी आदर्श के गठन और प्रयोग में लगे थे। पर उस आदर्श को अमली शक्ल देने की जितनी उनकी कोशिश थी उतनी उसको शास्त्रीय वैज्ञानिक और व्यापक रूप देने की नहीं थी। वे लोग सामाजिकता को यथा सम्भव अपने व्यवहार में उतारने की चेष्टा में रहे। उसे एक वाद एवं जीवन शास्त्र का रूप देने में नहीं लगे। मार्क्स ने यही किया। स्वयं मार्क्स सामाजिक नहीं बने, श्रम-कुशल और मिलनसार नहीं बने, सस्ता नहीं बने, नेता नहीं बने। एकान्त, एकाग्र और स्वयं असामाजिक रहकर भी समाजवादी शास्त्र और स्वप्न का ढांचा पूरा करने में वह लगे रहे।

वह समय मशीन का यानी सामूहिक उद्योग का था। अपने अलग अलग श्रम से काम चलने की सम्भावना लोगों के मन से नष्ट हो चुकी थी। कलों के बल पर भीमोद्योग चल रहे थे और आबादी नगरों में केन्द्रित होती जाती थी। उस घटनात्मक यथार्थ के आगे व्यक्तिगत स्वावलम्बन में विश्वास रखने वाला आदर्श टिक नहीं सकता था। यानी केन्द्रित उद्योगों के कारण समाजवाद नहीं तो एक प्रकार के समूहवाद की जरूरत तो स्थिति में भरी ही थी। मार्क्स ने उसे सान दे दी। उस भाव को भाषा दे दी। मार्क्स के जबर्दस्त और तीव्र तार्किक प्रतिपादन ने उस विषय के चारों ओर विवाद और विवेचन का वातावरण पैदा कर दिया। इस विमर्श से वस्तु को धार मिली।

यह समाजवाद राष्ट्रीयता को पहली सशक्त चुनौती था। पर राष्ट्रीयता का भेद या कृत्रिम हो लेकिन उसके भीतर राष्ट्र की एकता का तथ्य भी समाया है। वह थोड़े बहुत अंश में एकता के प्राकृतिक विकास के अनुरूप है। मानो भौगोलिक विभाजन प्रकृति की ओर से ही क्षम्य है। जैसे वह परिस्थितिगत लाचारी है, एक मंजिल एवं रियायत है।

इसकी तुलना में मार्क्स का श्रेणीगत विभाजन उतना अनिवार्य और साफ़ नहीं है। उसको मानो हमारे समाज के अन्दर फैली हुई वर्ग दुर्भावना से ही बल मिलता है।

पर यह जो हो, मार्क्स के इस वर्ग विभाजन की नई भाषा में लोगों ने हठात् मानवता की एकता के आदर्श को भी ताजा और समीप बनाकर देखा। रूस देश की हालत उस विचार धारा के प्रचार के बिलकुल अनुरूप पड़ी। वहां जनता पर शासन का जुआ बहुत भारी था। मनोभावना की जमीन वहां तैयार थी। उस देश में मार्क्स के समाजवाद को जड़ पकड़ने और फलने को आसमान का अवसर मिला।

जहां तक वर्ग-चेतना की धार को तेज करके शक्ति उपजाने और सत्ता के तख्त को पलट देने और उस पर हावी हो जाने का सम्बन्ध था मार्क्स का नक्शा ठीक उतरता चला गया। वहां उसके ठीक होने का प्रश्न भी नहीं था। क्योंकि मानवता की एकता का सपना सनातन था और त्रस्त जनता की दबी भावना उभरने को तयार ही थी। समाजवाद ने पुराने शासकों की जगह नये आने वाले शासकों को पार्टी म सगठित होने के लिए नाम का और आंदोलन प्रचार का सुभीता दे दिया।

परिणाम हुआ कि क्रान्ति हो गई। यानी शासक बदल गये। पर जिस राष्ट्रीयता नाम के सांचे मे मनुष्य-जाति की राजनीति और राजकाज ढलकर चलाए जाते थे और जिस साचे से उद्धार पाने की आशा समाजवाद के रोमांटिक साहित्य से लोगो म पनप चली थी उस सांचे का क्या हुआ ?

रूस की क्रान्ति रूस के इतिहास के लिए एक बड़ी घटना है। उस दायरे म वह एक बड़ा सबक है और गहरा इशारा है। पर उस दायरे के बाहर मनुष्य जाति के इतिहास मे क्या वह किसी नये मानसिक मूल्य (Category of consciousness) का दान है ? मेरे विचार म नहीं। क्रान्ति से समाजवाद बीते इतिहास और शास्त्रीय दिलचस्पी का विषय रह गया जीवन और वर्तमान राजनीति से वह नि शेष होगया।

यूरोप के और देशों के बराबर रूस को लाने का काम क्रान्ति ने किया यूरोप को बदलने या बढाने का नही। क्या राष्ट्रीयता नाम के जिस सांचे (Category of Political consciousness) के द्वारा राजनीति का व्यवहार चलता था उसमें कुछ अन्तर आया ? सुधार हुआ ? विस्तार हुआ ? शायद नहीं।

मार्क्स के समाजवाद पर राष्ट्रीयता आयद नही हो सकती, लेनिन का समाजवाद सीमित रूसी राष्ट्रीयता स समझौता निबाह सका और स्टालिन का समाजवाद रूस की वर्गहिक नीति म समाजवाद रहा यह उसके दुश्मन भी नहीं कह सकेंगे। हा ट्राटस्की के समाजवाद ने भौगोलिक परिधियो को नही स्वीकार करना चाहा। परिणाम हुआ कि जीवित राजनीति म ट्राटस्की नगण्य रहा जस कि मार्क्स नगण्य था। लेनिन गणनीय रहा क्याकि राष्ट्रीयता को उसने निभाव दिया। और स्टालिन एक समूचे देश की शक्ति के साथ सशक्त है क्योंकि भाषा चाहे उस समाजवाद की रखनी पड़ी हो (और इतने प्रचार क बाद दूसरी भाषा सहसा रूस को लग भी नही सकती थी) पर भाव म वह यूरोप के अन्य देशों के अधिनायकों की तरह समाजवाद क आदश क दबाव स सवथा मुक्त है।

समाजवाद रूस में भी यदि व्यावहारिक राजनीति के काम का है तो राष्ट्रीय दायरे में और राष्ट्रीय विशेषण के साथ ही काम का है। अर्थात् सोशलिज्म जब नेशनल है तभी अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर उसकी गिनती है। अन्यथा तो वह निजी वस्तु भले रहे मानव जाति के राजनैतिक व्यापार में चलन की वस्तु वह नहीं है।

तभी तो अत्याधुनिक राजनैतिक धर्म का नाम नेशनल सोशलिज्म है। जाने-अनजाने रूस में भी वही है और इंग्लैंड में भी यही है।

राष्ट्रीयता (Nationalism) का मान पुराना पड़ रहा था। उसमें से साम्राज्य बने और साम्राज्यशाही मनोवृत्ति को जन्म मिला। साफ हो चला था कि यह मनोवृत्ति मानव मूल्यों के विकास में बाधा है। सोशलिज्म ने आकर मानवता के मर्म में गहरे में जो स्वप्न सोया रहता आया है यानी विश्वबंधुत्व उसे उकसाया। उधर यथार्थ में उसने राष्ट्रवाद के साथ समझौता कर लिया। इस तरह उसने राष्ट्रवाद को नई जान दे दी। सोशलिस्टिक बनकर मानो नेशनलिज्म हमें स्वर्ग की ओर ले जा सकता है ऐसे भुलावे का सामान कर दिया। हिटलर क्या न आज मान लें कि वह मनुष्यता का विकास-साधन कर रहा है क्योंकि वह जर्मन राष्ट्र को राष्ट्रीय चेतना के आधार पर दृढ़ बलवान और अविजेय बनाकर दिखला सका है? यदि राष्ट्रीयता लक्षण हो तो हिटलर को विश्व की प्रगति में आज सबसे अगला कदम गिनना होगा।

पर नेशनल सोशलिज्म नाम के मकर पदार्थ में दो अनमेल तत्वों का मेल है। इससे वह बारूद है जो फट पड़ने के लिए है। यूरोप के राष्ट्र उस बारूद को अपनी काया में भर बैठे हैं और विस्फोट समक्ष है।

इस प्रकार राष्ट्रीयता अपने आप सही मानो जाकर जब किसी शब्द के सहारे साम्प्रदायिक भावावेश के मेल से तीव्र और पुष्ट की जाती है तो इससे राष्ट्र की शक्ति बढ़ती दीखती हो सही पर उसका खतरा भी बढ़ता है। यानी उससे मद और आतंक बढ़ता है। आतंक बढ़ने में उसमें और आस-पास के देशों में शंका और शस्त्रास्त्र की बढ़वारी होती है। राष्ट्र का धन बढ़ता मालूम होता है पर उसके लिए मंडियाँ खोजनी पड़ती हैं। उन मंडियों की रक्षा के लिए नारेबन्दी बढ़ानी पड़ती है। इसके लिए और हुकूमत का डाह ठान रखने के लिए धन को बहुत जान का जमघट और इकट्ठा होती है। उसके लिए उस राष्ट्रीय सभा का दूर पास शोषण का नलियाँ जोड़नी पड़ती हैं। उन नलियों द्वारा धन मानो उन देशवासियों का रक्त खींचा जाता है। यहाँ फिर रक्त और विनाश के रूप में अपने सागर में प्रविष्ट किया जाता है। उस विनाश रक्षा के

लिए फिर जरूरी होता है कि चौसट चौबसी पूरी हो। तब ही जहाज हो और क्या न हो! इस तरह एक रामसी चक्कर चल पड़ता है।

जहाँ तक साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता में हमारा उद्धार है वहाँ तक राष्ट्रीयता हितकारी है। जहाँ वह स्वयम् एक अहंकार का रूप होती है। वहाँ वह विष की भांति त्याज्य है। राष्ट्र ठीक प्रान्त ठीक। ये तो सीधी बातें हैं। मैं कहता हूँ कि अपना कुटुम्ब अपना निजत्व सभी ठीक हैं। पर कुटुम्ब के अस्तित्व के लिए जरूरी है कि सदस्यों के सद्भाव में परस्पर हित विरोध न हो और घर के लिए जरूरी है कि उसके द्वार पर स्वागत और हृदय में अतिथि के लिए प्रेम हो। वह घर जो अपने से बाहर सहानुभूति का दान नहीं करता सूख जाता है। वह तब नगर के लिए रोग का कारण बनता है। यही बात बड़ी संस्थाओं और समुदायों के बारे में भी है। साम्प्रदायिकता दो सम्प्रदायों की स्पर्धा और उनके तनाव पर मजबूत होती है इसीसे वह शुभ नहीं है। ऐसे ही जो दो राष्ट्रों के वैमनस्य में पुष्ट होना और उसको पुष्ट करती है वह कैसे श्रेयस्कर समझी जा सकती है?

अर्थात् सामयिक भाव में जो भी कर्तव्य जो भी धर्म उपादेय हो सब पर एक परम धर्म की मर्यादा लागू होती है। वह धर्म सामयिक नहीं शाश्वत है। उसका अनुपात वस्तु और स्थिति के साथ भिन्न हो सकता है। पर स्वयम् में वह परम धर्म है और अनिवार्य है। उसका नाम है अहिंसा। उसका मतलब है निर्वैर और उसकी आत्मा है प्रेम।

अहिंसा से यदि राष्ट्रीयता जौ भर हट तो वह उतने अंश में सदोष है।

सदोष तो सब मानव मात्र है। निर्दोष बस ईश्वर है जो आदर्श का दूसरा नाम है। निर्दोषता की स्थिति आदर्श से बाहर और कहीं नहीं है। लेकिन सदोषता को हम मानते चलें देखते चलें निर्दोषता की ओर बढ़ने का यही मार्ग है।

राष्ट्रीयता उपयोगी है इसी में है कि उसमें अनुपयोगी होने की क्षमता है। इससे उसकी मर्यादा जान लेनी चाहिए और मर्यादा के उल्लंघन से सदा उस राष्ट्रीयता को बचाना चाहिए।

राष्ट्र-सेवा की भावना यदि स्वप्न वृत्तिक (Romantic) नहीं तो वह भाव-सेवा के रूप में ही अपनी कृतार्थता खोजेगा। लोक-सेवा पड़ोसी-सेवा से आरम्भ होता है। इस प्रकार की सच्ची राष्ट्रीयता राजनैतिक नहीं होती 'राज' को अपने से दूर करके वह केवल नैतिक होता है।

नैतिक भाव में की गई जन-सेवा अपने व्यापक प्रभाव के कारण संघर्ष उपजा उठे और अनायास राष्ट्रीय अथवा राजनैतिक दीख चले वह बात अलग

है। पर अपनी ओर से वैसा विशेषण उसे देकर चलना अनावश्यक है।

अर्थात् दूसरे लोग राष्ट्रीय कह तो कह लें स्वयम् सेना वह देकर किसी नीति अथवा वस्तु का अपनाने की तबियत सही नहीं है। जो अपनाने योग्य है वह नैतिक कारणों से। उस दृष्टि से जो इष्ट है वही अभीष्ट हो सकता है। राजनीतिक धरातल पर उस इष्ट वस्तु की इष्टता वर्तमान में सहज ही वह (राजनीतिक) भाषा भी सुलभ हो सकती है। अपनी ओर से नैतिक को छोड़ कर राजनैतिक भाषा पर आना अनावश्यक होना चाहिए।

नीति से अलग होकर राजनीति भ्रम है और मानवता से च्युत होकर राष्ट्रीयता भी बन्धन ही है।

● ● ●

मई ३५

लिए फिर जरूरी होता है कि चौकूट चौकसी पूरी हो। ठैक हो जहाज हों और भय न हो। इस तरह एक राक्षसी चक्कर चल पड़ता है।

जहां तक साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता से हमारा उद्धार करे वहां तक राष्ट्रीयता हितकारी है। जहां वह स्वयम् एक अहंकार का रूप होती है। वहां वह विष की भांति त्याज्य है। राष्ट्र ठीक प्रान्त ठीक। ये तो भी कभी बातें हैं। मैं कहता हूं कि अपना कुटुम्ब अपना निजत्व सभी ठीक हैं। पर कुटुम्ब के अस्तित्व के लिए जरूरी है कि सदस्यों के स्वस्थ भाव में परस्पर हित विरोध न हो और घर के लिए जरूरी है कि उसके द्वार पर स्वागत और हृदय में अतिथि के लिए प्रेम हो। वह घर जो अपने से बाहर सहानुभूति का दान नहीं करता सूख जाता है। वह तब नगर के लिए रोग का कारण बनता है। यही बात बड़ी संस्थाओं और समुदायों के बारे में भी है। साम्प्रदायिकता दो सम्प्रदायों की स्पर्धा और उनके तनाव पर मजबूत होती है इससे वह शुभ नहीं है। ऐसे ही जो दो राष्ट्रों के वैमनस्य से पुष्ट होती और उसको पुष्ट करती है वह कैसे श्रेयस्कर समझी जा सकती है?

अर्थात् सामयिक भाव में जो भी कर्तव्य जो भी धर्म उपादेय हो सब पर एक परम धर्म की मर्यादा लागू होती है। वह धर्म सामयिक नहीं शाश्वत है। उसका अनुपात वस्तु और स्थिति के साथ भिन्न हो सकता है। पर स्वयम् में वह परम धर्म है और अनिवार्य है। उसका नाम है अहिंसा। उसका मतलब है निर्वैर और उसकी आत्मा है प्रेम।

अहिंसा से भी राष्ट्रीयता जो भर दे तो वह उसी अंश में सदोष है।

सदोष तो भी मानव भी है। निर्दोष बस ईश्वर है जो आदर्श का दूसरा नाम है। निर्दोषता की स्थिति मानव से बाहर और कहीं नहीं है। लेकिन सदोषता को हम मानते चलें देखते चलें निर्दोषता की ओर बढ़ने का यही मार्ग है।

राष्ट्रीयता उपयोगी है इसी में है कि उसमें अनुपयोगी होने की क्षमता है। इससे उसकी मर्यादा जान लेनी चाहिए और मर्यादा के उल्लंघन से सदा उस राष्ट्रीयता को बचाना चाहिए।

राष्ट्र-सेवा की भावना यदि लाभ-वृत्तिक (Romantic) नहीं तो वह लोक-सेवा के रूप में ही अपनी कृतार्थता खोजेगी। लोक-सेवा पड़ोसी-सेवा से आरम्भ होती है। इस प्रकार की सच्ची राष्ट्रीयता राजनैतिक नहीं होगी राज' को अपने से दूर करके वह केवल नैतिक होती है।

नैतिक भाव से की गई जन-सेवा अपने व्यापक प्रभाव के कारण संघर्ष उपजा उठे और अनायास राष्ट्रीय अथवा राजनैतिक दीख चले, वह बात अलग

है। पर अपनी ओर से वैसा विशेषण उसे देकर चलना अनावश्यक है।

अर्थात् दूसरे लोग राष्ट्रीय कहें तो कह लें। स्वयम् सदा यह देखकर किसी नीति अथवा वस्तु को अपनाने की तबियत सही नहीं है। जो अपनाने योग्य है, वह नैतिक कारणों से। उस दृष्टि से जो इष्ट है वही अभीष्ट हो सकता है। राजनीतिक धरातल पर उस इष्ट वस्तु की इष्टता बतलाने में सहज ही वह (राजनीतिक) भाषा भी सुलभ हो सकती है। अपनी ओर से नैतिक को छोड़कर राजनैतिक भाषा पर आना अनावश्यक होना चाहिए।

नीति से अलग होकर राजनीति भ्रम है और मानवता से च्युत होकर राष्ट्रीयता भी बंधन ही है।

■ ■ ■

मई '३५

राम की युद्ध-नीति

इस महादेश की संस्कृति के दो ध्रुव हैं राम और कृष्ण। रामायण और महाभारत उन्हीं के चरित कहिए। इन दो ग्रंथों के स्तम्भों पर चालीस कोटि मानवों की शताब्दियों का भाग्य टिका है।

माना जाता है कि यह संस्कृति विरागमय है। जीवन दृष्टि उसकी निवृत्तिमूलक है। ब्रह्म सत्य और जगत उसे मिथ्या है। महापुरुष उसे वह है जो संसार से विमुख एकान्त में आत्मा की जय साधता है। संसार उसे प्रपंच और मुक्ति ध्येय है। हर कीमत पर वह शान्ति चाहता है। अहिंसा उसे परमधर्म है। एक शब्द में वह संस्कृति आधिभौतिक के विरोध में आध्यात्मिक है।

और यह गलत भी नहीं है। भारत की विशेषता उसका इहलोक पर परलोक को प्रमुखता देना ही है।

पर उसी संस्कृति ने राम और कृष्ण को भगवान माना है और ये दोनों ही दो महायुद्धों के नायक हैं।

इस ऊपरी विरोध के भीतर जाकर उसके अर्थ को देखना होगा

यह सच है कि भारत ने बड़े योद्धा को प्रतिष्ठा नहीं दी। चक्रवर्ती को भुला दिया और संत की वाणी को उसने याद रखा। महाविकट युद्ध एक दुस्वप्न की विभीषिका से अधिक उसके लिए कुछ नहीं रहा। वह होकर बीत गया और भारत के जीवन पर कोई विकृति नहीं छोड़ गया। पर यह उससे भी अधिक सच है कि उसके मर्यादापुरुष राम हुए और कृष्ण हुए जो वन के महात्मा नहीं राज्यों के निर्माता थे और जो शान्ति में और समाधान में नहीं वरन् युद्ध में जिये। कारण भौतिक के घमसान में उन्होंने अध्यात्म के समत्व की और जगत्कर्म की विपुलता में ब्रह्मत्व की साधना सिद्ध की।

राम राजा थे पर भगवान हैं। यानी राजा के रूप में वह व्यतीत हुए, भगवत रूप में ही वह शाश्वत होकर वर्तमान हैं।

देखना चाहिए कि क्या उनके युद्ध में भी भागवत भाव देखा जा सकता है।

यह युद्ध भौतिक था, लेकिन वह धर्मयुद्ध होकर ही भगवान राम का बना। अपने राज-कर्म और व्यक्ति-कर्म में वह समष्टि चेतना से परिचालित थे—हिन्दू विश्वास ऐसा ही है। उनके निकट श्रीराम के कर्म पर समय की और स्थिति की इयत्ता नहीं है। मानों उनका युद्ध रावण नामक किसी व्यक्ति से न था वह तो पुंजीभूत असत् के प्रतीक रावण से था। भारत का समाज शताब्दियों के भीतर से इसी आस्था में रामचरित के चहुँ ओर इतना कुछ जुटाता रहा है कि अमुक समय और देश में हुए इतिहासी राम काल-देश की सीमा से मुक्त होकर त्रिकाल त्रिलोक के पुरुषोत्तम राम हो गये हैं। उनका चरित्र ऐतिहासिक बोध का नहीं जिज्ञासु निकट आत्म-शोध का ही साधन बन उठा है। माना कभी कहीं हुए राजा, वह इतने नहीं जितने कि घट घटवासी राम हैं।

यह कैसे हुआ?

सामान्यतः आत्म-क्षेत्र और जगत्-क्षेत्र दो हैं। आत्म-जेता यम-नियम और दम-संयम के अस्त्रों से लड़ते हैं। वे धन मान और बन्धु-बान्धव छोड़ अकेले बनते हैं। जगत-योद्धा तीर तलवार और दल-बल से लड़ते हैं और सत्ता प्रभुता का विस्तार चाहते हैं। एक अहिंसा साधते दूसरे स्पर्धा ठानते हैं।

दोनों की दो राहें हैं और उलटी हैं।

अब नहीं कहा जा सकता कि लंका में सह नहीं कहा। वहां दानव-कुल में विभीषण के सिवा कौन दूसरा बच पाया? ऐसे युद्ध के प्रवर्तक होकर राम फिर आर्य-संस्कृति के आराध्य कैसे हुए?

यहां यह कहना कि राम चरित का युद्ध यथार्थ नहीं सिर्फ रूपक है बात से बचना होगा। रूपक तो वहां है ही। व्यक्ति राम में प्रभु राम की प्रतिष्ठा के लिए रूपक तो आना ही था और भगवान राम से लड़ने वाले रावण के लिए दस सिर और बीस भुजाओं वाला अति मानव भी बन उठना अनिवार्य था। जिसमें भगवन युद्ध अनीति के प्रतीक राक्षस से ही हो अन्य किसी से नहीं।

पर हम सब लोकमान्यता और काव्यातिशय के मायाजालों के पार होकर विवेचक को राम की युद्ध-नीति की परख में जाना होगा। जानना होगा कि विजेता होकर भी सिकन्दर और 'सीज़र' को जिस मान में नापा जाता है उससे राम को हम क्यों नहीं नाप पाते? क्यों वह नाप वहां ओछा पड़ जाता है? राजा होकर समर जीतकर अश्वमेध रचाकर ऐश्वर्य से मण्डित होकर भी राम धर्म के साथ और अध्यात्म के प्राण क्यों बने हुए हैं?

इस प्रश्न के उत्तर में उनकी युद्ध-नीति को परखना आवश्यक है। उस युद्ध की पृष्ठभूमि यह है अयोध्या से निर्वासित राजकुमार राम अकिंचन देह पर

छाल पहने पत्नी और भाई के साथ वन-पर्वत भटकते फल-मूल खाते सुदूर दक्षिण पहुंचे हैं। अयोध्या से यह जगह हजारों कोस के अन्तर पर है। सत्ता का या उसकी महिमा का अंश भी यहां उनके साथ नहीं है। वनजीवी हैं और पशुओं से स्नेह पाकर रहते हैं।

ऐसे समय रावण उनकी सीता को ले जाता है। रावण लंका का राजा है। वह अतुल बलशाली है। वह नराधिप है राम नर मात्र। वह सत्ता-सन्नद्ध है राम एकाकी हैं। वह दुर्ग की रक्षा में है राम वनचारी हैं।

इन दो शक्तियों में युद्ध होता है। कारण बनता है सीता का अपहरण। सीता राम की भार्या हैं इसलिए नहीं बल्कि सत्ताधीन बल के मद में उन्हें बन्दी बनाये हुए है इसलिए राम को लड़ना पड़ता है।

इस पृष्ठभूमि पर से उस युद्ध के बारे में हम ये परिणाम निकाल सकते हैं—

१ युद्ध का राजनैतिक हेतु न था।

२ राजनीति की ओर से राम सत्ता-शून्य थे। केवल आत्म धर्म के नाते राम युद्ध में उतरे।

३ साधनहीन होकर सत्ताधीश से युद्ध ठानने में उन्होंने उपकरण को हीन और संकल्प को सब कुछ माना।

४ वेतन भोगी सेना उनके पास न थी।

५ नैतिक शक्ति उनकी शक्ति थी। अपने पक्षवालों को पुरस्कार, पद या प्रतिदान देने के बल पर सैन्य संग्रह उन्होंने नहीं किया।

६ युद्ध का नेतृत्व उन पर लौकिक क्षमता नहीं नैतिक निष्ठा और उच्चता के कारण आया और समूचा युद्ध उनकी ओर से उसी भूमिका पर रहकर चला।

युद्ध में राम की विजय का सम्पूर्ण नहीं तो अधिकांश कारण ऊपर की इस भूमिका में आ जाता है। उससे प्रकट है कि उनकी युद्ध नीति का सबसे प्रधान अंश इस निश्चय में था कि युद्ध का हेतु केवल और शुद्ध नैतिक ही है। वह धनिक की लालसा सत्ता और सम्पत्ति का युद्ध नहीं है।

आधार में इस धर्म-नीति की भूमिका का निश्चय होने के अनन्तर आगे भी उसकी रक्षा हो—राम की युद्ध-नीति की दूसरी चिन्ता यह मालूम होती है। यानी युद्ध का हेतु धार्मिक हो। इतना ही नहीं उसकी प्रक्रिया और प्रतिक्रिया भी अनुरूप हो। यह भी उनकी युद्ध नीति के विचार में गर्भित था। साध्य की शुद्धता परखने के बाद साधना को अनुकूल शुद्ध रखने की ओर वह युद्ध-नीति सावधान थी।

युद्ध लड़ने की इच्छा पर राम में सदा उससे बचने की इच्छा की प्रधानता रही। यानी युद्ध उनकी ओर से शान्ति-चेष्टा का ही अंग था। युद्ध के बीच भी उनकी नीति संधि का मार्ग खोजती रही थी। यानी युद्ध-नीति भीतर में शान्ति नीति से भिन्न न हो पाये इसका ध्यान राम को था। अंगद उनकी ओर से रावण के पास संधि के लिए कुल इतनी बात ले गये थे कि सीता वापस लौटा दी जाय। लंकाधिपति के स्वत्व पर, प्रतिष्ठा पर, यहां तक कि मत मान्यता पर किसी प्रकार के आरोप की बात उनकी युद्ध नीति में नहीं आती थी।

युद्ध में विजय निकट दीखी तो भी आरम्भिक मांग को और उसके मूल हेतु को बढ़ाया नहीं गया। यानी भावना और आकांक्षा या उस युद्ध-नीति में सम्बन्ध में था और विजय में अहंकार दलन की वृत्ति न थी। विजय होने पर लंका के राज्य से अधिपतित्व का या और किसी तरह की प्रभुता का सम्बन्ध राम ने नहीं स्थापित किया। रावण के कुटुम्बी जन विभीषण लंका के राजा हुए। विजेता ने कोई अपना स्वार्थ विजित देश में नहीं पैदा किया। किसी संधि के अनुसार लंका को प्रबंध के प्रति झुकने की आवश्यकता कभी नहीं हुई।

सैन्य संचालन आदि के बारे में राम की युद्ध-नीति आत्यंतिक उदासीनता की थी। यह उदासीनता प्रखर योद्धा राम की जय में कम महत्त्व की वस्तु न थी। वह काम तो सुग्रीव और लक्ष्मण का था। वह पक्ष मानो अपने युद्ध-नीति से उनके निकट असंगत था। निश्चय उस सम्बन्ध में गुप्तभेद या छल प्रयोग के वह विरुद्ध थे। युद्ध सीधा और ईमानदार और जान हथेली पर लेकर हो इस पर उनका आग्रह था। रण में वह स्वयं सैनिक थे, पीछे से आज्ञा देने वाले सेनानी वह नहीं।

यह भी प्रामाणिक है कि शत्रु के प्रति वह सहज सहानुभूति से काम लेते थे। यथाशक्ति हिंसा से वे बचते थे। एक की जान पर वह इतने भावुक हो आते थे कि समूचा युद्ध उन्हें व्यर्थ लगने लगता। यह व्यथा ही रण में उनके मन का मूल थी।

इस प्रकार युद्ध की प्रेरणा और हेतु में शुद्ध अराजनैतिक और धर्म-नैतिक भावना का निश्चय, संहार का सैन्य कला के सम्बन्ध में आत्यन्तिक उदासीनता, शत्रु के प्रति मानवीय सहानुभूति और शान्ति के मार्ग का सतत शोध— ये उनकी युद्ध-नीति के मुख्य अंग कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि वह युद्ध विजेता और धर्मावतार भी हैं। उनके उदाहरण में धार्मिक और राजनीतिक दोनों पक्ष के नेताओं के लिए प्रकाश है।

■ ■ ■

केन्द्र और क्रांति

उस दिन की बात है कि केन्द्र के प्रधान व्यक्ति ने कहा सफलता की यह सीमा इस कारण कि वल हमारे पास विशेष न था। थोड़े लोग थे और धन भी सीमित था।

जिस केन्द्र का जिक्र है वह सामान्य कोटि की संस्था न थी। आध्यात्मिक उसकी भूमिका थी प्राणीमात्र म एकता अनुभव कर माना उसका इष्ट। राह में सेवा-व्रत भी है साधन के रूप म और उसका आशय है समाज का रूपान्तर क्रांति मूल्य-परिवर्तन। इस तरह यह आध्यात्मिक स्तर के सामाजिक क्रान्ति कारियों का केन्द्र था।

स्पष्ट है कि आत्मा है, वहा देह है। व्यक्ति है वहां वस्तु है। इस तरह हर संस्था को धन की आवश्यकता है। उपयोग में वस्तु ही आती है। वास को मकान पोषण को अन्न रक्षण को वस्त्र। इसके अतिरिक्त दूसरी आवश्यकताए भी हैं। यानी धन के बिना चल सकता नहीं। यह बात इतनी प्रत्यक्ष है कि तर्क के लिए वहां अवकाश नहीं। आदमी और उसका परिवार इसीलिए अधिकांश कमाई के चक्कर में रहता है। इसी को अथचक्र और ससार चक्र कहते हैं। सबको अर्थ चाहिए इसी अर्थ की चाह को स्वार्थ कहा जाता है। इन स्वार्थों म फिर नोच-खरोच चलती है और समाज की समस्याए बनती हैं। सफल अमीर बन जाता है विफल गरीब रह जाता है। धीरे धीरे वग पकते और उनके हितो में अन्तर और विग्रह पड़ जाता है। राजा रक हुजूर मजूर ऊच-नीच आदि भेद बन पड़ते हैं। समाज म उन भेदों से तनातनी और बेचैनी रहती है और किसी को सुख का अनुभव नहीं होता। एक के सुख पर दूसरे के दुख की नजर रहती है। और इस तरह दोनो अपनी जगह अनुपयुक्त हो जाते हैं। सुख म अपने प्रति सशय हो पड़ता है। दुख म तृष्णा भटकी रहती है।

यह सब इसीलिए म कि वस्तु की आवश्यकता है। आवश्यकता सवार है मनुष्य सवारी है। ऐसा है तभी न वल व्यक्ति को वस्तु म जान पड़ता है। वस्तु म आते ही मानो वो आंकिक बन जाता है। जितनी अधिक वस्तु उतना अधिक

सामर्थ्य। उस रास्ते से एक हजार रुपये वाले आदमी से लाख रखने वाला पूरा सौ गुना बलशाली हो जाता है। यह दृष्टि व्यक्ति को, परिवारों को, दलों और कबीलों को, राष्ट्रों और राष्ट्र-समूहों को उस राह चलाये जा रही है।

जिधर वे चल रहे हैं। विश्व का सकट उसी कारण बना हुआ है। शान्ति चाहते भी जो दुनिया को हर बीस-पच्चीस साल बाद युद्ध म उतरना पडता है सो इसीलिए न कि आखिर दो बलशालियों मे निबटारा कसे हो ? इस बल की विशेषता ही यह है कि वह मुकाबले म अन्य बल को नही सह सकता। अन्त म उपाय युद्ध ही रह जाता है।

जो लोग बहुत कुछ करना धरना चाहते हैं वह स्वार्थी व्यापार का काम हो या परमार्थी उपकार का पहले अपने पास बडी पूजी इसीलिए चाहते हैं। राजनीतिक दल स्वार्थ के लिये तो बनते नही हैं, समाज और देश के उद्धार के लिये बनते हैं। अच्छे सक्षम विचक्षण लोग अपना निजी काम-काज छोडकर त्याग और बलिदानपूर्वक देश-सेवा और देश-सगठन म लगते हैं तो क्या किसी सकीर्ण भावना से वे ऐसा करते हैं ? नही गरिमामय विचार उनके होते हैं और वसी ही उदात्त भावना। राज्य-सत्ता का वे सुधार करना चाहते हैं। चाहते हैं कि अच्छे लोग सत्ता पर पहुचें और अच्छी नीति से राष्ट्रकार्य का सचालन करें। इसीलिए उनकी कोशिश होती है कि उस सत्ता को दल के हाथों म लें ताकि फिर उस बल से जनता का हित किया जा सके। सत्ता के पास अधिकार केन्द्रित होता है सपत्ति केन्द्रित होती है। वह धन अपनी ओर करना इसीलिए उनके लिए सबसे पहली जरूरत हो जाती है। मदान म एक कई गिरोह आते हैं और सभी म त्यागी, बलिदानी सयमी और विचारवान पुरुष होते हैं। वह सभी एक दूसरे के साथ होड म पडते हैं कि सत्ता को अपने हाथों लिया जाय और जनता का भला किया जाय। इन नेताओं की तरफ जनता आशा और आदर से देखती है। तो आदर इसीलिए कि उनमे आशा है कि केन्द्रित और एकत्रित सत्ता-बल पर पहुचकर यह लोग कुछ उपकार। सदारूप सामर्थ्य उन्हें भी न सकेंगे। नता इसीलिये उन्हें सिर झुकानी है। दुनिया म जो सबसे बडा और सबसे ऊचा राजनीति का व्यापार चल रहा है। सो इसी समझ के आधार पर चल रहा है कि अधिकार म द्रव्य म बल है। [illegible] राज का चलता है इसलिए राज बल का मन्त्र है। सो सत्ता के [illegible] लिए छुट-पुट उपकार का काम किया जा सकता है। [illegible] सकल काम [illegible] पर कब्जा करने के द्वारा ही हो सकता है।

प्रत्यक्ष बुद्धि इस [illegible] को लिया और किसी प्रकार जा नहीं सकता। ये सब लोग मूढ नहीं हैं जो उधर चले जा रहे हैं। विद्यालय म अधिक प्रतिष्ठित सस्था

उन्हीं की है। दुनिया उधर जा रही है मानवता उधर जा रही है। उस सबको गलत कहना धृष्टता और दुस्साहस ही है। इसीसे अधिकतर देखा जाता है कि साहस यह अधिकांश सफल नहीं होता। कुछ लोग छिटक फुटककर दूसरी तरफ चल पड़ते हैं संग्रह के बजाय अपरिग्रह की ओर जाते हैं। अधिकार लेने के बजाय उन्हें छोड़ते हैं। लेकिन इन कतिपय जनों से दुनिया की दिशा नहीं बदलती।

अतः जो आश्रम और दूसरे साधना के स्थल तैयार करते हैं उन्हें मान लेना चाहिए कि वे जानबूझकर उलटा और साहस का काम करते हैं। परिवार के रूप में न रहकर आश्रम के रूप में हमने रहना शुरू किया है अपने बीच भोग का नहीं साधना का संबंध रखना हमने स्थिर किया तो जैसे एक भारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली है। वह यह कि हम वह नहीं मानते जो दूसरे समझदार लोग मानते हैं। क्या करें हमारा दर्शन और है। हो सकता है दिशा हमारी उलटी हो पर हम उसी को सही देखते हैं। हमारा निमंत्रण है कि जो आवश्यकताएं कम करना चाहें वे हमारे साथ आ जायें। यथावश्यक से अधिक हममें से किसी को लेना नहीं है और यथाशक्ति देते रहना है। हम मानते हैं कि इसी में हमारा बल है। जाहिरा निर्बलता हो सकती है पर हम तो उसी मनोदशा में बल का अनुभव प्राप्त होता है। वस्तु की चिंता सवारी गांठकर क्या सभी को भरमा नहीं रही है? हमने अपने लिये उस चक्र को व्यर्थ समझा है। वस्तु में बल हो तो वस्तु चिंता के फलस्वरूप शांति और सुख मिलने चाहिए। वैसा मिलता तो कहीं दीखता नहीं। इतिहास में भी किसी ने अभी तक ऐसा अपना अनुभव जताया नहीं है। जो हो हमने तो माना है कि बल सद्भाव में है। इस तरह अपने पास ही बल है कहीं दूर और अलग वह नहीं है। आदमी जो दीन बन गया है तो इसी मोह में घिरकर कि बल बाहर सिक्के में है। ऐसा मानकर हाथ पर हाथ धरे वह देखता रह जाता है। हाथों को काम में नहीं लगा पाता। मोह व्यक्तिगत होता तो वह जाता भी रहता। समाज ही सारा का सारा उससे आच्छन्न है। इसमें बेबसी फैल रही है और दूसरी ओर दर्प उठ आया है। हम सब यहां दूसरी श्रद्धा से उठ गये हैं और अपरिग्रह और अकिंचनता में से बल प्रकट कर दिखाना चाहते हैं। तब शायद हो सकता है कि मोह टूटना शुरू हो और सामान्य जीवन का मूल्य द्रव्य मूल्य न रहकर मानव-मूल्य बने।

साधना के लिए मंदिर और मठ आदि बनाकर वहां रहने वाले जैसे यह बोझ अनायास अपने ऊपर ओढ़ लेते हैं। बहाव से उलटे वह ऊपर की ओर

तैरने जसा है। शुभ हो कि व इस प्रयोग तक आयें ही नहीं। पर अगर जान बूझकर आते और उसमें उतरते हैं तो फिर बहाव से तो उनके लिए लड़ना ही रह जाता है। उसका सुभीता उनके लिए नहीं रह जाता बहाव में बहने में और कुछ पड़ता हो नहीं बल्कि गति अनायास होती है। इसको सामान्यतया प्रगति भी माना जाता है। कोई कारण नहीं कि दावा किया जाय कि वह प्रगति नहीं है। लेकिन जिन्होंने आरम्भ में ही समझ बूझकर मुंह उसमें उलटी ओर किया उन्हें उससे लाभ लेने का अवसर नहीं रह जाता। उस दिशा का साफल्य और वेग उन्हें अनिष्ट बनता है। मानो साधक लोग यह कठिनाई अपने लिये पैदा करने ही साधनाश्रम आदि की स्थापना में लगते हैं।

उन आश्रमादि की तो चर्चा ही क्या कि जो ऊपर से आश्रम और अन्दर से दूकान हैं। ऐसी मनोरंजक घटनाएं विद्यमान हैं यह कहने की आवश्यकता ही नहीं। बल्कि उस कारण और भी आवश्यक हो जाता है कि साधना और सामुदायिक साधना की ओर बढ़ने वाले और उनके लिये स्थल और संस्था विशेष का निर्माण करने वाले चेतावनी ले लें। व्यवस्था के युग में असम्भव नहीं है कि साधना को भी दूसरे जन-व्यवसाय के रूप में लें। हमने खोला आश्रम है लोग समझें दुकान खुली है। ऐसा समझने में दोष उनका न होगा युग की हवा ऐसी है। यह गलतफहमी आश्रमवासियों को परीक्षा में डालती है यह सामने उसका लाभ ही कहा जा सकता है। यदि किसी कारण आश्रम या साधना आदि पवित्र शब्दों का मान ही लोगों के मन से गिरा तो यह बड़ी दुर्घटना होगी। लेकिन यह मान पुनर्स्थापित भी हो सकता है और यह तब होगा जब साधना की परीक्षा में कम जाने को निमन्त्रण दें।

परीक्षा सब श्रद्धा की है। आज का युग संस्थावाद का कहा जाता है। समाजवाद का विचार आया है न उसमें व्यक्ति की निजता का भाव मन्द पड़ गया है। समूह और समुदाय की गिनती अधिक होने लगी है। व्यक्तिगत सम्पत्ति पाप समाजगत सरकारगत पुण्य। आप संस्था के नाम से लाख कर सकते हैं और वह उत्तम है परमार्थ है अन्यथा वह स्वार्थ है। यानी नैतिक नियम जो व्यक्ति के लिए मान्य हैं संस्था के लिये वे अनावश्यक हो जाते हैं। अपरिग्रह अहिंसा व्यक्तिगत जीवन में हो तो हम सन्तोष रहता है। जिस संस्था या समूह या दल के हम सदस्य हों उसके पास का बड़े से बड़ा दण्ड और उसका खण्डन मण्डनात्मक व्यवहार अनुचित नहीं माना जाता। ठीक इसी जगह श्रद्धा की परीक्षा होती है। श्रद्धावान जिसको मानेगा पूरे तौर पर मानेगा। सब स्थितियों और सब परीक्षाओं में मानेगा।

गाधी जी ने इस अनिवार्यता को पहिचाना। फण्ड से वह बचे नहीं केंद्रित फण्ड भी उनके अधीन रहे। लाखो-लाख करोडों-करोड द्रव्य का विनियोग उनसे हुआ। लेकिन श्रद्धा जो उनम व्यक्त रही सो उसके परिताप और पश्चात्ताप क सबध म फिर ओझल नही हो सकी। इसलिये उनके कारण शक्ति और बल की धारणा गणनात्मक की जगह गुणात्मक होती चली गई। साधनमूलक बल की धारणा होने से वस्तु का महत्व बढता और उसकी प्रचुरता म मोह और आदर बढ़ता है। तब गणना की अपेक्षा म गुण का महत्व कम होता जाता है। दूसरे शब्दो में वस्तु स व्यक्ति गौण और हीन बनता है।

आज का सकट क्या है। उसे सभ्यता का ही सकट कहना चाहिए। वह सकट यही तो है कि आदमी का मूल्य घटते घटते शून्य हो गया है। शून्य से भी कम कहना रूप में हो गया है। जबकि यत्र का मूल्य बढता जा रहा है। यत्र पाकर आदमी अपने को धनवान गिनता है और धन की ओर बढ़ने के लिये यत्र को इकट्ठा करता है जबकि उसी के लिए आदमी भारी पड जाता है। नौकर और मजदूर के रूप म वह उन्हें कितनी सख्या में भरती कर लेगा क्योकि अब वह आदमी से यत्र बना जाता है। सुख-दुख अनुभव करने वाले उस जीवित इन्सान के रूप म जो समभागी बनना चाहता है भारी मालूम होने लगता है। आपसी सबधो का सूत्र विषम और जर्जर हो गया है। सामुदायिक इकाइयां बड़ी-ब डी खड़ी हो आई है लेकिन उसे उनको सयुक्त और सगठित रखने वाले तत्व अन्त में स्वार्थ और स्पर्धा ही है। राष्ट्र अपनी उन्नति अधिक एक्सपोर्ट में देखता है यानी दूसरे देशो म मण्डी फलाये रखने में अपनी समृद्धि देखता है। इस सकट के सम्मुख कौन है जो साधनों की सपन्नता और बहुलता नही चाहता।

अपरिग्रह उसी वृत्ति का नाम है। सदुपयोग के नाते ही उसे वस्तु की आवश्यकता है। अर्थात वस्तु का सग्रह उसे नहीं चाहिये। अधिक वस्तु अर्थात अधिक प्रभुता—यह जो सामान्य बोध और अनुभव है अपरिग्रह का नियम उससे उल्टा चलता है। बल का बोध उसका राशि और परिमाण म नहीं है। वह आंतरिक है।

कहने की आवश्यकता नही है कि धन और जन परस्पर बिछड नही सकते। शरीर के बिना आत्मा नही है और अन्न के बिना जीवन नहा है। व्यक्ति वस्तुहीन होकर रहा है न रहेगा। इसलिए वह अध्यात्मवाद और भौतिकवाद जो इस सगति और सम्बद्धता को नही देखना चाहता एक निरा आग्रहवाद रह जाता है। लेकिन श्रद्धाओं म अवश्य भिन्नता हो सकती है। गाधी और स्टालिन

की श्रद्धाओं को एक मानना धोखा खाना होगा।

समाजवाद एक प्रकार का वस्तुवाद है। साम्यवाद तो वह ही है। उसका प्रयोग होता रहा है और हो रहा है। उसकी आशा लगभग समाप्त प्राय है। उसमें स्वर्ग दीखना मंद हो गया है। कुछ छोटे पिछड़े देशों की बात छोड़ दीजिये। लेकिन जहां विचार का अवसर है वहां समाधान उन वादों में नहीं दीख पाता। कारण वे वाद बहुत हद तक क्रियान्वित हो चुके और अपनी सभावनाओं की सीमाओं को दर्शा चुके हैं। उनकी सम्भावना की सीमा इसमें है कि वे मूलतः वस्तुवाद के ही रूप हैं। उसमें मूलगत मूल्य की क्रान्ति प्राप्त नहीं होती। केन्द्रित राशि और केन्द्रित अधिकार का मोह बना चला जाता है।

ये मोह दो नहीं हैं। राशि का महत्व मिलते ही अधिकार के प्रश्न को महत्व मिल जाता है और आज अधिकार ही ऐसी चीज है जिसको हरेक अपने लिये चाहता है दूसरे के लिये नहीं बिलकुल नहीं चाहता। सब चाहते हैं मुझमें अधिकार रहे कोई नहीं चाहता मुझ पर अधिकार रहे। इस अधिकार की चेतना और चाहना ने सारी व्यवस्था को झकझोर डाला है। इस व्याधि से छुटकारा तब तक मिलना सगत और सम्भव नहीं बन सकता है जब तक बल का बोध वस्तु और उसके परिमाण में रहेगा। क्योंकि वह तब अपनी निर्बलता और न्यूनता के बोध पर व्यक्ति अपने भीतर उतरने और वहां से विश्वास और सेवा की शक्ति लाने के बजाय बाहर साधन की छीन झपट और अर्जन गर्जन में लगने दौड़ेगा और तब विग्रह के सिवाय दूसरा और क्या हाथ आने वाला है ?

इसलिये केन्द्र के उन प्रधान व्यक्ति की बात पर मैं अब तक अटका हूं और सोचता रह जाता हूं कि क्या वहां से इष्ट शान्ति का प्रादुर्भाव हो सकेगा ?

नवम्बर ६०

■ ■ ■

समाज दशन

इतिहास म समय-समय पर क्रातियाँ हुआ करती हैं। उसम सब उलट-पलट
जाता है। बडा-बडा नही रहता और छोट अपने को छोटा नही मानते। यह
इसलिए होता है कि लोगा का दशन बदल जाता है।

हम एक व्यवस्था के अधीन रहत है। धान-धान उसके मूल्य स्थिर हो जाया
करत है। समाज म तदनुसार श्रणिया पड जाती हैं और व हम उचित मालूम
होती है। वस्तुघा का व्यक्तियो का वर्गों का अमुक मूल्य बध जाता है। उसम
दुविधा नही होती और ऐसे व्यवहार सुगमता स चलता है।

लेकिन फिर कोई होता है जिसके मन म स्थापित मूल्य जम नहा पाता।
उसको दीखता ही कुछ अलग है। उस दशन के मूल्य भिन्न होते हैं। उस कारण
वह व्यक्ति स्वय कुछ वतमान व्यवस्था स अनमिल हाना है। इस एकाकीपन
स उसको और दृढता मिलती है। व्यक्तित्व को धार प्राप्त होती है। वह साग्रह
अपने दशन को रखता और दता है। व्यवहार उसका अपने अनुसार होता है।
एसा व्यक्ति दुख उठाता और अत म कुछ और नये मूल्यो की भाकी दे जाता
है। धीरे धीरे वह दशन घर करता है। तब पहले के बन मूल्य डिगन लगते
हैं। लागा को लग जाता है कि व्यवस्था स्थिर न थी न है। जो बडा था वह
सिफ मानन स बडा था। एस मान्यताए ढहती और परिणाम म दीखने वाली
क्रातिया हुआ करती हैं।

मानव का वह दशन उत्तरोत्तर भेद अभेद की और उठता है। प्रतिभा की
सदा यह गति है। उस सहसा किसी उच्चतर समन्वय की प्राप्ति होती है। तब
उसम नीच क तल क विभाग के प्रति उसम अमान्यता हो उठती है। उसके
द्वारा जग आता है कि परम्परा एक है प्रगति उसस भिन्न है।

मानव हठात् सम्यक और समग्रदशन पाय बिना चन नहीं पा सकता।
अपूण स पूण एकाग स समग्र की ओर उठत और उठाते जाना काल का धम
है। काल की इस गति को तरह-तरह से चित्रित किया गया है। अनुभव में
आता है कि यह समगति नही है। जस कभी वह दौडता और कभी आराम

करने लगता हो। काल के भाग्य में आराम नहीं बताते हैं लेकिन कुछ युग सचमुच शान्त बीते हैं। जब दिन का हंगामा न हो और सुख सपनों की रात हो। ऐसे समय काव्य और कला का खूब उदय हुआ है। मूल्यों के बारे में तब दुविधा नहीं रही है। कवि को सम्राट के आगे सिर झुकाने और उसकी स्तुति गाने में कठिनाई अनुभव नहीं हुई है। ऐसे कविता उसकी जीनी गई है सो भी बात नहीं है। केवल इतना है कि समाज में लोगों की विविध स्थितियाँ जम गई हैं और व्यवहार की परिपाटियाँ चिकनी बनी रही हैं।

लेकिन ऐसी शान्त स्थिर सुविधा में रुककर काल ठहरा कैसे रह सकता है। उस पर विकास का दायित्व है। इसलिए विचार के और स्वप्न के लोग जन्म लेते हैं। वे सुविधा की सुविधा नहीं लेते। या अपने लिए वे असुविधा रचते हैं। वे मानते ही नहीं कि व्यवस्था सही या सब कुछ है। व्यवस्था का अनमाना उन्हें नहीं सुनता नहीं गिनता और अपनी ओर से उन्हें छुट्टी दिये रहता है। पर वे अपनी कहते हैं अपने को गिनते हैं और छुट्टी नहीं लेते न किसी को देना चाहते हैं।

कुछ सदी पहले विज्ञान आया। विद्रोही लोग उस विज्ञान को लाये थे। पर पीछे आकर उसमें से काम और रुपया बनने लगा। जिनके लिए विज्ञान ज्ञान का विषय था। वे फिर भी उस धुन और उस हाल में रहे। लेकिन जिनके लिए वह विज्ञान ज्ञान से अधिक काम का हुआ वे व्यवस्था के छोर पर आते गये। मूल्य बदले और विज्ञान के आविष्कारों के आधार पर व्यवसाय चलाने वाला यह नया आदमी प्रधान बनता चला गया। पहले के बड़े आदमी से यह भिन्न था। उसमें क्षत्रिय के गुण थे वह स्वाधीन रहता था और आन-बान रखता था। यह व्यवसायी मशक्कत से चलता था और समझौते में कुशल था। यह औद्योगिक क्रान्ति हुई और तलवारी दिलेरी की जगह धन-कौशल का महत्व बढ़ा।

लोग शिक्षित हुए। शहर और बन्दरगाह पनपने लगे और मालूम हुआ कि धन से प्राप्त हुए परस्पर सम्बन्धों के नियमन की व्यवस्था कम पड़ रही है। समस्या की पर्याप्त अधिक हो चली है और समाज का विषय अब एक स्वतन्त्र शास्त्र का विषय है। सोशलिज्म शब्द के आसपास बहुत चिन्तन चलना शुरू हुआ।

इस मथन में से एक दर्शन की चिनगारी प्राप्त हुई। वह यह कि धन स्वयंभू वस्तु नहीं है। वह श्रम का परिणाम है। श्रम मूल धन है। वह सामाजिक निष्पत्ति है। पूंजी स्वतन्त्र मूल्य नहीं है। पूंजीपति शोषण के आधार पर बना जाता है।

इस दर्शन ने और माने हुए अधिकारी की अयथार्थता का निरूपण करने वाले इसके पूर्व चिंतन ने मिलकर एक नई क्रांति का बीज बो दिया। अब तक मामूली और मेहनती आदमी अपने को मामूली और मेहनती ही गिनता था। अब उसमें प्रश्न हुआ कि वह वैसा ही क्यों है? जो नया दर्शन उसमें उतर चला था कि वैसा वह ऊपर वालों की अभिसंधि और षडयन्त्र के कारण है, उसने भावनाओं में बारूद भरी। व्यवस्था इससे ढीली हुई और सख्त पलटे। साम्यवाद फूटा और जमा। अब बराबर वह फल रहा है।

लेकिन इधर एक नया और समग्रता का दर्शन सामने आ रहा है। गांधी के व्यक्तित्व से वह लोगों को मिला। वह यह कि समाज दो या अधिक वर्गों का समुच्चय नहीं है। वह अपने में एक इकाई है। वर्गों और श्रेणियों के संघर्षों की भाषा सतह को लेती है मर्म की कहती नहीं। मर्म यह कि छोटा बड़ा ऊंचा-नीचा अच्छा-बुरा ये एकदम दो नहीं हैं। बल्कि एक दूसरे को थामते हैं। ऊंचा नीचे को दबाता है या नीचा ऊंचे को गिराना चाहता है तो दृष्टि दोष के अधीन ऐसा होता है। कारण उसमें भय और द्वेष है। उससे स्थान का ऊंच-नीचपन बल्कि कायम होता है। उन स्थानों पर व्यक्तियों की अदला बदली हो जाती है पर उस आधार पर क्रांति टिकने वाली इसलिए नहीं है कि उससे व्यवस्था में मूल अन्तर नहीं पड़ता। फिर स्थानों और नामों का अन्तर असल मूल्यान्तीकरण नहीं है। गवर्नर का नाम कमिसार हो जाय और कैसर प्रेसिडेंट कहा जाय तो इतने से जीवन में गुणात्मक अंतर नहीं आ जायगा। कुर्सी पर बैठे आदमी के मनोभाव बदलेंगे तब जब समाज में ही मूल्य और मनोभाव बदले हुए होंगे। गलती यह है कि एक को हम दूसरे से अलग मानते हैं। ऐसे अच्छे को पुरस्कार और बुरे को दण्ड देते हैं। ऊपरी तौर पर तो यह किया जा सकता है। पर सही देखा जाय तो अच्छा वही होना चाहिए जो बुराई के लिए अपने को जिम्मेदार मानता है। धनिक वह जो निर्धन और निर्धनता के लिए अपने को जिम्मेदार मान सकता हो। इस तरह जिसके पास जो होगा प्रतिक्षण अनुभव करेगा कि वह उसका किसी तरह नहीं है, अमानत भर है। आखिर क्रांति का दूसरा मतलब क्या है? पुराने की जगह जो नया आदमी अधिकार पर आता है उसे बता दिया जाता है कि अधिकार वह उसका नहीं है सिर्फ जिम्मेदारी है। कानून के बल से तो सिर्फ अधिकार पहुंचता है जिम्मेदारी अन्तःकरण से आ सकती है। ऊपर के डर से जो जिम्मेदारी निभाई जाती है वहां डर किसी तरह बचाया जा सके तो जिम्मेदारी वहां से भाग जाती है। तब निर्वाचित आदमी उद्दण्ड होकर अफसरी और हेकड़ी जता

सकता है।

यह दर्शन जो समाज को एक इकाई के रूप में लेता और दिखाता है कि साधु दुष्ट है अमग नहीं है, धनिक निधन से अलग नहीं है और शासक शासित से अलग नहीं है धीरे धीरे लोगों के मनों म उतरता जा रहा है। इसको अपनाने पर वग विग्रह की पद्धति वाला स्थान अधूरा और ओछा दीखने लगता है। तब मालूम होता है कि शोषक वही नहीं है जो धनिक है, हम भी हैं जो धनिक की जगह होना चाहते हैं। इस दर्शन म से जो सत्य प्राप्त होता है, उसमें शोषण का बीज ही खत्म होता है। इसको अपनाकर अधिकार में ममता और धन म स्वत्व का भाव रह नहीं जाता। राजनीतिक क्रांति स्थानान्तर कर सकती है भावान्तर तो गहरे दर्शन में से ही प्राप्त हो सकता है। अधिकार दर्शन म से राजनीतिक परिणाम ही निष्पन्न होता है। उसम अधिक फल के लिए क्रांति अधिक तलस्पर्शी और दर्शन अधिक समन्वित होगा। तब आशा हो सकती है कि मौलिक क्रांति हो। वह यह कि ऊंचा वह जो अपने को नीचे से नीचा समझे। धन और अधिकार उस पर आयें जिसे य लेना चाहें चुभती हो। तब व्यक्तियों म होड परस्पर भोग और पद के लिए न होगी त्याग और मुक्ति के लिए होगी।

राजनीतिक क्रांति के पीछे हत्याओं का इतिहास मिलता है। शुरू म जो साथ चले अन्त की ओर मालूम हुआ कि उन्हीं के लिए एक दूसरे का व्यय और खत्म करना जरूरी है। व्यवस्था ढेरी के मानिन्द है। आखिर शीष पर एक और केवल एक होगा। इसम शत्रुता के लिए मित्रता ही भूमिका होगी। साथियों म ईर्ष्या और भय और द्वेष म बचाया नहीं जा सकता। अन्त म एक एक कर अपन साथियों को खत्म करने के बाद ही शीष स्थानीय एक एक को थोड़ी निश्चिन्तता मिल पायगी। क्रांति जो राजनीतिक है उसम इसके सिवा दूसरा कुछ हो नहीं सकता। व्यवस्था जबतक दल और श्रेणी के आधार पर है तो उस भूमिका पर क्रांति कितनी भी हो उसम स शांति फलित होने वाली नहीं है। क्योंकि कोई कारण ही वहां नहीं रहता है कि स्थान का अन्तर परस्पर रगड़ और जलन न उपजाये। अन्तर तो सदा रहने ही वाला है। जहां सब समान हों वहां की स्वतन्त्रता जंगल की सी है। यानी कि जिसका जो चाहे शिकार करे। स्वतन्त्रता की उस हिंस्र-वृत्ति को रोकने का साधन बस वहां राज्य की कानून और दण्डशक्ति रहती है। यह दोनों शक्तियां अन्त म सगठित हिंसा की ही तो हैं। अब समग्र और स्थायी होगी नैतिक क्रांति। वहां स्वेच्छा से नीचा बनकर आदमी अधिक स्वाधीनता का रस पायेगा और उसम नव सृजन की स्फूर्ति

बराबर होती रहेगी। यह नूतन दर्शन जगत् को शनै-शनै प्राप्त हो रहा है। शंका नहीं है कि यह फल लायेगा। देर अबेर इसमें हो सकती है। लेकिन फल उसका बासी नहीं होगा। खटास उसमें न पड़ेगी न प्रतिक्रिया उपजेगी। वह भावी अवश्यम्भावी है। कारण विश्व स्थिति का संकट गम्भीर है और अगला कदम मानवता का मजबूत और सही ही होगा। विज्ञान इतना बढ़ गया है कि उससे हल्का और कम कोई दर्शन अब लोगों के मनों में छू और पकड़ नहीं सकेगा। भोगते भुगतते अब लोगों के मन इतने पक आये हैं।

■ ■ ■

जुलाई ५६

नेतृत्व, समय और प्रलय

हम समय में जीते हैं। समय का आदि नहीं और अन्त भी नहीं। लेकिन हम जीने वालों का तो आरम्भ है और अन्त भी है। एक खास रोज हमने जन्म पाया और जीने की शुरुआत हो गई। इसी तरह एक दिन होगा कि मौत आ जायगी और हमारा खात्मा हो जायगा। फिर भी समय चलेगा, वह लोगों को जिलाता मारता और चीजों को नया-पुराना करता रहेगा। काल स्वयं अकाल रहता है, इसीलिए सब-कुछ काल-कवलित करता चला जाता है। आँखों आगे धारा-पार जो यह अहरह उत्पत्ति विनाश की लीला चल रही है, कहा जाता है कि सब उस समय की करनी है।

लेकिन यह कहने का मुहावरा ही है। समय के पास अपनी कोई हस्ती नहीं, ताकत नहीं। काल तो देश ही है जैसे आकाश है। वह स्वयं में शून्य है और कुछ करता धरता नहीं है। मानों वह वह आयाम है कि जिसमें सब होता जाता है। दिशा की सूचना से अधिक उसमें कुछ इयत्ता नहीं है।

होते परिवर्तनों पर हमारी आँख जाती है। उससे इन्कार नहीं हो सकता। इसी दिल्ली का, सबसे बड़ी बड़ी कॉलोनियों को लीजिए कि जहाँ के मकान एक से एक आलीशान हैं। गिनती के कुछ बरस पहले यह निरी सुनसान बीहड़ जगह थी। आज सम्पन्न जगमग है कि कल तक जहाँ आदमी का निशान भी नजर न आता था। और क्या पता कि पचास सौ साल बाद फिर वहाँ यही उजाड़ वियाबान हो जाय! समय सब लीलता जाता है।

तो क्या समय के आयाम में होने वाला सब कुछ मिट जाने को होता है? क्या सब व्यय है? अथवा कि कुछ उसमें अव्यय भी है?

इतिहास का अध्ययन करने वाले बताते हैं कि भूत सब निस्सार नहीं है। पर गरज सो तो जाने क्या आज दब रह गया है। मानो उसमें कुछ मानना न हो, ऐतिहासिक धारा का ही उसमें भरा रह गया हो। भूत के साथ अब प्रश्न की ही शर्त हो। और अनगिनत लोग हैं जो भविष्य में आगे बढ़कर भूत को निरा इन्कार किये रहना चाहते हैं। लेकिन इतिहास अतीत को मान नया देता है।

उल्टे उसे सार्थक और सारवान तक प्रकट कर दिखाता है। बीते अतीत के पीछे और वर्तमान की धरती के परतों के नीचे जाकर लोग विकास के सिद्धान्त को ऊपर खींच लाये हैं। उससे ज्ञात होता है कि आज हम आदमी हैं लेकिन कभी था कि हम तो थे लेकिन आदमी नहीं थे। हो सकता है कि जानवर के रूप में हों, जैसे बन्दर इत्यादि। या उसके भी पार जाकर कृमि-कीट के रूप में हों। अर्थात् पीछे की ओर गया हुआ अध्ययन सिद्ध करता है कि समय की गति व्यर्थ नहीं है वह चेतना को आगे बढ़ा जाती है, समय ढाता चला जाता है, अवश्य, लेकिन इस सब प्रक्रिया के द्वारा वह कुछ बनाता भी चला जा रहा है। निरन्तर विकासशील वह तत्व है चैतन्य।

इसी बात को दूसरे शब्दों में कहे तो समय अपनी तमाम यात्रा में जितनी मात्रा में चेतना को जगा जाता है उतना ही वह सार्थक होता है। इससे अतिरिक्त को दौड़ धूप या भाग दौड़ से शायद उन्नति या विकास का सम्बन्ध नहीं है।

• •

किन्तु चेतना के उन्नयन को देखा और नापा कैसे जाय? इसीलिए नाना भ्रम और मतवाद चला करते हैं। जो एक दूसरे को काटते और विग्रह रचते हैं। समय के इस प्रवाह में क्या निरर्थक होता जा रहा है और क्या वह सार्थक है जो परोक्ष में सम्पन्न हो रहा है इसको जानने का कोई प्रत्यक्ष उपाय नहीं है। वर्तमान में इतना कम प्रपंच चलता है कि उसके हेतुओं का पृथक्करण करना कठिन होता है। उस [illegible] म स लोग सिद्धा[illegible] निकालते हैं अवश्य, लेकिन अधिकांश [illegible] होते हैं। उनके [illegible] से सम्बन्ध होता

'सर्वाईवल ऑफ दी फिटेस्ट'। किन्तु लम्बे अनुभव में से देखने में आया कि सब के सिर पर सम्राट बनकर जो बैठा है वह मरा तो ऐसा कि समय में सदा के लिए सो गया इतिहास में जी नहीं पाया। इस तरह प्रस्तुत विग्रह और संघर्ष यद्यपि सबसे महत्त्व का व्यापार आज मालूम होता है तो भी इतिहास का सार उससे किनारे या पार कहीं छूट जाता है। अथवा हो सकता है कि वह सारा गूढ़ अन्तर गर्भ में कहीं हो।

युद्धों की कहानियाँ हम पढ़ते हैं और वे हमें रस देती हैं। सच यह है कि जीने का क्षेत्र करने का क्षेत्र है और कुरुक्षेत्र युद्ध-क्षेत्र है। यह दूसरी बात है कि धर्म-क्षेत्र भी उससे अन्यत्र कहीं दूसरा न हो। तभी देखते हैं कि भारत का सनातन धर्म यदि सहस्राब्दियों से चलकर आज दिन तक यहाँ टिका रह गया है तो उन दो पुराण-ग्रन्थों के आधार पर जो युद्ध ग्रन्थ ही हैं। धर्म ग्रन्थ से भी आगे वे धर्म-कोश बन गये हैं। मानों वे प्रमुख सिद्धान्त नहीं कहते हैं बल्कि समूची जीवन संस्कृति का विस्तरण कर जाते हैं। रामायण और महाभारत की इन गाथाओं के बीच मानो तमाम आर्य-संस्कृति को रच दिया गया है। उत्तर और दक्षिण इन दो ध्रुवों के मध्य जैसे पृथ्वी स्वयं में और आकाश में भ्रमती हुई स्थित है वैसे ही मानो राम और कृष्ण के ध्रुवादर्शों के मध्य समली हुई भारतीय संस्कृति अवस्थित और गतिमान है। सिद्धान्त अचल हो सकता है किन्तु पुराणों में जो धर्म आकलित हुआ है उसमें गति का पूरा समावेश है। वह धर्म किसी सिद्धान्त की परिभाषा में नहीं समाता प्रत्युत इतना सचेतन और ज्वलन्त रहता है कि परिभाषाओं के लिए अजस्र स्रोत और आदर्श का काम देता जाता है।

किन्तु इन दूर की और ऊँची बातों से इधर हम हाल ही की चर्चा करते थे। आज स्थिति डांवाडोल मालूम होती है। स्वराज्य के बाद भारतवर्ष ने पन्द्रह वर्ष भोगे हैं और तबसे एक ही दल की एक सरकार यहाँ बनी रही है। लेकिन बीच में यह अनुभव होने लगा कि सत्तारूढ़ दल को इधर जो राज्य का काम करना पड़ रहा था और उधर प्रजा के काम का भी जो उसने दायित्व उठाया था सो इन दोनों पक्षों में सन्तुलन बिगड़ चला था। राज को प्रजा के मन के निकट रखना जरूरी था। स्वराज्य का संविधान ने जनतन्त्रात्मक बनाया था। लेकिन लगा लगने लगा था कि राज्य से प्रजा अलग छूटी जा रही है। इस स्थिति में जो उपाय अपनाया गया उसका नाम कामराज योजना हुआ। यानी हुआ प्रमुख मन्त्री मन्त्रिपद छोड़कर बाहर आ जाय। किन्तु यह उपाय ऐसा भी आरम्भ आया हुआ है या अपना तन्त्र व्यवस्था को दृढ़ करने वाला

दलीय उपाय ?

इस समय जो प्रश्न उपस्थित होता है वह है नेतृत्व का प्रश्न। राज की नीति समाज की नीति से बहुत भिन्न नहीं हो सकती। अर्थात् राज-नेतृत्व को जाने-अनजाने समाज-नेतृत्व भी बनकर रहना होता है। जैसा राजा वैसी प्रजा। लेकिन लोग अब उस उक्ति के पलट रूप को अधिक ध्यान में लेने लगे हैं। जैसी प्रजा वैसा राजा। राजा अगर उन्हें ठीक नहीं मालूम होता है तो वे अपने काम के लिए प्रजा की तरफ मुंह करना आवश्यक समझते हैं। कामराज योजना का मतलब है कि राज करने वाला दल स्वयं अनुभव कर आया है कि ध्यान को राज-सत्ता से ज्यादा जन-सत्ता में रखना होगा।

हमारे इस भारत देश का दुर्भाग्य यह है कि यहां हाल में गांधी हो गये हैं। उन्हें हम राष्ट्र पिता कहते हैं साथ महात्मा भी कहते हैं। इस सद्भाग्य को दुर्भाग्य कहते कष्ट होता है। लेकिन इस घटना ने जन-साधारण में अपने राजकर्मियों से ऐसी अपेक्षाएं भर दी हैं कि राज्य की उससे कठिनाई बहुत बढ़ जाती है।

• •

मार्क्स ने एक नया दर्शन संसार को दिया। उसके आधार पर रूस देश में एक नया साम्यवादी राज्य आ गया। राजन्य वर्ग के लिए पहली कठिनाई तो उसने पैदा की। राजा पहले खास आदमी हुआ करता था। अन्दर से वह खास हो कि न हो ऊपर से उसे बेहद खास बना कर रखा जाता था। जन्म से वह विशिष्ट होता था और लालन पालन से भी। बीच में कुछ क्रान्तियां हुई, और राजाओं के सिर कटे। लेकिन क्रान्ति बीतते ही समाज की स्थिति फिर पहले जैसी हो गई। मानो प्रजा में हाकिम को अफसर को राजा को फिर उसी ऐश्वर्य और आडम्बर के बीच देखने की आदत और आशा जग आई। प्रजा ऊपर आंख उठाकर राजवैभव की ओर देखती थी और उस विमुग्धता में उसे सन्तोष होता था। सबसे बढ़ चढ़कर न हो तो वह राजा ही क्या ? वैभव और ऐश्वर्य से उसे मण्डलित होना ही चाहिए। और सचमुच इस वैभव का अन्तर बीच में डालकर राजा के प्रभाव को अनिवार्य और अमोघ बनाया जाता था। रोमान्स की भांति यह प्रजा जनको प्रिय होता था अब भी कहीं-कहीं प्रिय होता है। लेकिन मार्क्स ने इस धन वैभव की सत्ता के बारे में कुछ ऐसी दृष्टि लोगों के मनों में उतार दी कि उसका आतंक और प्रभाव जाता रहा। पहले यदि उसके प्रति प्रशंसा का भाव होता था तो इस नये दर्शन के सहारे निन्दा का भाव जागने लग गया। पहले जैसा शासक पोषक और रक्षक समझा जाता था।

इस नवदर्शन के अधीन यह शोषक और भक्षक दीखने लग गया। परिणाम यह कि छत्र दण्डधारी राजत्व का जो सर्वोच्च प्रतीक था वह जारड्स क्रान्ति में सदा के लिए मार डाला गया। इस साम्यवाद ने आम लोगों के मनों में यह भर दिया कि राजा उनमें से ही हो सकता है विशिष्ट नहीं हो सकता।

नेतृत्व की कल्पना के परम्परागत रूप का पहला आघात साम्यवाद की ओर से यह लगा। विशिष्ट व कुलीन होना मानों दुगुण हो गया। नेता के लिए सम सामान्य और सर्वसाधारण बनना आवश्यक होने लगा।

फिर भी साम्यवाद ने स्थापित राज्य का जो स्वरूप लिया उसमें धीरे धीरे वशिष्ट्य कम होने लगी। साम्यवाद का और क्रमशः क्रान्ति के दुर्ग प्रमादका धीरे धीरे मल बदल लगा। वहाँ भी नेता के लिए सुविधाओं की ओर से विशिष्ट बनना मानों सहज और ग्राह्य होने लगा।

फिर भी मानस ने जो दृष्टि दी वह जन-मानस में गहरी घर कर चुकी थी। समय-समय पर जन-नेता के रूप में प्रगट होने रहने की आवश्यकता राज नेता के गए बनी रही। स्टूडेवेक चाहे कहीं रहें महल में चाहे रहें लेकिन वे सबके लिए सुलभ और आत्मीय हैं इसका प्रकाशन करते रहना उनके लिए जरूरी होता है। इतने मात्र से साम्यवादी दशा में वशिष्ट्य ऊपरी तौरपर हल हो जाती है यदि कहीं नीचे असन्तोष हो तो वह ऊपर फटे बिना रह आ सकता है।

किन्तु भारत की हालत उससे दूसरी है। गान्धी ने अंग्रेजी राज्य के रहते हुए भी भारत देश के मन पर इतने लम्बे काल तक एकछत्र राज्य किया। जिस तन्त्र द्वारा उस महात्मा का राजकाज चलता था उसका कांग्रेस था। नाम कांग्रेस का बड़ा कारोबार था। लम्बा चौड़ा दफ्तर उसके लिए जरूरी होता था। लेकिन गान्धी की राजधानी सेवाग्राम थी जहाँ फूस की कुटिया थी। सबके बीच चटाई पर वह राज राजेश्वर उठता-बैठता-सोता था।

यह चित्र देश के मन से उतरता नहीं है। इधर पीछे उसे अपनी तमाम परम्परा का बल भी मालूम होता है। राम बनवासी हो गये कृष्ण ग्वाल-बाल के संगी साथी बनकर रहे। इत्यादि उदाहरण भारतवासी के चित्त में ऐसे बैठ गए हैं कि वह उन्हीं में अपने नेता और राजा को नापना चाहता है। साम्यवाद तो चाहे समझौता कर भी ले लेकिन भारतीय मानस की यह मांग समझौता कर नहीं पाती है। आज का संकट ठीक इसी कारण विकट बन गया है और विस्फुटक बनता जाता है।

मामूली तौर पर राजा को प्रजा अपने बाप राजा बनाकर रखना चाहती है। उसी तरह आज का राज-नेता भारत के दूकानों को नप के और रहन

दलीय उपाय ?

इस समय जो प्रश्न उपस्थित होता है वह है नेतृत्व का प्रश्न। नीति समाज की नीति से बहुत भिन्न नहीं हो सकती। अर्थात् राज- जाने-अनजाने समाज-नेतृत्व भी बनकर रहना होता है। जैसा राजा वर लेकिन लोग अब उस उक्ति के पलट रूप को अधिक ध्यान में ले जैसी प्रजा वैसा राजा। राजा अगर उन्हें ठीक नहीं मालूम होता है त काम के लिए प्रजा की तरफ मुँह करना आवश्यक समझते हैं। कामर का मतलब है कि राज करने वाला दल स्वयं अनुभव कर आया है को राज-ता से ज्यादा जन-ता में रखना होगा।

हमारे इस भारत देश का दुर्भाग्य यह है कि यहां हाल में हैं। उन्हें हम राष्ट्र पिता कहते हैं साथ महात्मा भी कहते हैं। को दुर्भाग्य कहते कष्ट होता है। लेकिन इस घटना ने जन-साथ राजकर्मियों से ऐसी अपेक्षाएं भर दी हैं कि राज्य की उससे क जाती है।

मार्क्स ने एक नया दर्शन संसार को दिया। उसके साथ एक नया साम्यवादी राज्य आ गया। राज्य वर्ग के लिए उसने पैदा की। राजा पहले खास आदमी हुआ करता था खास हो कि न हो ऊपर से उस बेहद खास बना कर रखा वह विशिष्ट होता था और लालन-पालन में भी। बीच र और राजाओं के सिर कटे। लेकिन शान्ति बीतते ही सा पहले जैसी हो गई। मानो प्रजा में हाकिम को, अफसर व ऐश्वर्य और आडम्बर के बीच देखने की आदत और भ ऊपर आंख उठाकर राजभवन की ओर देखती था प्र सन्तोष होता था। सबसे बढ़-चढ़कर न हो तो वह रा ऐश्वर्य से उसे मण्डित होना ही चाहिए। और सचा बीच में डालकर राजा के प्रभाव को अनिवार्य और रोमान्स की भांति यह प्रजा जनको प्रिय होता था है। लेकिन मार्क्स ने इस धन-वैभव की सत्ता के के मनों में उतार दी कि उसका आतंक और प्र उसके प्रति प्रशंसा का भाव होता था सो इग भाव जागने लग गया। पहले जैसा शासक पोप

इस नवदर्शन के अधीन वह शोषक और भक्षक दीखने लग गया। परिणाम यह कि छत्र-दण्डधारी राजत्व का जो सर्वोच्च प्रतीक था वह जारइस क्रान्ति में सदा के लिए मार डाला गया। इस साम्यवाद ने आम लोगों के मनों में यह भर दिया कि राजा उनमें से ही हो सकता है विशिष्ट नहीं हो सकता।

नेतृत्व की कल्पना के परम्परागत रूप का पहला आघात साम्यवाद की ओर से यह लगा। विशिष्ट व कुलीन होना माना दुर्गुण हो गया। नेता के लिए सम सामान्य और सवसाधारण बनना आवश्यक होने लगा।

फिर भी साम्यवाद ने स्थापित राज्य का जो स्वरूप लिया उसमें धीरे धीरे वर्गिनार्द कम होने लगा। साम्यवाद का और ऊँ मलिनक रंग प्रसादका धीरे धीरे मन बढ़ने लगा। वहां भी नेता के लिए सुविधाओं की ओर से विशिष्ट बनना मानों सहज और ग्राह्य होने लगा।

फिर भी मार्क्स ने जो दृष्टि दी वह जन-सामान्य में गहरी घर कर चुकी थी। समय-समय पर जन-नेता के रूप में प्रगट होते रहने की आवश्यकता राज-नेता के लिए बनी रही। स्टालिन चाहे कहीं रहें महल में चाहे रहें लेकिन वे सबके लिए सुलभ और आत्मीय हैं इसका प्रदर्शन करते रहना उनके लिए जरूरी होता है। इतने मात्र से साम्यवादी देशों में कठिनाई ऊपरी तौरपर हल हो जाती है यदि वहीं नीचे असन्तोष हो तो वह ऊपर फटे बिना रह भी सकता है।

किन्तु भारत की हालत उससे दूसरी है। गांधी ने अपनी राज्य के रहते हुए भी भारत देश के मन पर इतने लम्बे काल तक एकछत्र राज्य किया। जिस तन्त्र द्वारा उस महात्मा का राजकाज चलता था उसका कांग्रेस था। नाम कांग्रेस का बड़ा कारोबार था। लम्बा चौड़ा दफ्तर उसके लिए जरूरी होता था। लेकिन गांधी की राजधानी सेवाग्राम थी जहां फूस की कुटिया थी। सबके बीच चटाई पर वह राज गजन्वर उठता-बठता-सोता था।

यह चित्र देश के मन से उतरता नहीं है। इसके पीछे उसे अपनी तमाम परम्परा का बल भी मालूम होता है। राम वनवासी हो गये कृष्ण ग्वाल-बाल के संगी-साथी बनकर रहे। इत्यादि उदाहरण भारतवासी के चित्त में ऐसे धंठ गये हैं कि वह उन्हीं से अपने नेता और राजा को नापना चाहता है। साम्यवाद तो चाहे समझौता कर भी ले लेकिन भारतीय मानस की यह मांग समझौता कर नहीं पाता है। आज का संकट ठीक इसी कारण विकट बन गया है और विकटतर बनता जाता है।

मामूली तौर पर राजा को प्रजा अपने बीच राजा बनाकर रखना चाहती है। उसी तरह आज का राज-नेता भारत के दूतावासों को सब के और रहन

दलीय उपाय ?

इस समय जो प्रश्न उपस्थित होता है वह है नेतृत्व का प्रश्न। राज की नीति समाज की नीति से बहुत भिन्न नहीं हो सकती। अर्थात् राज-नेतृत्व को जाने-अनजाने समाज-नेतृत्व भी बनकर रहना होता है। जैसा राजा वैसी प्रजा। लेकिन लोग अब उस उक्ति के पलट रूप को अधिक ध्यान में लेने लगे हैं। जैसी प्रजा वैसा राजा। राजा अगर उन्हें ठीक नहीं मालूम होता है तो वे अपने काम के लिए प्रजा की तरफ मुंह करना आवश्यक समझते हैं। 'कामराज योजना' का मतलब है कि राज करने वाला दल स्वयं अनुभव कर आया है कि ध्यान को राज-सत्ता से ज्यादा जन-सत्ता में रखना होगा।

हमारे इस भारत देश का दुर्भाग्य यह है कि यहां हाल में गांधी हो गये हैं। उन्हें हम राष्ट्र पिता कहते हैं साथ महात्मा भी कहते हैं। इस सद्भाग्य को दुर्भाग्य कहते कष्ट होता है। लेकिन इस घटना ने जन-साधारण में अपने राजकर्मियों से ऐसी अपेक्षाएं भर दी हैं कि राज्य की उससे कठिनाई बहुत बढ़ जाती है।

• •

मार्क्स ने एक नया दर्शन संसार को दिया। उसके आधार पर रूस देश में एक नया साम्यवादी राज्य आ गया। राजन्य वर्ग के लिए पहली कठिनाई तो उसने पैदा की। राजा पहले खास आदमी हुआ करता था। अन्दर से बहुत खास हो कि न हो ऊपर से उसे बेहद खास बना कर रखा जाता था। जन्म से वह विशिष्ट होता था और लालन-पालन से भी। बीच में कुछ क्रांतियां हुईं, और राजाओं के सिर कटे। लेकिन क्रांति बीतते ही समाज की स्थिति फिर पहले जैसी हो गई। मानो प्रजा में हाकिम को अफसर को राजा को फिर उसी ऐश्वर्य और आडम्बर के बीच देखने की आदत और आशा जग आई। प्रजा ऊपर आंख उठाकर राजवैभव की ओर देखती थी और उस विभुता में उसे सन्तोष होता था। सबसे बढ़-चढ़कर न हो तो वह राजा ही क्या ? वैभव और ऐश्वर्य से उसे मण्डलित होना ही चाहिए। और सचमुच इस वैभव का अन्तर बीच में डालकर राजा के प्रभाव को अनिवार्य और अमोघ बनाया जाता था। रोमान्स की भांति यह प्रजा जनको प्रिय होता था अब भी कहीं-कहीं प्रिय होता है। लेकिन मार्क्स ने इस धन-वैभव की सत्ता के बारे में कुछ ऐसी दृष्टि लोगों के मनों में उतार दी कि उसका आतंक और प्रभाव जाता रहा। पहले यदि उसके प्रति प्रशंसा का भाव होता था तो इस नये दर्शन के सहारे निन्दा का भाव जागने लग गया। पहले वैसा शासक पोषक और रक्षक समझा जाता था।

आज भी प्रबुद्ध मानस को छूते और पकड़ते हैं। मानव के ज्ञान विज्ञान में मार्क्स का वाद-दर्शन जिस गहराई तक उतरा है उससे ज्यादा गहराई तक गांधी का कर्म-दर्शन उतर चुका है और उतरता जायेगा। समय के इस निर्देश पर आंख मूंदी नहीं जा सकती। उसको पहचानना ही होगा और नेतृत्व को अपने आचरण द्वारा इस सच्चाई की मिसाल बनना होगा कि समझे जाने वाले जीवन मान की ऊंचाई से और खर्च की बड़ाई से आदमी बड़ा नहीं होता है बड़ा नैतिक गुणों से और सेवा के स्वभाव से हुआ जाता है। इन बातों को भावुकता की कहकर टालने से प्रजा और राजा के बीच की बढ़ती हुई खाई को और बढ़ने से रोका नहीं जा सकेगा। यही हाल रहा तो धीरे धीरे हाइकमान के एक एक सदस्य को अपनी जगह पर अपराधी बनना पड़ जायेगा। हर आदमी अच्छी तरह रहना चाहता है और जो सब के लिए खुशहाली का बीड़ा उठाते हैं उनसे यह दावा रखना चाहता है कि वे पहले उसे खुशहाल बनायेंगे। हो तो पीछे ही खुशहाली अपनायेंगे नहीं तो नहीं अपनायेंगे। वह अगर यह देखेगा कि उसके स्वयं के हाल खस्ता हैं जबकि भलाई की राह पर थोड़ी दूर चलकर अमुक महाशय जरा में मालामाल हो गये हैं तो निश्चय रखिए कि भ्रष्टाचार को रोकने की कोई योजना कारगर होने वाली नहीं है।

अप्रैल '६४

□ □ □

सहन मे मामले म किसी भी देश की बराबरी पर रखना चाहता है। गाधी ने कहा था कि यह भूल है। देश गरीब है तो उसके प्रतिनिधि को गरीब दीखने में शर्म किस बात की होनी चाहिए! लेकिन गाधी की यह बात जिसको गेल-शाव रख कर गज करता है उस राजनेता की समझ मे नही आई। परिणाम यह हुआ और हो रहा कि जो गाधी की याद करता है उसे अपना स्वराज्य अपनी ही आशाओ और अपेक्षाओ स उल्टा मालूम होने लगता है और इस विडम्बना को वह समझ नही पाता।

मैं मानता हू कि समय पीछे नही जा सकता। मार्क्स के दर्शन ने यह बात हमेशा के लिए सब के मनो पर नक्श कर दी है कि गरीबी अगर है तो उसके साथ चलने वाली अमीरी म शोषण का दोष अवश्य है। मार्क्स की इस बात के ऊपर गाधी ने आगे बढकर यह और दिखा दिया है कि सच्चा आदमी वही है वही हो सकता है जो कम चाहता और कम रखता है जो विशिष्ट बनने से उल्टे सेवक बनने की कोशिश म रहता है। यह दोनों दर्शन किसी भी तरह मिटाये नही जा सकते। बल्कि दिन दिन वे उजागर और अमोघ ही होते जाने वाले हैं। जो नेतृत्व इन नये मूल्यो को अपने से ओझल रखेगा वह सदा खतरे म और डगमग ही रहने वाला है। वह कभी जम नहा सकगा। अपनी रक्षा के लिए उसे सदा तिकडम का सहारा लेना होगा। जब तक मन न जीता जाए तब तक जनसाधारण के अस्तित्व का विघ्न बनाकर अपनी हुकूमत चलाना यदि सम्भव हो भी तो वह कुछ दिनों के लिए ही हो सकता है। उस शासन म स्थायित्व नहीं आ सकता नही आ सकता!

आज लगता है शासन-सत्ता को गाधी के वे मूल्य याद नही रह गये हैं। इस क्षति के रहते हुए हम आर्थिक और औद्योगिक और समाजवादी और जनतत्रीय और स्वातत्र्यवादीय अथवा साम्यवादीय चर्चा कितनी भी करें उससे वह क्षति भर नही सकती। बातें उस घाव पर मरहम का काम दे भी जायें इलाज का काम किसी हालत म नहीं दे सकती।

एक ही उपाय है। सकट दूसरी तरह टलना असम्भव है। वह उपाय यह कि नेतृत्व समय से पिछडे नही आगे बढे। समय को उलट कर कोई चला सकता है यह सम्भव नही है। समय को रोकने से प्रलय फूट निकले तो विस्मय की बात न होगी। गाधी की बातो को पुरातन और जीर्ण और ग्राम्य कहकर इस ऐतिहासिक यथार्थ को किसी तरह समाप्त नही किया जा सकता कि इसी विज्ञानवादी बीसवी सदी के राजकारण म गाधी ने चमत्कार दिखाया था और उसके दा-

आज भी प्रबुद्ध मानस को छूते और पकड़ते हैं। मानव के ज्ञान विज्ञान में मार्क्स का वाद-दर्शन जिस गहराई तक उतरा है उससे ज्यादा गहराई तक गांधी का कर्म-दर्शन उतर चुका है और उतरता जायेगा। समय के इस निर्देश पर आंख मूंदी नहीं जा सकती। उसको पहचानना ही होगा और नेतृत्व को अपने आचरण द्वारा इस सच्चाई की मिसाल बनना होगा कि समझे जाने वाले जीवन-मान की ऊंचाई से और खर्च की बढ़ाई से आदमी बड़ा नहीं होता है बड़ा नैतिक गुणों से और सेवा के स्वभाव से हुआ जाता है। इन बातों को भावुकता की कहकर टालने से प्रजा और राजा के बीच की बढ़ती हुई खाई को और बढ़ने से रोका नहीं जा सकेगा। यही हाल रहा तो धीरे धीरे हाइकमान के एक एक सदस्य को अपनी जगह पर अपराधी बनना पड़ जायेगा। हर आदमी अच्छी तरह रहना चाहता है और जो सब के लिए खुशहाली का बीड़ा उठाते हैं उनसे यह दावा रखना चाहता है कि वे पहले उसे खुशहाल बनायेंगे। हो तो पीछे ही खुशहाली अपनायेंगे नहीं तो नहीं अपनायेंगे। वह अगर यह देखेगा कि उसके स्वयं के हाल खस्ता हैं जबकि नेताई की राह पर थोड़ी दूर चलकर अमुक महाशय जरा में मालामाल हो गये हैं तो निश्चय रखिए कि भ्रष्टाचार को रोकने की कोई योजना कारगर होने वाली नहीं है।

अप्रैल ६४ □ □ □

सहन के मामले में किसी भी देश की बराबरी पर रखना चाहता है। गांधी ने कहा था कि यह भूल है। देश गरीब है तो उसके प्रतिनिधि को गरीब दीखने में शर्म किस बात की होनी चाहिए! लेकिन गांधी की यह बात जिसको रोब-दाब रख कर राज करना है उस राजनेता की समझ में नहीं आई। परिणाम यह हुआ और हो रहा कि जो गांधी की याद करता है उसे अपना स्वराज्य अपनी ही आशाओं और अपेक्षाओं से उल्टा मालूम होने लगता है और इस विडम्बना को वह समझ नहीं पाता।

मैं मानता हूं कि समय पीछे नहीं जा सकता। मार्क्स के दर्शन ने यह बात हमेशा के लिए सब के मन पर नक्श कर दी है कि गरीबी अगर है तो उसके साथ चलने वाली अमीरी में शोषण का दोष अवश्य है। मार्क्स की इस बात के ऊपर गांधी ने आगे बढ़कर यह और सिखा दिया है कि सच्चा आदमी वही है, वही हो सकता है जो कम चाहता और कम रखता है जो विशिष्ट बनने से उल्टे सेवक बनने की कोशिश में रहता है। यह दोनों दर्शन किसी भी तरह मिटाये नहीं जा सकते। बल्कि दिन दिन वे उजागर और अमोघ ही होते जाने वाले हैं। जो नेतृत्व इन नए मूल्यों को अपने से ओझल रखेगा वह सदा खतरे में और डगमग ही रहने वाला है। वह कभी जम नहीं सकता। अपनी रक्षा के लिए उसे सदा तिकड़म का सहारा लेना होगा। जब तक मन न जीता जाए तब तक जनसाधारण के अस्तित्व को विवश बनाकर अपनी हुकूमत चलाना यदि सम्भव हो भी तो वह कुछ दिनों के लिए ही हो सकता है। उस शासन में स्थायित्व नहीं आ सकता नहीं आ सकता।

आज लगता है शासन-सत्ता को गांधी के वे मूल्य याद नहीं रह गये हैं। इस क्षति के रहते हुए हम आर्थिक और औद्योगिक और समाजवादी और जनतंत्रीय और स्वातन्त्र्यवादीय अथवा साम्यवादीय चर्चा कितनी भी करें उससे वह क्षति भर नहीं सकती। बातें उस घाव पर मरहम का काम भले ही करें, इलाज का काम किसी हालत में नहीं दे सकतीं।

एक ही उपाय है। संकट दूसरी तरह टलना असम्भव है। वह उपाय यह कि नेतृत्व समय से पिछड़ नहीं आगे बढ़े। समय को उलट कर कोई चला सकता है यह सम्भव नहीं है। समय को रोकने से प्रलय फूट निकले तो विस्मय की बात न होगी। गांधी की सत्ता को पुरातन और जीर्ण और ग्राम्य कहकर स्यूडएनिहालिम पर्याय या किसी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता कि इसी विज्ञानवादी बीसवीं सदी के राजकारण में गांधी ने चमत्कार दिखाया था और उसके नाम

सेल्फ रियेसाइजेशन नहीं अपनी भाषा का वीजन (Vision) नहीं दर्शन सम्यक नहीं आत्मपरक नहीं तो आज का यह अर्थ दर्शन-समाज-दर्शन राजनीति-दर्शन सब मिथ्या है। सच्चा ज्ञान सम्यक दर्शन पर आधारित होना है अन्यथा वह अज्ञान है क्योंकि उसके संदर्भ में सम्यक नहीं है आज तो को एफिसिएंट (Co Efficient) पर सब कुछ निर्भर करता है पर देखना यह है कि कोई राशि किस खाते में लिखी गई है जमा खाते में या ऋण खाते में।

अब देन का प्रश्न लीजिये। देन दो प्रकार की होती है। एक तो ऐसी देन जिसके विषय में हम कहते हैं कि इस पर मिट्टी डालो। दूसरी वह जिस पर हम अनुसंधान कार्य करते हैं। एक आदमी मोहल्ले में रहता था मर गया। बहुत कुछ कर गया। किन्तु उसके कृतित्व के विषय में कुछ कहते हैं कि साहब उस पर मिट्टी डालो उसे भूलने में ही खैरियत है। इतिहास भी उसे भुला देता है। इतिहास में अनेक सम्राट आये और चले गये। हम उनकी राजनीतिक देन खोजते हैं। मुसलमानों के यहां तो पुत्र बाप को अपने रास्ते से साफ करता आया है। लोग उन्हें भूल जाते हैं।

पिछले ढाई हजार वर्षों में क्या-क्या कुछ नहीं हुआ होगा पर उस समय एक महावीर हुए। आज हम अनुसंधान करते हैं कि उन्होंने हमारे लिये क्या क्या छोड़ा। लोग कहते हैं उन्होंने यह छोड़ा वह छोड़ा। यह त्यागा वह त्यागा। उनमें त्याग की महिमा गाई जाती है। पर जब छोड़ने की बात कही जाती है तो मुझे तकलीफ होती है। मैं पूछता हूं कि अधिक महत्व किसका है जो छोड़ा उसका या जो पाया उसका? जन शास्त्रों में त्याग की जितनी महिमा गाई गई है जन लोग उतने ही अधिक संग्रह धर्मी हैं। ऐसा क्यों होता है? कारण स्पष्ट है कि हमारा ध्यान जो छोड़ा उसकी ओर अधिक रहता है प्राप्य की ओर कम। यदि आप महल छोड़कर कुटी में चले जाते हैं तो कुटी बड़ी है महल नहीं। क्योंकि कुटी महान उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक है। अतः पाया बड़ा है छोड़ा बड़ा नहीं।

महावीर ने कोई साहित्य रचना नहीं की। महावीर के तो कहते हैं ही क्या अणु अणु से गदगद ध्वनि विकीर्ण होती थी जिसे गणधरों ने वाणी दी। आचार्यों ने उसके आधार पर रचना की और हम आज उसके अनुसंधान की बात कर रहे हैं। यह दूसरे प्रकार की देन है। इसी से साहित्य साहित्य बनता है। महावीर तो ज्ञान के सूर्य थे। यदि उस सूर्य की एक किरण भी, एक कण भी हम पा जाते हैं तो हम प्रकाशमय हो जाते हैं। हमारा व्यक्तित्व इतना विशाल हो जाता है कि हम 'स्व' को भूलकर दूसरों के विषय में सोचने लगते हैं कि

यह बताते हैं कि अभिमान अभी टूटा नहीं है इसीलिये कैवल्य ज्ञान प्राप्त नहीं हो रहा है। धीरे धीरे लोगों की भीड़ छट जाती है। भक्तों का मेला हटते ही अभिमान टूटता है। ज्ञानी लोग बाहुबली को अपना लेते हैं और कैवल्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यदि पाठक कहानी के सार को समझ लेते हैं तो कथाकार का प्रयास सफल हो गया।

आज की यह सभा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्वावधान में हो रही है और हिन्दी मेरी अपनी भाषा है अतः अपनी बात नहीं कहता। उन लोगों की बात करता हूँ जो जयहिन्द कहते हैं। हिन्द का जो कुछ है उसकी बात कहता हूं। हम भारतवासियों को समझ लेना चाहिये कि हिन्दी की जय हिन्द की जय है अंग्रेजी की जय हिन्द का पराजय है। हिन्दी की जय के बिना हिन्द की जय नहीं हो सकती। यह बात मैं एक विनम्र नागरिक की हैसियत से कहता हूं। यदि भारत में प्रजातन्त्र को रहना है तो जन साधारण में बोली तथा समझी जाने वाली भाषा का सहारा लेना होगा। हिन्दी हिन्द की है उसका सहारा लेना होगा। यदि हम इसका सहारा नहीं लेंगे तो भारत की जय नहीं होने वाली है।

आप देखेंगे कि हर एक धर्म का कोई न कोई केन्द्रीय व्यक्ति और केन्द्रीय ग्रन्थ है। पर हिन्दुओं के अनेक आचार्य अनेक शास्त्र ग्रन्थ और अनेक देवता हैं। अर्थात् हिन्दु शब्द किसी एक सत्ता से बंधा नहीं है। फिर भी आज हिन्दु शब्द में कुछ साम्प्रदायिकता का बोध आ गया है।

आज भी हम भारतवासियों के पास एक शब्द है जो किसी एक स्थान वर्ग, सम्प्रदाय तथा प्रदेश से बंधा नहीं वह संकीर्ण नहीं है और वह है 'हिन्दी'। कुछ लोगों के ओछेपन को छोड़ दीजिये। हिन्दी की अवज्ञा का शोर मचाने वालों की बात छोड़ दीजिये। हिन्दी के इन्हीं दावेदारों के कारण हिन्दी पर साम्राज्य वाद का आरोप लगा है। थोड़ी सूक्ष्मता के साथ देखिये तो पता लगेगा कि हिन्दी शब्द हिन्द के साथ सीधा जुड़ा है। हिन्दी भाषा की जय नहीं होगी तो हिन्द की जय हो नहीं सकती। यदि वेशभूषा और टेबल मैनर्स की वजह से अंग्रेजी का महत्व है तो यह अहिंद की जय है हिन्द की नहीं।

मैं किसी प्रकार के मोह के कारण ऐसा नहीं कह रहा हूं—हिन्द के एक प्रेमी के नाते कह रहा हूं। हिन्दी हमारी राष्ट्रीय एकता की प्रतीक है। यह हमारी धर्मपरायण संस्कृति का प्रतिबिम्ब है और उसी संस्कृति के प्रति लगन होने के कारण मैं यह कह रहा हूं। हमारी गतिविधि अंग्रेजी के अनुसार चलती रही जिसमें धरपकड़ प्रोडक्शन आदि है तो हमारा विकास नहीं होगा। हमारा विस्तार नहीं होगा। यदि हमारे ज्ञान में आत्मोपलब्धि नहीं

सेल्फ रियेलाइजेशन नहीं अपनी भाषा का वीजन (Vision) नहीं दर्शन सम्यक् नहीं, आत्मपरक नहीं तो आज का यह अर्थ दर्शन-समाज-दर्शन राजनीति-दर्शन सब मिथ्या है। सच्चा ज्ञान सम्यक् दर्शन पर आधारित होता है अन्यथा वह अज्ञान है क्योंकि उसके संदर्भ में सम्यक् नहीं है आज तो को एफिसिएन्ट (Co Efficient) पर सब कुछ निर्भर करता है पर देखना यह है कि कोई राशि किस खाते में लिखी गई है जमा खाते में या ऋण खाते में।

अब देन का प्रश्न लीजिये। देन दो प्रकार की होती है। एक तो ऐसी देन जिसके विषय में हम कहते है कि इस पर मिट्टी डालो। दूसरी वह जिस पर हम अनुसंधान कार्य करते हैं। एक आदमी मोहल्ले में रहता था मर गया। बहुत कुछ कर गया। किन्तु उसके कृतित्व के विषय में कुछ कहते हैं कि साहब उस पर मिट्टी डालो उसे भूलने में ही खैरियत है। इतिहास भी उसे भुला देता है। इतिहास में अनेक सम्राट आये और चले गये। हम उनकी राजनीतिक देन खोजते हैं। मुसलमानों के यहां तो पुत्र बाप को अपने रास्ते से साफ करता आया है। लोग उन्हें भूल जाते हैं।

पिछले ढाई हजार वर्षों में क्या-क्या कुछ नहीं हुआ होगा पर उस समय एक महावीर हुए। आज हम अनुसंधान करते हैं कि उन्होंने हमारे लिये क्या क्या छोड़ा। लोग कहते हैं उन्होंने यह छोड़ा वह छोड़ा। यह त्यागा वह त्यागा। उनके त्याग की महिमा गाई जाती है। पर जब छोड़ने की बात कही जाती है तो मुझे तकलीफ होती है। मैं पूछता हूं कि अधिक महत्व किसका है जो छोड़ा उसका या जो पाया उसका? जैन शास्त्रों में त्याग की जितनी महिमा गाई गई है जैन लोग उतने ही अधिक संग्रह धर्मी हैं। ऐसा क्या होता है? कारण स्पष्ट है कि हमारा ध्यान जो छोड़ा उसकी ओर अधिक रहता है, प्राप्य की ओर कम। यदि आप महल छोड़कर कुटी में चले जाते हैं तो कुटी बड़ी है महल नहीं। क्योंकि कुटी महान उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक है। अत पाया बड़ा है छोड़ा बड़ा नहीं।

महावीर ने कोई साहित्य रचना नहीं की। महावीर के तो .. है से ही क्या अणु अणु से व्याप्त ध्वनि निकाली होगा की जिसे गणधरों ने वाणी दी। आचार्यों ने उसके आधार पर रचना की और हम आज उसके अनुसंधान की बात कर रहे हैं। यह दूसरे प्रकार की देन है। इसी से साहित्य साहित्य बनता है। महावीर तो ज्ञान के पुंज थे। यदि उस पुंज की एक किरण के, एक कण भी हम पा जाते हैं तो हम धन्य हो जाते हैं। हमारा व्यक्तित्व इतना विशाल हो जाता है कि हम 'स्व' को भूलकर दूसरों के विषय में सोचने लगते हैं कि

किसी प्रकार सबको मोक्ष मिल जाये। यहाँ पहुँचकर मैं की भाषा समाप्त हो जाती है और व्यक्ति तीर्थंकर बन जाता है। इसके अलावा अरहंतत्व और क्या है? कोई किसी के दुःख में दुःखी हुआ कि वह आनन्दमय हो गया। दर्द हद से गुजरा तो दवा हो गया। यही प्रेम का कण प्रकट हुआ उसकी अभिव्यक्ति हुई तो साहित्य बन गया। अपने को विसर्जित करके ही साहित्य की रचना की जा सकती है और उसी के कारण लोग साहित्यकार को याद करते हैं।

अन्त में मैं एक बात जैनों को कहता हूँ कि वे जैनेतर लोगों के गुण देखें। यही वास्तविक अहिंसा है। अपनी पूजा करने का भाव हिंसा है। दूसरों से टकराना हिंसा है। यदि आपमें यह भावना रही कि यह धर्म हमारा है तो फिर अन्य लोग कहेंगे कि ठीक है आप इसे मानें उनका इस से क्या सम्बन्ध है। इस प्रकार उन्हें कोई नहीं पूछेगा। स्व का भाव भुलाया तो जैनों की देन को सब लोग अपनाएंगे। आप का जलूस निकले तो लोग अनुभव करें कि यह उनका भी है केवल आपका ही नहीं है। अपने धर्म को विश्व धर्म बनाने की जिम्मेदारी हमारी है। हमारे धर्म की ऊंचाई हमसे ऊंची नहीं जा सकती। धार्मिक के बिना कोई धर्म ऊंचा नहीं बन सकता। अहिंसा को छोड़ कर आज दूसरा रास्ता भी क्या है? है तो वह विनाश का है। लोग बम बना तो रहे हैं। पर लोगों की समझ में यह रास्ता नहीं आ रहा। यह तो मरने का रास्ता है और अहिंसा तो जीने का रास्ता है यह बताने की जरूरत नहीं। आज तो श्रद्धा और बुद्धि में संघर्ष है। कुछ लोग धर्म को अफीम बताते हैं पर मैं तो कहता हूँ कि साम्यवाद भी एक धर्म है वह नये किस्म की अफीम है। उसमें भी दूसरे से टकराने की बात है, अपने को श्रेष्ठ बताने का भाव है। यह तो अहिंसा का मार्ग नहीं है भारतीय नहीं है। आज के दिन हम देखें कि हम क्या करें कि लोग हमारी देन को याद करें।

अगस्त ५८

■ ■ ■

दिल्ली प्रादेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा आयोजित गोष्ठी में हुए भाषण से—

राष्ट्र भाषा का प्रश्न और भावनात्मक एकता

मैं इतनी दूर देहली से दक्षिण के अभिनन्दन के लिए यहां आया हूं। देहली को देश की आप दहलीज ही मानिये सच मानिये कि वह अभ्यन्तर नहीं है। द्वार के आस पास आडम्बर रहता है। दिखावा जो हो सब वहीं रखा जाता है। लेकिन वह तो घर का सामना भर है। घर का मर्म और रहस्य तल। सुख-दुख आशा-स्पृहा आकांक्षा अभीप्सा घर के भीतर गहरे में रहती हैं द्वार पर उघड़ी नहीं होती। जब यहां का निमन्त्रण मिला। तो यही अनुभव किया था कि द्वार से हट कर मैं अब देश के अभ्यन्तर में जाने का अवसर पा रहा हूं। इस कृतार्थता को इसलिये मैं छोड़ नहीं सका। सच मानिए उत्तर यदि देश की लड़ाइयों के लिए मैदान बनकर रहा है तो दक्षिण मन्दिरों, वैसे यों का प्रदेश है। जहां भारतीयता अभी उतनी छिन्न भिन्न नहीं हुई है और जहां जीवन की सहज वृत्ति पर माल-असबाब उतना सवार नहीं हो पाया है।

मैं उत्तर के खंड से आया हूं, जहां भाषा हिन्दी है। वह वहां की सहज भाषा है और सीखे बिना भी आ जाती है। यहां इस अवसर के साथ आपने इस संस्था की रजत जयन्ती का उत्सव मनाया है जिसने अपने पच्चीस वर्ष के जीवन में सतत हिन्दी भाषा सीखने-सिखाने का प्रचार किया है। मुझ जैसे व्यक्ति पर देश की ओर से उसका यह इतना बड़ा ऋण है कि उससे कभी उऋण हो सकूंगा यह मैं जानता नहीं हूं। शायद उऋणता सम्भव नहीं है। सम्भव हो तो इसी प्रकार सम्भव हो सकती है कि आप की तमिल भाषा को ही नहीं बल्कि अन्यान्य दक्षिण की भाषाओं को भी मैं इतना ही आत्मीय बना पाऊं, जैसे आपने हिन्दी को बना लिया है। यहां आकर अपनी यह लज्जा पहले ही आपके समक्ष प्रकट कर देना मेरा कर्तव्य है कि मैं कोई भी आपकी दक्षिण की भाषा नहीं जानता हूं। फिर किस अधिकार से मैं यहां बोलने आ गया हूं?

अधिकार केवल आपकी कृपा का है। यह अधिकार ऐसा है जिसको लेकर मैं गर्व नहीं मान सकता, नम्र ही बन सकता हूं।

हम यहां देश की सभी भाषाओं के लोग इकट्ठे हो गए हैं। हिन्दी को लेकर ऐसा अवसर नहीं हुआ करता है। हिन्दी में इतनी सुविधा नहीं मानी जाती। समूचे देश की सभाएं होती हैं तो अंग्रेजी भाषा से काम लिया जाता और उसी माध्यम को अधिक सुभीते का समझा जाता है। अंग्रेजी अंग्रेजों की भाषा है और अभी कुछ बरस पहले तक अंग्रेजों का यहां राज था। वह राज्य सारे देश पर छा गया था और इसलिए अंग्रेजी से यह लाभ हो जाता था कि लोग भाषा प्रदेश की सीमाओं के पार अपने प्रभाव को फैला सकते थे। उस समय ऐसा बताया और समझा जाने लगा था कि राष्ट्रभाव इस भारत देश में अंग्रेजों से और अंग्रेजी से आया है। अन्यथा भारत बिखरा और बटा हुआ था और उसमें एक राष्ट्रता का भाव न था। अंग्रेजी भाषा जो अंग्रेजी राज्य के सहारे ही देश में अपने को एक अनुभव करने की यह मजबूरी देखी तो गांधी जी को इसमें खटका मालूम हुआ। उन्हें प्रतीत हुआ कि यह एकता नहीं होगी। यह तो खिंची और फर्जी एकता रह जायगी। उन्हें यह आवश्यक मालूम हुआ कि भारत अपना विकास भारत रहकर करे। उनकी उन्नति आत्मवान् उन्नति हो और अपने अंतरंग की कीमत में देकर विधान या राज्य की एकता उसे खरीदनी न पड़े। इसीलिये शुरू में उन्होंने यहां सुदूर दक्षिण में हिन्दी प्रचार की नींव डाली और अपने पुत्र देवदास को इस काम के लिए अर्पण किया। हिन्दी उनकी मातृ भाषा न थी। भाषा गुजराती थी और अंग्रेजी में लिखना पड़ा। उसे छोड़कर अपने अंतर मन की सब बात उन्होंने गुजराती में ही प्रगट की। लेकिन भारत प्रेम के नाते हिन्दी से उनका अनन्य प्रेम और उस पर अनन्य आग्रह रहा। कारण भारत के सम्बन्ध में उनकी आकांक्षा इतनी ही नहीं थी कि वह राजनीतिक रूप से स्वाधीन देश होगा। बल्कि उसमें यह भी शामिल था कि स्वाधीनता का वह ऐसा उपयोग करेगा कि भारत की संस्कृति और उसकी विशेषता दुनिया के लिए प्रकाश बनेगी और संकट में से एक त्राण का मार्ग एक दिन विश्व के लिए खोल सकेगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आज के इतिहास में अगर संस्कृति की कोई परम्परा आदिम प्राचीन से सम्प्रति वर्तमान तक अविच्छिन्न कही जा सकती है तो वह भारतीय संस्कृति ही है। यह आरोप कि भारत अंग्रेज से पहले राष्ट्र के रूप में एक न था। अगर सच भी हो तो स्वयं यह आवश्यक बनता है कि प्रच लित राष्ट्र भाव की हम जांच पड़ताल करें। कारण यदि राजनीतिक राष्ट्र के

रूप म भारत अपने इतिहास भर म कभी एक नहो रहा तो भी केवल इस भारत के सम्बन्ध में ही सत्य है कि सहस्राब्दियों से यह एक अजस्र और अखंड रूप म टिका आ रहा है। यह एकता व्यवस्था या शासन की नहीं था भाव की, आदश की और अन्तरगता की थी कि काल उसका कुछ बिगाड नहीं सका। इस सत्यता के प्रकाश म शायद हम स्वय राष्ट्र और राष्ट्रवाद के सम्बन्ध म फिर से सोचने की आवश्यकता हो सकती है। यह विचार और पुर्नविचार इसलिए भी जरूरी है कि विश्व म आज का सकट इन्हीं राष्ट्रवादी धारणाओं पर दुम बांधकर खडा हुआ है।

हिन्दी भाषा भाषी के नाते जब मे विनत और मूक ही हो सकता हू तब भारतीय निष्ठा की ओर से मैं आपको बधाई देता हू कि हिन्दी भाषा की भूमिका पर आपने सारे देश को आमन्त्रित और एकत्रित किया है। देश की यह एकता जो व्यवस्थात्मक से आगे भावात्मक होगी। स्वदेशी भाषा अथवा भाषाओं से बिछडी हुई न हो सकेगी।

राष्ट्र म जितनी भाषाए हैं सभी राष्ट्र भाषाए हैं। किन्तु यदि उनम से एक भी ऐसी नही है जिसम राष्ट्र एक हो और केवल एक विदेशी अर्थात् अग्रेजी भाषा ही उस एकता को धारण करने के लिए बच आती है तो यह उस एकता के भविष्य क लिए शुभ सवाद नही है। आपका यह प्रयत्न इसलिए और भी साधुवाद के योग्य है कि अग्रेजी की यह निभरता आज काफी स्वय सिद्ध और फलातकल बनी हुई है।

भाषाओं के सम्बन्ध म विचार करते हुए अजब मालूम होता है जब भाषा बाद का भी एक सकट बनाया जाता है। भाषा एक बोलता है दूसरा समझता है एक लिखता दूसरा बाच लेता है। अर्थात् उसकी सृष्टि 'स्व' से नही 'परस्पर' से होती है। परस्परता का विस्तार और विकास अनिवार्य है। काल और इतिहास का इसके सिवा और दूसरा अथ ही क्या है कि वे परस्परता का उत्तरोत्तर उत्कष साधें। यह प्रक्रिया जब रुकती है तब अवरोध और सकट आन पडता है। अन्य कुछ तो शायद स्वत्व बन भी सकता है और उसको सुरक्षित और बन्द रखने की भी सोच सकते हैं। पर भाषा वह तत्व है जिसे किसी सीमा में पाबन्द नही किया जा सकता। उसका देन मन बाहर की ओर और अन्यान्य क साथ होता ही रहता है। इस प्रक्रिया म भाषाओं म समय क साथ इतना फर्क-अन्तर हो जाता है कि पहचानना मुश्किल है। सस्कृत तो प्राकृत भाषा नहीं है। अपनी सज्ञा स ही वह नियमों द्वारा सवारी और साधी गई भाषा है। पर उस तक म इतना अन्तर आ गया है कि वेदों की भाषा म गति रखने वाले

इने गिने ही संस्कृत विद्वान आज मिलेंगे। इस प्रदेश की तमिल प्राचीनतम भाषाओं में से है। उसकी परम्परा सजीव है और साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। लेकिन आधुनिक तमिल प्राचीन से निश्चय ही भिन्न है।

स्वत्व का सर्वत्व की ओर उन्मुख ही रहना है। इसी में से वह स्वत्व परम्परता के विस्तार के द्वारा विराट और विराट् से विराटतर होता जाता है। भाषाओं के विकास की कहानी में यह सत्य और भी प्रकाशित दीखेगा। भारतीय भाषाओं के बीच हिन्दी की विलक्षण स्थिति है। वह उस रूप में बोली चाली नहीं जाती या बहुत सीमित प्रदेश में बोली जाती होगी। लगभग सब कहीं कुछ-न-कुछ उसका जनपदीय रूपान्तरों ने मिलजुल कर उसे रूप दिया है। वह एक मिश्रित नागरिक भाषा है जिसको लोग हाट-बाट में व्यवहार में लाते हैं और घर-द्वार में पहुंचकर फिर अपनी मूल बोलियों से काम चलाने लग जाते हैं। हिन्दी का इतिहास उस अर्थ में सबसे कम प्राचीन और बदलती हुई परिस्थिति और राजनीति के सबसे अधिक अधीन रहा है। उसके स्वरूप निर्धारण में बाह्य धाराओं का बड़ा प्रभाव है। उसने मानो फलती हुई परम्परता में से उदय पाया है। अभी हाल तक खड़ी बोली हिन्दी को उर्दू से अलग पहचानना मुश्किल था। उर्दू तो कहते ही लश्कर और छावनी को हैं। अर्थात् समय के द्वारा रूप और विकास पाते हुए जीवन की आवश्यकता में से उसका जन्म और पोषण हुआ है। इस तरह उसका रूप कम-से कम सुनिश्चित है और अधिक-से अधिक उसमें अवकाश है। राजनीतिक बल शायद उसमें विशेष है और सांस्कृतिक गाम्भीर्य अपेक्षाकृत कम हो सकता है। व्यापकता का गहराई के साथ अनिवार्य सम्बन्ध भी नहीं है। हिन्दी का उदय और उत्थान उसका विस्तार और रूप निर्माण नाना विकासशील राष्ट्र जीवन के तक से ही हुआ और होता रहा है। फिर भी वह हिन्दी किसी बाहरी प्रसाधन में से ही नहीं उपजी और यह भारत देश मानों धर्म प्राणता द्वारा सदा से एक बना चला आ रहा है और नाना मत सम्प्रदाय इसमें समावेश पाते गये हैं। पुण्य भावना में साधु-सन्त और यात्री-गिरस्ती तीर्थ धामों की प्रदक्षिणा करते हुए एक से दूसरे प्रदेशों में घूमते रहे हैं। भारतीय मानस और मानव की यह यात्रा इतिहास में कभी नहीं रुक पाई है। इसको अवश्य सदा ही किसी-न किसी भाषा का सहारा रहा है। वह भाषा व्यवहारोपयोगी रूप में हमेशा बनी रही है और कभी नष्ट नहीं हुई। अंग्रेज के जाने पर अचानक ऐसा मालूम हुआ कि उसे धरती में मुंह गाड़ना और फैशन के चलन से बाहर हो जाना पड़ा है जिसे आज हम हिन्दी कहते हैं। मूल आधार में वह सीधी उस प्राकृत या प्राकृत या अपभ्रंश की धारा से जुड़ी हुई है। इस भांति जन भाषा

हिन्दी के मूल को इतिहास म गहरा गया हुआ भी देखा जा सकता है। किन्तु यह जन भाषा हिन्दी कोई ऐसी निर्दिष्ट और नियमित भाषा नही है कि अमुक वग या प्रान्त उसके सम्बन्ध में स्वत्व गव रख सके। वह खुली भाषा है बनती और बहती हुई भाषा है। उसमे अपनी अस्मिता नही हो सकती। सभी भाषाओं का अनुदान उसमें पड सकता और उसके रूप निर्माण म अपना भरपूर प्रभाव दे सकता है।

मुझे निश्चय है कि सब भारतीय भाषाओ का भविष्य एक और एक साथ है। एक की उन्नति म सबका उत्कप है। ऐसा हो नही सकता कि एक का बढा दूसरे को प्राप्त न हो। यह अनिवायता वस्तुस्थिति म ही गर्भित है और असम्भव है कि सब भाषाओं की परस्परता अधिकाधिक घनिष्ट न होती जाये। बाधा तब पडती है जब हम एक दूसरे के निकट आते हैं और अपनी अपनी निजता और निजभाषा को छोडकर आते हैं। यह सम्पक जो अंग्रेजी के द्वारा सिद्ध हो जाता है मानो काम-काज तक ही रहता है और आगे दोनो को अलग किनारो पर छोड जाता है। वह परस्पर के आदान प्रदान द्वारा होने वाली हार्दिकता से सूखा रह जाता है और भावात्मक ऐक्य की स्थिति नही पदा होने देता। भाषा के रूप म अंग्रेजी को तमिल या हिन्दी क्या दे सकती है? अंग्रेजी की प्रकृति ही न्यारी है। किन्तु भारतीय भाषाओं की बहुत दूर तक एक ही प्रकृति है। उन सबका अधिष्ठान भी एक ही सस्कृति म है। इस तरह यदि वे सीधे परस्पर सम्बन्ध में आयें तो एक दूसरे म उतरे और रमे बिना नही रह सकतीं। आवश्यकता है कि हम इस तथ्य को जल्दी-से-जल्दी पहचान लें कि सब भारतीय भाषाएं एक साथ हैं और एक भवितव्य में बधी है। अपने आपसी सम्पक के लिए जब वे पराया सहारा लेती हैं तो मानो अपने बीच अन्तर और अनहोनी को मजबूत बनाती और सारे देश को कमजोर करती हैं।

भाषाओं को लेकर यदि कहीं स्वत्व का गव और अहकार देखा जाता हो तो यह राजकारण की देन है। अस्तित्व विग्रह व क्षण म स्वत्व की चिन्ता हठात् हो आती है। स्पर्धा प्रतिस्पर्धा की वासना वहां काम करती है। किन्तु हम जानते हैं कि स्वत्व और परत्व म बीच सघर्ष है तो यह सामयिक है। वह है तो इसीलिए है कि स्व और पर भाव म दान-आदान परस्पर भाव पन्न हो। तात्कालिक कारणों के नीचे तो स्वत्व और परत्व के बीच आग्रह और दुर्भाव बन हो जाते हैं। लेकिन इतिहास साक्षी है कि आदान प्रदान के साथ ही जीवन और उसी के साथ मर भी जाते हैं। उनकी सिद्धि और परिणति क्रम इसम है कि अनबन के नाते ही होते-होते उनम परस्परता और आत्मीयता का निर्माण होता जाये।

इस सभा म हम लोग अधिकाश साहित्यिक हैं। साहित्य की निष्ठा पारस्पय और साहचय म है। तत्काल तो अपना घडी भर का खेल दिखाकर व्यतीत बन जाता है। उस समय व्यक्ति के पास यदि निष्ठा न हो तो वर ही प्रधान धम कम बनता है और भविष्य के लिए अपनी बेल छोड जाता है। आवश्यकता है कि निष्ठावान साहित्यिक राजनीति के मतावेशो के अधीन तत्काल पर हो समाप्त न हो बल्कि वतमान को भावी की दिशा म निर्माण देने की और मूल्यो की भाषा म सोचें। भविष्य की श्रद्धा लेकर वतमान क प्रति व्यवहार करने से ही हम विकास के अगभूत हो सकेंगे अन्यथा विघ्न और बाधा समझे जाएगे। वह राजकारण जो तत्काल को ही प्रधानता देकर चलता है शायद एक के निरा करण म दूसरी समस्या उपजाता जाता है। सम्भव है कि राजकरण की वही मर्यादा हो और उसकी औषधि साहित्य के पास ही बन जाती हो। जो हो दूर-दशन की सुविधा साहित्य को है और यह बडी जिम्मेदारी है।

किन्तु साहित्य इस भाषा म है या उस भाषा म है। मेरी भाषा में या आपकी भाषा म है। इस तरह भारत के पास एक साहित्य नही रहता है अनेक साहित्य हो आते हैं। उतन ही साहित्य कि जितनी भाषाए। राज्य अवश्य एक है सदन एक है कानून एक है सविधान एक है, केन्द्रीय सेवाए एक हैं। साहित्य यहां कम-स-कम चौदह तो है ही यदि साहित्य चौदह हैं तो भारतीय मनोभाव चौदह विभागो म खडित बनें तो क्या आश्चर्य है? कानून और प्रशासन के ज़ोर से देश को अगर एक बना दिखाया या रखा जाता है तो निश्चय जानिय कि वह एकता भ्रामक है। उसम फूट और फटाव के बीज है। दलो और वर्गों के ही नही बल्कि अलग अलग व्यक्तित्वो और स्वत्वो के बीच म भी वहां खिंचाव और तनाव हुआ करता है। अनक वहा इकट्ठे मालम होते हैं लेकिन एक एक अपने अपने नक्शे रखता है। ऐस वहा हर एक अपन दाव और दूसरे की घात में रहता और केवल अपने लिए अवसर देखता हुआ ऊपर से अमुक अनुशासन में चलता हुआ प्रतीत होता है।

साहित्य ठीक इसी जगह राजनीति स भिन्न है। वहां मूल इसी स्वत्व का समपण और हर परत्व का स्वीकार व सत्कार है। इसलिए यद्यपि भाषाए चौदह हैं लेकिन साहित्य एक ह। सच पूछिये तो भारत का ही साहित्य एक नही ह समूचे विश्व का साहित्य एक ह। भाषाओ के भेद से साहित्य म भेद नहीं पडता। कारण साहित्य का सत्य मनुष्य है और साहित्य म भाव की ही प्रधानता है। इस दृष्टि स देखेंगे तो जान पडगा कि राष्ट्र और राष्ट्रवाद के आधार पर बने हुए उपनिवेशो और मतावेशो स उद्धार यदि मानव जाति को

कभी मिलने वाला हो तो वह साहित्य के मूल्यों के स्वीकार पर ही मिलेगा। अन्यथा व्यवहारों में रगड़ और टक्कर होगी उनमें परस्पर विसर्जन का भाव नहीं जागेगा।

आत्मा की ओर से भारतीय साहित्य एक ही है। इस कारण और भी आवश्यक है कि यथार्थ और वास्तव में भी उसके ऐक्य को प्रगट और पुष्ट किया जाय। राजकीय स्तर पर इस सम्बन्ध में काफी कुछ किया जा रहा है। विद्यमान शासकवर्ग कल्पनाशील है और इस ओर बहुत कुछ आगे भी करना चाहता है। किन्तु शासन और शासक की मर्यादाएँ हैं। शक्ति के शासन से आकर उसका कर्तृत्व मानव हृदय पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। इसलिए एकता का काम स्वयं जन मन और जनशक्ति के सयत्न से किया जाना चाहिए। उसका अभिक्रम ऊपर के बजाय मूल से आना चाहिए और विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों को स्वयं अपने हित में इस दायित्व की ओर ध्यान देना है।

यह दुःख की बात है कि भाषाओं में साहित्य के बारे में परस्पर घोर अपरिचय है। संस्थाओं द्वारा होने वाला काम इस विषय में हमेशा अधूरा रहता है। व्यावसायिक प्रतिभा को सामने आना चाहिए जो प्रणालियों का निर्माण करे और आदान प्रदान के प्रवाह को परस्पर सहज कर दे। वर्तमान में सिनेमा और कला आदि के क्षेत्र सांस्कृतिक एकसूत्रता की दिशा में काम करते भी हैं तो वह अपर्याप्त रहता है। उनका स्तर गम्भीरता तक नहीं उठ पाता। शब्द का माध्यम वह है जो भाव के साथ विचार का भी वहन करता है। गम्भीर भावना के स्तर पर यदि भारत को एक और समग्र बन कर विश्व के समक्ष आना हो तो वह साहित्यिक और नैतिक समता के साधन और गठन से ही हो सकता है।

उस समता का गठन कैसे हो? स्पष्ट है कि अहम् भाव से हम बटे हुए हैं। यदि एक होने हैं तो तो किसी परम भाव में ही हो सकते हैं। इसीलिए राजनीति में से एकता पाना असम्भव बना रहता है। अनेकता को बाँधने से तो एकता आती नहीं है और राजनीति का प्रयत्न पूरा ऐसा ही हुआ करता है। वहाँ शक्ति की भूमिका है और बहुसंख्यक की प्रतिष्ठा के आधार पर यदि होती तो एकता होती है। उसमें अल्पमत का रहना पड़ता है। इसीलिए यह एकता चिरस्थायी नहीं हुआ करती अवमानना हो जाती है। सांस्कृतिक समता के गठन के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक विविधता के प्रति आदर हो और मानसिक धरातल पर सबको लेकर परस्पर आदान प्रदान की सम्भावना भी हो। माँग ही प्रमुख मनोवृत्ति न रहे। इस उत्तर दायित्व के लिए स्तर ...

सगठन बन जाता ह और राजनीतिक समस्या पदा करने लगता ह।

हमारी भाषाए आपस में जितनी दूर हैं असल मे वे उतनी दूर हैं नहीं। सब जगह सस्कृत के तत्सम् और तद्भव शब्द बहुतायत म मिलेंगे। क्रियापद आदि मे कुछ भेद हो सकता ह। लेकिन अधिक भेद और अतराय लिपि भेद के कारण होता है। सस्कृत के कारण देवनागरी लिपि सब के लिए पहले से ही परिचित ह। वर्णमाला की आकृति भिन्न हो सकती है आधार सब जगह लगभग अभिन्न ह। सब भाषाए अपनी विशिष्ट लिपि के साथ यदि नागरी लिपि को भी अपनाने लग जाए तो आपस की खाई काफी कम हो सकती है।

देवनागरी लिपि यदि भारतीय बनती ह तो आज के वेग के साथ ठहरने के लिए उसम आवश्यक सुधार भी जल्दी किए जा सकत हैं। यदि वह लिपि हिन्दी की ही हो तो अमुक स्वत्व भाव आवश्यक राष्ट्र भाव की राह में बाधक बन कर आड आ सकता ह।

विभिन्न भाषाओ म आपसी परिचय ही काफी नही है बल्कि उत्तम की दिशा म सह भाव भी आवश्यक ह। इसके लिए एक मासिक पत्रिका की व्यवस्था होनी चाहिए जो भारत के उत्कृष्ट की प्रतिनिधि हो। माता वाणी द्वारा भारत उस विधि इतर देशो के प्रति आत्मदान सम्पन्न करता हो।

एक केन्द्रीय पुरस्कार भी इसम सहायक होगा। उसकी प्रतिष्ठा नोबेल पुरस्कार के समान होनी चाहिए और पूरी निष्पक्षता की सुरक्षा होनी चाहिए। उसम भाषा का प्रश्न न हो और प्रतिवर्ष एक भारतीय कृति समक्ष आती रहे जिसके उपलक्ष स सब साहित्य स्फूर्ति और दिशा प्राप्त करे।

उत्कृष्ट कृतिया के चुनाव और उनके अनुवाद की व्यवस्था आवश्यक है। जिसम सरकार का हाथ न हो। अनुवादो के प्रकाशन और वितरण आदि की सरकारी सहायता की जा सकती।

अधिकाधिक एसे समागम होने चाहिए जहां विविध भाषाओं के साहित्य कार निकट परिचय म आए।

सबसे मुख्य बात यह ह कि साहित्य बाजार की विडम्बनाओं से मुक्त हो। साहित्य भी यदि एक पेशा बन जाता ह तो उसकी गति नीचे को खिसकती है, ऊपर नही उठ पाती। यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है और उसका सम्बन्ध मानो समाज-व्यवस्था स ही हो जाता ह। आर्थिक सभ्यता साहित्य को मनुरजन तक नीचे खींच लायेगी दायित्वपूर्ति तक न उठने देगी। यदि अपने लिखे को खुले बाजार म बेच कर जीविका चलाने का भार साहित्यकार के पास रह जाता है तो कोई कारण नही है कि मांग और उत्पादन का सिद्धांत यहां निकले और

वे सब दोष इस क्षेत्र म भी आ जाए जो निरे व्यापार व्यवसाय के माने जाते हैं। इस प्रश्न पर मैं इस समय यहां अधिक नहीं कहूंगा। लेकिन साहित्य के उत्कर्ष और उसके प्रभाव और दायित्व के प्रति जिनका ध्यान ह उन्हें इस सम्बन्ध म विचारने की आवश्यकता ह। कागज इतना बन और छप रहा ह कि उसी के कारण शब्द की शक्ति क्षीण हुई जा रही ह। उसी क्षीणता का अंत करना और क्षमता की प्रतिष्ठा करना है। आवश्यक ह कि साहित्यकार समाज निर्माण के प्रश्नों के बारे में असावधान न रहे और उस क्रान्ति का अध्वयु बने जो इस अणुयुग म मूल्य क्रांति से कम नहीं हो सकती ह।

अन्त में मैं आपका इतना समय लेने के लिए क्षमा चाहता हू और इस आशा के साथ वक्तव्य समाप्त करता हू कि भारतीय भाषा साहित्य पर निर्भरता छोड़ेगा और भारतीय भाव म आत्म प्रतिष्ठ होगा।

सितम्बर '६१

■ ■ ■

अखिल भारतीय भाषा-सम्मेलन तिरुचिरापल्ली, मद्रास अध्यक्षीय भाषण।

राष्ट्रभाषा कैसे बने !

पिछले महीने का पत्र मैंने आपको टीकमगढ़ से लिखा था। वहाँ हिन्दी के काम करने वाले कई जमा हो गये थे। बनारसीदासजी तो थे ही। हम लोग मिल कर एक एक दिन एक-एक विषय को ले लेते और चर्चा द्वारा एक-दूसरे को समझने की कोशिश करते। इस स्वाध्याय मण्डल में एक रोज राष्ट्रभाषा के बारे में भी विचार हुआ और हम लोग इस निश्चय पर पहुंचे कि—

१—भाषा लोक व्यवहार के सुभीते के लिए है। उससे अलग उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं। इसलिए लेखक की हैसियत से भाषा के बारे में इतना ही विचार काफी है कि वह सहज और हार्दिक हो।

भाषा का प्रश्न असल में जीवन के प्रश्न में घुला मिला है। इसलिए सबसे अधिक आवश्यक यह है कि व्यक्ति की सहानुभूति सब ओर खुली हो और उसका जीवन उत्तरोत्तर व्यापक हो। वह आस-पास के जीवन से विलग न हो बल्कि उससे मिला हुआ हो। तब भाषा अपने आप जैसी चाहिए वैसी होती चलेगी।

२—हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा वह है जो उसके अधिक-से अधिक भाग में समझी और बोली जाती है। उसे एक किनारे से हिन्दी तो दूसरे किनारे से उर्दू भी कहा जा सकता है। आसानी के लिए उसे हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

३—राष्ट्रभाषा की लिपि। अभी तो नागरी और फारसी दोनों मानी जा सकती हैं। जब एक लिपि का सवाल आवे तो देश के सब लोग मिलकर उसका विचार और निर्णय करें।

४—प्रत्येक हिन्दी के लेखक को उर्दू और हर उर्दू वाले को हिन्दी जानना जरूरी है।

५—कोशिश करनी चाहिए कि हिन्दी वाले अपनी सभा और समाजों में उर्दू के काम करने वालों को और उर्दू वाले अपनी सभाओं और जलसों में हिन्दी कार्यकर्ताओं को बुलावें। इसके लिए अगर एक ही प्लेटफार्म बनाने की योजना हो तो अच्छा है। इस सम्मिलित योजना की भूमिका सांस्कृतिक हो।

६—भाषा के बारे में किसी शब्द के प्रति बहिष्कार की वृत्ति न हो। ध्यान यही रखा जाय कि वह शब्द ग्राम जनता में चलन पा गया है।

७—राजनीति विज्ञान या और शास्त्रीय विषयों के लिए जहां नये शब्दों की जरूरत पड़े वहां भरसक देशज शब्दों से काम चलाया जाय।

८—भाषा के बारे में यह चेतना बिल्कुल न रखी जाय कि उसमें संस्कृत और फ़ारसी से निकले शब्दों का अनुपात कितना है।

९—असल में तो राष्ट्रभाषा के निर्माण में सब प्रांतीय भाषाओं और प्रादेशिक बोलियों को अपना अपना दान देना है। इसलिए उस प्रश्न पर अखिल भारतीय दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए न कि हिन्दी उर्दू के मन के खयाल से।

इसमें कलम (३) में अभी तो को कोष्ठक में बंद किया है। आज हिन्दी उर्दू दो हों और दोनों में बदगुमानी हो लेकिन क्या न हम मान लें कि एक दिन आ सकता है जब लगभग सब कोई दोनों लिपियां जानेंगे और इसलिए किसी भी एक की तरफदारी किये बिना उन पर विचार कर सकेंगे। तब समय होगा कि राष्ट्र शक्ति के मितव्यय की दृष्टि से हम एक राष्ट्र लिपि का निर्णय कर सकें। अभी तो कहकर हम भविष्य के सम्बन्ध में इसी राष्ट्रीय आत्मविश्वास का परिचय देते हैं। उसके पीछे छल नहीं सद्भावना है। फिर भी चूंकि हवा में शक भरा है इससे कोष्ठक के शब्द गिराये जा सकते हैं।

पहली धारा में यह दर्ज है जिससे इस प्रश्न को लेना चाहिए अर्थात् भाषा के प्रश्न पर हिंदुस्तानी नागरिक की न कि इस या उस प्रान्तवासी या भाषा भाषी की हैसियत से विचार करना चाहिए। भाषा के सवाल में पहले जिन्दगी का सवाल है। यह जरूरी है कि आसपास के लोगों में हमारा हेलमेल बढ़े। तेज हिंदी में संस्कृत की तरफ और उर्दू में फारसी की तरफ बढ़ने की भावना कम हो जायगी। बल्कि तब वे एक-दूसरे की तरफ खिंचेंगी। राष्ट्रीयता अगर साम्प्रदायिकताओं में बंटकर कमजोर पड़ रही है तो बहुत कुछ इसलिए कि हम पड़ोसी को पड़ोसी नहीं बल्कि स्वधर्मी या विधर्मी स्वदेशी या विदेशी के रूप में देखते हैं। पड़ोसी धर्म पर जोर देने में मैं मानता हूं कि भाषा की समस्या की कठिनाई कम होती जायगी।

हम अपने-अपने दायरे में घूमते हैं। हिन्दीवाला हिन्दी में, उर्दूवाला उर्दू में। तमाशा यह कि पड़ोस का साहित्य मेरे लिए एकदम अपरिचित रहता है और कभी प्रयाग बाजार मेरे अपने बन जाते हैं। यह फिर इतने अन्तर में कि यह अपनी कहानी दूसरी लिपि में लिखता है। यह हालत आज हमको अच्छा

राष्ट्रभाषा कैसे बने !

पिछले महीने का पत्र मैंने आपको टीकमगढ़ से लिखा था। वहाँ हिन्दी के काम करने वाले कई जमा हो गये थे। बनारसीदासजी तो थे ही। हम लोग मिल कर एक एक दिन एक एक विषय को ले लेते और चर्चा द्वारा एक-दूसरे को समझने की कोशिश करते। इस स्वाध्याय मण्डल में एक रोज राष्ट्रभाषा के बारे में भी विचार हुआ और हम लोग इस निश्चय पर पहुंचे कि—

१—भाषा लोक-व्यवहार के सुभीते के लिए है। उससे अलग उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं। इसलिए लेखक की हैसियत से भाषा के बारे में इतना ही विचार काफी है कि वह सहज और हार्दिक हो।

भाषा का प्रश्न असल में जीवन के प्रश्न में घुला मिला है। इसलिए सबसे अधिक आवश्यक यह है कि व्यक्ति की सहानुभूति सब ओर खुली हो और उसका जीवन उत्तरोत्तर व्यापक हो। वह आस-पास के जीवन से विलग न हो बल्कि उसमें मिला हुआ हो। तब भाषा अपने आप जैसी चाहिए वैसी होती चलेगी।

२—हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा वह है जो उसके अधिक-से-अधिक भाग में समझी और बोली जाती है। उसे एक किनारे से हिन्दी तो दूसरे किनारे से उर्दू भी कहा जा सकता है। आसानी के लिए उसे हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

३—राष्ट्रभाषा की लिपि। अभी तो नागरी और फारसी दोनों मानी जा सकती हैं। जब एक लिपि का सवाल आवे तो देश के सब लोग मिलकर उसका विचार और निर्णय करें।

४—प्रत्येक हिन्दी के लेखक को उर्दू और हर उर्दू वाले को हिन्दी जानना जरूरी है।

५—कोशिश करनी चाहिए कि हिन्दी वाले अपनी सभा और समाजों में उर्दू में काम करने वालों को और उर्दू वाले अपनी सभाओं और जलसों में हिन्दी कार्यकर्ताओं को बुलावें। इसके लिए अगर एक ही प्लेटफार्म बनाने की योजना हो तो अच्छा है। इस सम्मिलित योजना की भूमिका सांस्कृतिक हो।

६—भाषा के बारे में किसी शब्द के प्रति बहिष्कार की वृत्ति न हो। ध्यान यही रखा जाय कि वह शब्द आम जनता में खपने लायक है।

७—राजनीति विज्ञान या और शास्त्रीय विषयों के लिए जहाँ नये शब्दों की जरूरत पड़े वहाँ भरसक देशज शब्दों से काम चलाया जाय।

८—भाषा के बारे में यह चेतना बिल्कुल न रखी जाय कि उसमें संस्कृत और फ़ारसी से निकले शब्दों का अनुपात कितना है।

९—असल में तो राष्ट्रभाषा के निर्माण में सब प्रांतीय भाषाओं और प्रादेशिक बोलियों को अपना अपना दान देना है। इसलिए उस प्रश्न पर अखिल भारतीय दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए न कि हिन्दी-उर्दू के मेल के ख़याल से।

इसमें कलम (३) में अभी तो जो कोष्ठक में मैंने दिया है। आज हिन्दी उर्दू दो हों और दोनों में बदगुमानी हो लेकिन क्या न हम मान लें कि एक दिन आ सकता है जब लगभग सब कोई दोनों लिपियाँ जानेंगे और इसलिए किसी भी एक की तरफ़दारी किये बिना उन पर विचार कर सकेंगे। तब समय होगा कि राष्ट्र-शक्ति के मितव्यय की दृष्टि से हम एक राष्ट्र-लिपि का निर्णय कर सकें। अभी तो कहकर हम भविष्य के सम्बन्ध में इसी राष्ट्रीय आत्मविश्वास का परिचय देते हैं। उसके नीचे छल नहीं सद्भावना है। फिर भी चूँकि हवा में शक भरा है इससे कोष्ठक के शब्द गिराये जा सकते हैं।

पहली धारा में यह रखा है जिससे इस प्रश्न को लेना चाहिए अर्थात् भाषा के प्रश्न पर हिन्दुस्तानी नागरिक की न कि इस या उस प्रान्तवासी या भाषाभाषी की हैसियत से विचार करना चाहिए। भाषा के सवाल से पहले ज़िन्दगी का सवाल है। यह ज़रूरी है कि आसपास के लोगों से हमारा हेलमेल बढ़े। तब हिन्दी में संस्कृत की तरफ़ और उर्दू में फ़ारसी की तरफ़ बढ़ने की भावना कम हो जायगी। बल्कि सब के एक-दूसरे की तरफ़ खिंचेगी। राष्ट्रीयता अगर साम्प्रदायिकताओं में बटकर कमज़ोर पड़ रही है तो बहुत कुछ इसलिए कि हम पड़ोसी को पड़ोसी नहीं बल्कि स्वधर्मी या विधर्मी स्वपक्षी या विपक्षी के रूप में देखते हैं। पड़ोसी धर्म पर ज़ोर देने से मैं मानता हूँ कि भाषा की समस्या की कठिनाई कम होती जायगी।

हम अपने अपने दायरे में घूमते हैं। हिन्दीवाला हिन्दी में उर्दूवाला उर्दू में। तमाशा यह कि पड़ोस का ग़ालिब उनके लिए एकदम अपरिचित रहता है और काशी प्रयाग वाले मेरे अपने बन जाते हैं। यह सिर्फ़ इतने अन्तर से कि यह अपनी कहानी दूसरी लिपि में लिखता है। यह हालत आज हमको असवा

राष्ट्रभाषा कैसे बने ?

पिछले महीने का पत्र मैंने आपको टीकमगढ़ से लिखा था। वहाँ हिन्दी के काम करने वाले भाई जमा हो गये थे। बनारसीदासजी तो थे ही। हम लोग मिलकर एक-एक दिन एक-एक विषय को ले लेते और चर्चा द्वारा एक-दूसरे को समझने की कोशिश करते। इस स्वाध्याय मण्डल में एक रोज राष्ट्रभाषा के बारे में भी विचार हुआ और हम लोग इस निश्चय पर पहुँचे कि—

१—भाषा लोक-व्यवहार के सुभीते के लिए है। उससे अलग उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं। इसलिए लेखक की हैसियत से भाषा के बारे में इतना ही विचार काफी है कि वह सहज और हार्दिक हो।

भाषा का प्रश्न असल में जीवन के प्रश्न में घुला मिला है। इसलिए सबसे अधिक आवश्यक यह है कि व्यक्ति की सहानुभूति सब ओर खुली हो और उसका जीवन उत्तरोत्तर व्यापक हो। वह आम-आम के जीवन से विलग न हो बल्कि उससे मिला हुआ हो। तब भाषा अपने आप जैसी चाहिए वैसी होती चलेगी।

२—हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा वह है जो उसके अधिक-से-अधिक भाग में समझी और बोली जाती है। उसे एक किनारे से हिन्दी तो दूसरे किनारे से उर्दू भी कहा जा सकता है। आसानी के लिए उसे हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

३—राष्ट्रभाषा की लिपि। अभी तो नागरी और फारसी दोनों मानी जा सकती है। जब एक लिपि का सवाल आवे तो देश के सब लोग मिलकर उसका विचार और निर्णय करें।

४—प्रत्येक हिन्दी के लेखक को उर्दू और हर उर्दू वाले को हिन्दी जानना जरूरी है।

५—कोशिश करनी चाहिए कि हिन्दी वाले अपनी सभा और समाजों में उर्दू के काम करने वालों को और उर्दू वाले अपनी सभाओं और जलसों में हिन्दी कार्यकर्ताओं को बुलावें। इसके लिए अगर एक ही प्लेटफार्म बनाने की योजना हो तो अच्छा है। इस सम्मिलित योजना की भूमिका सांस्कृतिक हो।

६—भाषा के बारे में किसी शब्द के प्रति बहिष्कार की वृत्ति न हो। ध्यान यही रखा जाय कि वह शब्द आम जनता में खपने लायक है।

७—राजनीति, विज्ञान या और शास्त्रीय विषयों के लिए जहां नये शब्दों की जरूरत पड़े वहां भरसक देशज शब्दों से काम चलाया जाय।

८—भाषा के बारे में यह चेतना बिल्कुल न रखी जाय कि उसमें संस्कृत और फारसी से निकले शब्दों का अनुपात कितना है।

९—असल में तो राष्ट्रभाषा के निर्माण में सब प्रांतीय भाषाओं और प्रादेशिक बोलियों को अपना अपना दान देना है। इसलिए उस प्रश्न पर अखिल भारतीय दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए, न कि हिन्दी-उर्दू के मेल के ख्याल से।

इसमें कलम (२) में अभी तो दो को कोष्ठक में बंद किया है। आज हिन्दी उर्दू दो हों और दोनों में बदगुमानी हो लेकिन क्या न हम मान लें कि एक दिन आ सकता है जब लगभग सब कोई दोनों लिपियां जानेंगे और इसलिए किसी भी एक की तरफदारी किये बिना उन पर विचार कर सकेंगे। तब समय होगा कि राष्ट्र शक्ति के मितव्यय की दृष्टि से हम एक राष्ट्र लिपि का निर्णय कर सकें। अभी तो यह कहकर हम भविष्य के सम्बन्ध में इसी राष्ट्रीय आत्मविश्वास का परिचय देते हैं। उसके नीचे छल नहीं सद्भावना है। फिर भी चूंकि हवा में शक भरा है इससे कोष्ठक के शब्द गिराये जा सकते हैं।

पहली धारा में यह तत्त्व है जिससे इस प्रश्न को लेना चाहिए अर्थात् भाषा के प्रश्न पर हिन्दुस्तानी नागरिक की न कि इस या उस प्रान्तवासी या भाषाभाषी की हैसियत से विचार करना चाहिए। भाषा के सवाल से पहले जिन्दगी का सवाल है। यह जरूरी है कि आसपास के लोगों से हमारा हेलमेल बढ़े। उससे हिन्दी में संस्कृत की तरफ और उर्दू में फारसी की तरफ बढ़ने की भावना कम हो जायगी। बल्कि तब वे एक-दूसरे की तरफ खिंचेंगी। राष्ट्रीयता अगर साम्प्रदायिकताओं में बंटकर कमजोर पड़ रहा है तो बहुत कुछ इसलिए कि हम पड़ोसी को पड़ोसी नहीं बल्कि स्वधर्मी या विधर्मी स्वपक्षी या विपक्षी के रूप में देखते हैं। पड़ोसी धर्म पर जोर देने से मैं मानता हूं कि भाषा की समस्या की कठिनाई कम होती जायगी।

हम अपने अपने दायरे में घूमते हैं। हिन्दीवाला हिन्दी में, उर्दूवाला उर्दू में। तमाशा यह कि पड़ोस का साहित्य मेरे लिए एकदम अपरिचित रहता है और बाकी प्रान्त वाले मेरे अपने बन जाते हैं। यह फिर इतने अन्तर में कि वह अपनी कहानी दूसरी लिपि में लिखता है। यह हालत आज हमको असह्य

भाविक लग जानी चाहिए। इससे आगे सुझाव है कि उर्दू हिन्दी वाले आपस में मिला करें और सांस्कृतिक मंच पर वह मिलना हो।

संस्कृति शब्द यहां निरर्थक नहीं है। बनारसीदास जी की राय थी कि यह न रहे। पर मैं उस शब्द को न गिरा सका। वजह यह कि मिलते तो हम अब भी राजनीतिक धरातल पर हैं पर वह मिलना क्या काफी हुआ है? क्या वही ऊपर से मिलाकर किसी कदर अन्दर से फाड़ने का सबब नहीं हो गया है? क्योंकि राजनीति के मंच पर अधिकारों का चलना है इससे राजनीति विभेद डालनी देखी जाती है अभेद जगाती नहीं। उसमें मन होता भी है तो गौण का, मन का नहीं। मन का मेल यह नहीं मांगता कि तुम हमारी पार्टी में या गिरोह में आओ। जहां हो वहीं रहो पर एकचित्त रहो। किसी को उसकी जगह से, उसके विश्वासों और विचारों से उखाड़ने की इच्छा नहीं बल्कि सिर्फ आपसी समझ और मेल बढ़ाने की तबीयत है उसको मैं सांस्कृतिक धरातल कहता हूं। हिन्दी और उर्दू काम करने वालों को पास आने और मिलने-जुलने की जरूरत है तो उसी धरातल पर। उसी का फल कुछ निकलेगा।

इन धारणाओं में त्रुटि और भी देखी जा सकती है। वह यह कि भाषा के प्रश्न में समाधान के लिये हिन्दी उर्दू की तरफ या उर्दू हिन्दी की तरफ न देखे। जब मसला इस ढंग पर रक्खा जाता है कि हम नए अंग्रेजी शब्द के लिये हम फारसी अरबी के सहारे से ऐसी शब्द बनायें या संस्कृत के सहारे से तो सवाल मुश्किल हो जाता है। ऊपर सुझाया गया है कि ऐसे समय हम देहात की शरण लें। वहां शिष्ट भाषा की जैसी दरिद्रता नहीं है। प्रान्तिक बोलियों में बहुत शब्द भरे पड़े हैं जो बड़ी सुघराई के साथ उठाकर व्यवहार में चलन में लाए जा सकते हैं। अपने ही घर के उस भंडार से वास्ता जोड़कर हिन्दी और उर्दू में अनबन तो बन सकती है निपटारा नहीं हो सकता। असल में तो हिन्दी उर्दू दोनों ही हिन्दुस्तान में जन्मी है। उर्दू में हो कितने ही शब्द विदेशी वह हमारे हिन्दुस्तान को धरती से दूर नहीं सकती। वह तो हिन्दुस्तान का मिश्रण है और रही है कि बाहर के लोग प्रभाव शब्द लाए हैं और पच गये हैं। उर्दू ने हिन्दी को समृद्ध किया है। उर्दू में सब हिन्दी मानव की समझ में सूबों ही पैदा हुई है। उसमें उसकी भाषा का अंश बड़ा है। इसलिये जब हिन्दी जैसे उर्दू दोनों ही अपने को भरने और बढ़ाने के लिये हिन्दुस्तान के देहात की शरण लें। इन दोनों भाषाओं के बीच की अनमनियों में झगड़ा मिटेगा देहात से बना बनाया सुलभाव मिल सकेगा। इसमें कहा गया है कि जहां तक हो नये भाव के लिए देहाती शब्दों से काम लिया जाय।

धारा (६) के बारे में भी मतभेद था। बनारसीदासजी उसे आवश्यक देखते थे। लेकिन उसमें कहा गया है कि संस्कृत या फारसी से निकले हुए शब्दों की बराबर-बराबर तोल रखने से हिंदुस्तानी न बनेगी। वह निगाह ही गलत है। यानी अगर राष्ट्रीय सुविधा के लिये आदर्श हिंदुस्तानी का निर्माण होना है तो उसके लिये जरा भी यह नहीं सोचना होगा कि संस्कृत के शब्द काफी आ गये या नहीं या फारसी शब्दों का समुचित प्रतिनिधित्व हो गया है अथवा नहीं। राजनीतिक सद्भिलाषा में ऐसी भूल होती देखी जाती है। एक राष्ट्रीय मुस्लिम नेता जहां-तहां अपने भाषण में संस्कृत के शब्द छिड़ककर शायद मानें कि वह हिंदुस्तानी की मांग को पूरा कर रहे हैं। इसी तरह हिंदू राष्ट्रवादी मौके बे मौके अपनी भाषा में फारसी लफ्ज डालकर अपने को सही दिशा में चलता हुआ मान सकते हैं। पर सच यह है कि यह काफी नहीं है। दोनों को शब्द के असली अर्थ में डमोक्रैटिक होना होगा यानी जनता का आदमी बना होगा तब इनको असल तौर पर हिन्दुस्तानी का पता हो सकता है। उर्दू और हिंदी के मन के डरों से एक कृत्रिम अनमिल गठजोड़ भाषा देने से हिंदुस्तानी की रचना नहीं होती। भाषा तो हर हालत में सहज स्वाभाविक और सुबोध होनी चाहिये। भाषा में सुबोधता आयेगी तो तभी जबकि व्यक्ति का जीवन जनता में मिल चलेगा। जबतक व्यापक लोक-जीवन के साथ हमारा मन नहीं है तब तक सच्चे अर्थों में सुगम और सही हिंदुस्तानी भाषा का निर्माण होने में हमको मदद नहीं मिलेगी। अर्थात हिन्दी उर्दू के संयोग से बनने वाली हिंदुस्तानी को अपने आप में एक अतिरिक्त उद्देश्य बनाकर हम बोलें लिखें तो उसमें मुश्किल उतनी हल नहीं होगी जितनी कि तब होगी जब बगैर किसी हिन्दी उर्दू के ख्याल के जनता के साथ अपने सुख-दुःख को मिला देने की कोशिश में हम भाषा का व्यवहार करेंगे। कुछ यही आशय मानकर नवी कलम को रद्द नहीं किया जा सका।

आखिरी धारा में भी यही बात स्पष्ट की गई। इस जगह पंडित सुन्दर-लालजी के अभी हाल ही पढ़े लेख का जिक्र अप्रासंगिक न होगा। उन्होंने सवाल को इतिहास की ओर से देखा है। सवाल अमर का है और इतिहास में वह गहरा है। यो वह लेख पढ़ने लायक है। उसमें हिन्दी नाम की ऐतिहासिक परम्परा को दर्शाते हुए उसे अवधी ब्रज राजस्थानी आदि भाषाओं से अलग अम्बाला से मुरादाबाद तक के प्रदेश में बोली जाने वाली खड़ी बोली के अर्थ में लिया गया है। उसी पर से फिर राष्ट्रभाषा का विवेचन किया है। कहा है कि यह हिन्दी (खड़ी बोली) अन्तर्प्रांतीय व्यवहार का माध्यम थी। लेकिन अब 'हिन्दी

की सत्ता यहां से हटकर दूर संस्कृत मिश्रित भाषा की भंगिमा में चली गई है जबकि उर्दू नाम करीब-करीब वही कायम है। इस तरह आज अन्तरप्रान्तीय व्यवहार के लिये अब एक राष्ट्र भाषा का सवाल है तब हिन्दी के बजाय उर्दू कहने से ठीक ठीक खड़ी बोली का भाव मिल सकता है।

पंडितजी की बात ठीक हो सकती है। पर आज राष्ट्रभाषा खड़ी बोली के आधार पर ही और उसी दायरे में बनगी यह स्थिति नहीं रह गई है। पर अंतिम धारा (१०) इसीलिये कहती है कि राष्ट्र भाषा में निर्माण के न सिर्फ हिन्दी और उर्दू बल्कि और भी प्रांतीय भाषाओं और बोलियों से योग मांगा जायगा। इसलिये हिन्दी उर्दू की सुलह या अनबन पर राष्ट्रभाषा का सवाल टलनेवाला नहीं है और इस पर उस दृष्टि से नहीं बल्कि अखिल भारतीय दृष्टिकोण से ही विचार किया जाना चाहिए।

इस सबके बाद एक मैं अपने मन की बात कह देना चाहता हूं। आज देश के सामने है कि वह मन ले कि वह अपने लिये क्या भविष्य और कैसी संस्कृति चाहता है? हम शहर चाहते हैं कि गांव चाहते हैं। मिलें चाहते हैं कि खेती चाहते हैं? हम अपने बीच समता चाहते हैं कि ऊंच-नीचता भी चाहते हैं। मेरे मन में किंचित् सन्देह नहीं है कि भाषा के सवाल के समाधान की जड़ें अगर हैं तो यहां हैं। उसी बिन्दु के चारों ओर और और सवाल लिपटे हुए हैं। अगर हम शहरी सभ्यता चाहते हैं और पश्चिम से आई हुई इसी किस्म की अदालतें और फौजें और सरकार चाहते हैं तो लिपि के लिये हम रोमन ले सकते हैं—सकते हैं नहीं लेनी पड़ेगी—और अंग्रेजी की शिक्षा को सारे देश में अनिवार्य बनाने का आन्दोलन कर सकते हैं। पर अंग्रेजी से गुलामी आई है और राष्ट्रभाषा का अगर सवाल उठा है तो उसी गुलामी को तोड़ने के लिये और यह भी सच है कि गुलामी हमारी दरिद्रता पर कायम है—और दरिद्रता शहरी सूद पर कायम है। इससे अगर सचमुच गुलामी से छूटना है तो देहात को आबाद करना होगा और जो सम्पत्ति वहां पैदा होती है पर खिंचकर कहीं और चली जाती है उसको वहां पहुंचाना होगा। मैं कहना चाहता हूं कि भाषा की असल समृद्धि भी वहीं से आयेगी। इसलिये क्या तो हिन्दीवाले और क्या उर्दूवाले सबको कहना होगा कि तुम अपनी अलग पंथ की या भाषा की सम्पन्नता का भूत छोड़ो क्योंकि उसमें जूठन और उतरन भरी है। उर्दू कृत्रिम है और तुम्हारी हिन्दी कृत्रिम है। दोनों लौट चलो वहां जहां सब अकृत्रिम है। वहां से भाषा लो। वह एक ही साथ हिन्दी का काम दे जायगी और उर्दू का भी काम दे जायगी। क्योंकि वही असल हिन्दुस्तानी होगी।

ऊपर के मन्तव्य की कीमत इस लिहाज से सविशेष है कि नई हिन्दी लेखकों का वह संयुक्त प्रतिनिधित्व करता है। मैं चाहूँगा कि आप उसको गौर से देखें, आवश्यक हो तो संशोधन सुझायें और फिर अन्तिम रूप से जो मसविदा बने उसको हिन्दी-संसार के आगे प्लेटफार्म के तौर पर मजबूती से जमाने में मदद करें। राजनीतिक, राष्ट्रवादी पुरुषों के सुनते रहने के लिए ही साहित्यिक जन नहीं हैं, उन्हें इस बारे में अपना आधार खुद पा लेना होगा। आप राष्ट्रीय मुद्दों में जेल गये हैं, पर यहाँ तो हम साहित्य को लेकर आये हैं। आशा है कि आप इस आवश्यकता पर ध्यान देंगे और स्वस्थ और जीवन-तत्पर साहित्य-मंच का आविर्भाव हिन्दी में होने देंगे।

अगस्त '४७

भारतीय साहित्य

भारतीय साहित्य एक ह और रहा है। इस तथ्य को प्रमाणित करने में मैं आपका समय नहीं लूगा। यह बात सिद्ध है और स्पष्ट है। लेकिन जो प्रश्न अध्ययन और मनन का विषय हो सकता है वह यह कि महाद्वीप जितने विशाल इस देश में जहा सदा हर प्रकार का नानात्व व्याप्त रहा सहस्राब्दियो के अत राल में से अगर कोई अतर्भूत ऐक्य सभव बना चला आया तो उसका रहस्य और कारण क्या है? हर तरह के आघात और प्रहार इस देश ने भोगे हैं। इतिहास इसके प्रति कोई विशेष सदय नही रहा है। नाना जातियां यहां आई हैं और तहस नहस मचाती आई हैं। लेकिन उस सब विभेद और विरोध को आत्मसात् करती हुई यहा की भावभूमि एक बनी रही है निश्चय ही यह आश्चर्य और अनुसधान का विषय है। लगता है जसे मानव जाति के भाग्य-लेख से यह भारत भूमि परम-समन्वय के सूत्र-साधना की प्रयाग-स्थली ही रही है और इस देश का मानव सस्कृति के प्रति कदाचित् यही अवदान होने वाला हो।

पर साथ ही दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह कि हजारो-हजार वर्ष के अपने इतिहास में भारतवर्ष बीच में गिनती के कुछ ही वर्षों के लिये राजनैतिक रूप में अविभक्त रहा होगा नही तो वह सदा ही छितरा-बिखरा रहा है। उसकी भौगोलिक सीमाए फैलती सिमटती रही हैं और अतरग में नाना राज्य भी बनते बिगडते और उठते गिरते रहे हैं। सक्षेप में भारत की एकता उसकी राजनीतिक अनेकता में से सपन्न होती आई है। यह एक अनोखी बात है और बेहद विचारणीय है।

राष्ट्र तो सब जगह एक है लेकिन एक के बराष्ट्रवाद और राज्यवाद की भूमिका पर हैं। मानो राजनीतिक उथल पुथल उस एकता को तोड-मरोड देती है या वह राष्ट्रवादी एकता दूसरे राष्ट्रवाद के टक्कर में आकर स्वय अस्त-व्यस्त हो जाती है।

भारत के साथ ऐसा कुछ घटित नही हुआ। राष्ट्रवाद का हुकार कभी यहा ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ कि वह दूसरों के लिए चुनौती बन जाय और राष्ट्र

विस्तार और साम्राज्य-विस्तार के लिए चल पड़े। बल्कि उल्टे यह देखने में आया कि असीमित सामर्थ्य रखते हुए भी भारत का दर्प मानो गुना दान था जहां दूसरे लोग लोभ और आवेश में लूट-मार करते हुए भी घूम चल आ सकते थे। पर परिणाम सदा ही यह हुआ कि बाहर से चढ़ाई करके आने वाले ये लोग कुछ दिनों बाद यहां की प्रकृति में रम रच रहे और यहां की संस्कृति को उच्छिन्न कर पाने की जगह उसे और संपन्न करने के ही काम आ गए। यह भारत की अपनी भावभूमि की विशेषता रही है और यदि यहां का साहित्य एक है तो इसीलिए कि उस भावभूमि से वह बिछड़ा नहीं है, प्रत्युत वहां से अनुप्राणित हुआ और उसी की अभिव्यक्ति देता रहा है।

देश की राजनीतिक अनेकता और सांस्कृतिक एकता के अद्भुत इतिहास को आसपास रखकर देखने से कुछ परिणाम हाथ आते हैं।

१ भारतीय मनोभूमि प्रकृति से अराजनीतिक है। परिस्थितियों की विवशता तक राजनीतिक उद्योग उसे स्वीकार्य है। प्राण महत्वाकांक्षा उसकी राजनीतिक नहीं है।

२ नीति रीति के नियमन के लिए राज्य के कानून की अपेक्षा सामाजिक मान्यता पर यहां अधिक बल और अवलंब है।

३ व्यवस्थाएं जिनके द्वारा लोकजीवन को व्यवस्थित और संतुलित रखा गया, सत्ता प्रधान न होकर भाव प्रधान हैं।

४ देश की धारणा राज्य-केंद्रित नहीं है। उसके प्रति मातृ भाव और तीर्थ भाव जगाया गया है। चारों दिशाओं में भारत की सीमा पर तीर्थधाम हैं और उनकी यात्रा भौगोलिक ज्ञानार्जन से अधिक भक्ति-भावना की प्रक्रिया है।

५ श्रेष्ठता का भाव धर्मोन्मुख है भोगोन्मुख नहीं है। संत-साधु यहां आदर और पूजा के पात्र हैं राजा विजेता उतने नहीं। क्रूरता की प्रखरता और प्रबलता से भिन्न भाव की पवित्रता और शुचिता में आत्मीय रुचि सविशेष है। यहां की नारियां भक्ति रूप हैं।

६ लोक मानस में भावनात्मक अवतार जो उत्तम पुरुष प्रतिष्ठित हुए वे लौकिक अस्मिता से रहित धार्मिक महिमा से मंडित थे। वे पुराण पुरुष उदार धर्म भावना के उदाहरण थे।

७ साधु धाम और साधु-पुरुष उनके दर्शन और चरित्र-श्रवण से भारतीय परंपरा और मान-मर्यादा का निर्माण हुआ। फिर सामंत वर्ग में उसी प्रकार के आचरण की अपेक्षा रखी गई।

इस तरह भारतीय मानस राजनीतिक उथल-पुथल के अधीन गिरता-उठता नहीं रहा उसके आदर्श भी उस तरह झकोले नहीं खाते रहे। वे अडिग और स्थायी बने रहे। उनके मूल्य मानवीय रहे और प्रादेशिक और एकांगी नहीं बन पाये। सामयिक से अधिक वे नैतिक और शाश्वत रहे।

इन मूल्यों को सकर्मक नहीं कहा जा सकता। यह नहीं कि कर्म की यहां महत्ता थी। राम और कृष्ण कोई वनवासी ऋषि नहीं थे और ये ही दोनों चरित्र भारतीय धर्म के दो ध्रुव हैं। लेकिन राम का वह रूप भारतीय मानस को पकड़ता है जहां वह कृतार्थ भाव से राज्य का अधिकार छोड जाते हैं। उसी तरह कृष्ण का बाल-रूप ही भारत के लिए परम विमोहन बना हुआ है। दोनों जगह योद्धा प्रधान नहीं है, गौण है। और अर्जुन को गीता के उपदेश से रणोद्यत बनाकर भी कृष्ण स्वयं सारथी रहते और युद्ध से उत्तीर्ण बने रहते हैं।

कर्म की जबकि महत्ता नहीं रही तब भारतीय मनीषा का मूल्य अवश्य उसमें उत्तीर्ण रहा है। बाहर यहां से कोई विजेता नहीं गया अनेकानेक धर्म के सदेशवाहक अवश्य गये। बौद्ध विचार बाहर जाकर जड जमा सका हिन्दुत्व के प्रभाव दूर-दूर तक पहुंचे तो यह किसी लौकिक जय-यात्रा का परिणाम नहीं था। तथापि यह प्राणों की सम्पन्नता ही थी जिसके कारण ये शान्ति-वाहक धर्म के दूत भारतीय विचार और संस्कृति के तत्व को दूर देशान्तर में ले गये। कर्म का प्रवेग अवश्य नहीं था पर भीतर से उठता हुआ भाव का आवेग था जिससे भारतीयता का विस्तार हुआ था। साम्राज्य विस्तार से यह बिलकुल ही भिन्न प्रकार का तत्व है और यदि पहले का साधन शस्त्र है तो दूसरे का साधन शास्त्र है। राजनीति सत्ता का मुहताज हो संस्कृति का संदेश साहित्य का मौन शब्द ले जाता और दूर-दूर तक बो आता है।

साहित्य के लिए प्रतिपक्ष नहीं है। इसलिए उससे सामंजस्य का ही विस्तार होता है। संस्कृति में ललकार होती ही नहीं। वह सदा पूर्ति देती और पूर्ति खोजती है। उसीको अपने श्वास-निश्वास में लेकर चलने वाला साहित्य किसी के लिए अनात्मीय नहीं रहता।

भारत में अलग अलग जातियां रहीं भाषाएं रहीं और रहन-सहन के अलग और तरीके भी रहे हो सकते हैं। पर कथा-गाथाएं और काव्य-पुराणों के द्वारा एक ही मानव धर्म यहां व्याप्त बना रहा। आरोपित आदर्श उसको ढक या उखाड नहीं सके। साहित्य उसी स्रोत से प्राण पाता रहा और प्रदेश विशेष की या व्यक्ति विशेष की विशेषताओं को लेकर वह कितना भी विविध और विचित्र बनकर प्रगट हो मूलतः ध्रुवनिष्ठ रहा है। रूप आकार और शैली की सब विविध-

भाषाओं में मिलकर भी वह कद्रिम भाव से च्युत नहीं हुआ और सब जगह उसी मानव मूल्य की प्रतिष्ठा का उपकरण बना रहा।

इस देश में कोई एक केन्द्रीय राज्य न होने के कारण व्यवस्थित रूप से किसी एक भाषा की भी आवश्यकता नहीं रही। लोग आते जाते थे, परस्पर आदान प्रदान खूब था। चारों धामों की यात्रा मानो हरेक के लिए आवश्यक थी। इस तरह सदा ही कोई न कोई एक माध्यम रहा जिसमें यह समरसता उत्तरोत्तर पनपती और फल फूलती रही। शिक्षा के लिए संस्कृत, जनसामान्य के लिए इस या उस रूप की प्राकृत। लेकिन यह भाषाएं राजकीय माध्यम के रूप में व्यवस्थित नहीं थीं, केवल प्रचलित थीं। यही कारण है कि इन सार्वजनीन माध्यमों के रहते भी प्रादेशिक भाषाओं पर तनिक भी दबाव नहीं आया। वे अपनी जगह युगपत साहित्य में भरपूर होती चली गईं। राम और कृष्ण के काव्यचरित लगभग सभी भाषाओं में स्वतन्त्र भाव से रचे गये आपको मिलेंगे। अस्तु किसी माध्यमिक भाषा पर राजकीय बल और आग्रह न था, इसलिए प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही कभी नहीं उठा। हार्दिक और निर्बाध दान प्रतिदान चलता रहा। यही कारण है कि बिना किसी केन्द्रीय और राजकीय प्रयास के भी भारतीय साहित्य विभिन्न भाषाओं में परस्पर पूरक और सहयोगी रूप में विकास पाता गया। वैदिक काल से अब इधर उन्नीसवीं सदी के आरंभ तक यह प्रक्रिया अजस्र चलती रही। इसमें एक प्राकृतिक नियम काम कर रहा था और किसी भी कृत्रिम प्रयास ने विशेष बाधा नहीं डाली थी।

अंग्रेजों के और साथ अंग्रेजी के आने से पहली बार इस प्रक्रिया में विघ्न उपस्थित हुआ। यह आक्रमण अलग तरह का था। अंग्रेज यहां राजा नहीं बने, सम्राट बने। भारत उनका उपनिवेश था। इस तरह यहां का रस लेने के बजाय उन्होंने अपना आधिपत्य और अपना ढंग दिया। राष्ट्र की नई धारणा उनके कारण भारतवर्ष को प्राप्त हुई और वह एक राजकीय और प्रतिस्पर्धी (एक्सक्लूसिव) धारणा थी। एक छत्र के नीचे सारा देश आया और एक राजनीतिक व्यवस्था बनी। काफी दिन यहां अंग्रेज लोग रहे और इस काल में जब वह प्रक्रिया जो सदियों से भारत में भीतर ही भीतर अपना काम करती रही थी मानो रुक गई। सर्वथा स्थगित तो वह नहीं हुई थी। भारतीय प्रकृति आत्मसंरक्षण में मोर्चा मन को बार-बार उठी। इस संघर्ष की इति तब हुई जब गांधीजी के नेतृत्व में भारत ने स्वराज्य पाया। गांधी भारत की अन्तः प्रकृति के मूर्त प्रतीक हो गए। अनुभव हुआ कि उनके व्यक्तित्व में यह देश समन्वित रूप में एक और समग्र और ज्वलन्त बन पाया है।

इस तरह भारतीय मानस राजनीतिक उथल-पुथल के अधीन गिरता-उठता नहीं रहा। उसके आदर्श भी उस तरह बनाते नहीं बनते रहे। वे अडिग और स्थायी बने रहे। उसके मूल्य मानवीय रहे और प्रादेशिक और एकांगी नहीं बन पाये। सामयिक से अधिक वे नैतिक और शाश्वत रहे।

इन मूल्यों को सकर्मक नहीं कहा जा सकता। यह नहीं कि कर्म की यहां मान्यता थी। राम और कृष्ण कोई वनवासी ऋषि नहीं थे और ये ही दोनो चरित्र भारतीय धर्म के दो ध्रुव हैं। लेकिन राम का वह रूप भारतीय मानस को पकड़ता है जहां वह इतराव भाव से राज्य का अधिकार छोड़ जाते हैं। उसी तरह कृष्ण का बाल-रूप ही भारत के लिए परम विमोहन बना हुआ है। दोनों जगह योद्धा प्रधान नहीं है, गौण है। और अर्जुन को गीता के उपदेश से रणोद्यत बनाकर भी कृष्ण स्वयं सारथी रहते और युद्ध से उत्तीर्ण बने रहते हैं।

कर्म की अवधि मंदता नहीं रही, तब भारतीय मनीषा का मूल्य अवश्य उससे उत्तीर्ण रहा है। बाहर यहां से कोई विजेता नहीं गया, धर्म-प्रचारक धर्म के संदेशवाहक अवश्य गये। बौद्ध विचार बाहर जाकर जड़ जमा फला, हिन्दुत्व के प्रभाव दूर-दूर तक पहुंचे तो यह किसी लौकिक जय-यात्रा का परिणाम नहीं था। तथापि यह प्राणों की सम्पन्नता ही थी जिसके कारण ये शान्ति-वाहक धर्म के दूत भारतीय विचार और संस्कृति के तत्व को दूर देशान्तर में ले गए। कर्म का प्रवेश अवश्य नहीं था, पर भीतर से उठता हुआ भाव का आवेग था जिससे भारतीयता का विस्तार हुआ था। साम्राज्य विस्तार से यह बिलकुल ही भिन्न प्रकार का तत्व है और यदि पहले का साधन शस्त्र है तो दूसरे का साधन शास्त्र है। राजनीति सेना की मुहताज हो, संस्कृति का संदेश साहित्य का मौन शब्द ले जाता और दूर-दूर तक बो आता है।

साहित्य के लिए प्रतिपक्ष नहीं है। इसलिए उससे सामंजस्य का ही विस्तार होता है। संस्कृति में ललकार होती ही नहीं। वह सदा पूर्ति देती और पूर्ति खोजती है। उसीको अपने श्वास-निश्वास में लेकर चलने वाला साहित्य किसी के लिए आत्मीय नहीं रहता।

भारत में अलग अलग जातियां रही, भाषाएं रहीं और रहन-सहन के अलग तौर तरीके भी रह हो सकते हैं। पर कथा-गाथाएं और काव्य-पुराणों के द्वारा एक ही मानव धर्म यहां व्याप्त बना रहा। आरोपित आदर्श उसको उखाड़ नहीं सके। साहित्य उसी स्रोत से प्राण पाता रहा और प्रदेश विशेष की या व्यक्ति विशेष की विशेषताओं को लेकर वह कितना भी विविध और विचित्र बनकर प्रगट हो, मूलतः ध्रुवनिष्ठ रहा है। रूप, आकार और शैली की सब विविध-

रूपों में मिलकर भी वह कदापि भाव से च्युत नहीं हुआ और सब जगह उसी मानव मूल्य की प्रतिष्ठा का उपकरण बना रहा।

इस देश में कोई एक केन्द्रीय राज्य न होने के कारण व्यवस्थित रूप से किसी एक भाषा की भी आवश्यकता नहीं रही। लोग आते जाते थे, परस्पर आदान प्रदान खूब था। चारों धामों की यात्रा मानो इसी के लिए आवश्यक थी। इस तरह सदा ही कोई न कोई एक माध्यम रहा जिसमें यह परम्परा उत्तरोत्तर पनपती और फलती फूलती रही। विद्वानों के लिए संस्कृत, जनसामान्य के लिए इस या उस रूप की प्राकृत। लेकिन यह भाषाएं राजकीय माध्यम के रूप में व्यवस्थित नहीं थीं, केवल प्रचलित थीं। यही कारण है कि उन सार्वजनीन माध्यमों के रहते भी प्रादेशिक भाषाओं पर तनिक भी दबाव नहीं आया। वे अपनी जगह युगपत साहित्य से भरपूर होती चली गईं। राम और कृष्ण के काव्यचरित लगभग सभी भाषाओं में स्वतन्त्र भाव से रचे गये, अपने-अपने ढंग से। चूंकि किसी माध्यमिक भाषा पर राजकीय बल और आग्रह न था, इसलिए प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही कभी नहीं उठा, हार्दिक और निर्बाध दान प्रतिदान चलता रहा। यही कारण है कि बिना किसी केन्द्रीय और राजकीय प्रयास के भी भारतीय साहित्य विभिन्न भाषाओं में परस्पर पूरक और सहयोगी रूप में विकास पाता गया। वैदिक काल से लेकर इधर उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक यह प्रक्रिया अजस्र चलती रही। इसमें एक प्राकृतिक नियम काम कर रहा था और किसी भी कृत्रिम प्रयास ने विशेष बाधा नहीं डाली थी।

अंग्रेजों के और साथ अंग्रेजी के आने से पहली बार इस प्रक्रिया में विघ्न उपस्थित हुआ। यह आक्रमण अलग तरह का था। अंग्रेज यहां राजा नहीं बने, सम्राट बने। भारत उन्हें उपनिवेश था। इस तरह यहीं का रंग लेने के बजाय उन्होंने अपना आधिपत्य और अपना रंग दिया। राष्ट्र की नई धारणा उनके कारण भारतवर्ष को प्राप्त हुई और वह एक राजकीय और प्रतिस्पर्धी (एक्सक्लूजिव) धारणा थी। एक छत्र के नीचे सारा देश आया और एक राजनीतिक व्यवस्था बनी। काफी दिन यहां अंग्रेज लोग रहे और इस काल में जब वह प्रक्रिया जो सदियों से भारत में भीतर ही भीतर अपना काम करती रही थी मानो रुक गई। यद्यपि स्थगित तो वह नहीं हुई थी, सांस्कृतिक प्रकृति आत्मसंरक्षण में मोर्चा लेने को बार-बार उठी। इस अवस्था की इति तब हुई जब गांधीजी के नेतृत्व में भारत ने स्वराज्य पाया। गांधी भारत की सन्त प्रकृति के मूर्त प्रतीक ही थे। अनुभव हुआ कि उनके व्यक्तित्व में वह [illegible] संस्कृति रूप में एक घोर समग्र और उपशम बन आया है।

गांधी युग में भारत की सभी भाषाओं का साहित्य एक प्राण और एक तान होकर उत्कर्ष की ओर उठा। वह उत्कर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है, लेकिन स्वराज्य आने के साथ गांधीजी को देश ने खो दिया। तब से जान पड़ रहा है कि जैसे वह महद्भाव ही बीच से उठ गया है, जो सबको एक दूसरे के निकट आने और उत्सर्ग होने की प्रेरणा देता था। नैतिक से राजकीय चेतना मानों ऊपर आ गई है। और भाषाओं में स्व-रक्षा और स्व-मान की चिन्ता पैदा हो आई है। भाषाओं की विविधता जो अब तक ऐक्यभाव का सम्भार रही थी, अलगाव का कारण बन चला है। डर लगने लगा है कि जैसे सबके प्रति जो एक सी विदेशिनी है ऐसी अंग्रेजी भाषा के सहारे उनमें आपस में समता बनी भी रह सकती है, उसके अभाव में कहीं एक कोई नाप सब पर लगने न लग जाये। सांस्कृतिक भाव की मंदता के द्वारा यह राजकारणी अहमहमिका मनों पर सवार हो आई है और भाषा मिलाप की जगह फूट के काम में लाई जाने लगी है।

अब स्वराज्य है और देश के पास अपनी केन्द्रीय व्यवस्था है। यह सुविधा तमाम इतिहास में बहुत ही कम भारत देश के पास हो पाई है। इसीलिए यह प्रश्न है कि क्या किया जाय जिससे भारत के प्राणों का और साहित्य का मूलगत एकता प्रगट और पुष्ट हो। खंडता का भाव देश में निर्मूल हो और महद् ऐक्य का आविर्भाव हो।

पिछले विश्लेषण में हमने देखा कि साहित्य और संस्कृति कुछ नाजुक चीजें हैं। बल के साथ उनका योग नहीं बैठता है। राज्य बहुत बलशाली संस्था है। बल के लाभ अलाभ दोनों ही हैं। किन्तु यह समझ होना चाहिए कि अलाभ बचाया जा सके और संस्कृति के पक्ष में बल का लाभमात्र ही उपलब्ध हो।

राज्य का धर्म निरपेक्ष रहना ही उचित है। अमुक नामधारी संस्कृति के प्रति भी उसे निष्पक्ष रहना होता है। राज्य का काम अधिकांश भौतिक है। मानसिक और सांस्कृतिक को उसे कम ही छूना और छेड़ना चाहिए। भारतीयता कुछ उसी पद्धति में काम करती रही है। शासन और नीतिविधान ऋषियों का काम रहा है। राज्य शक्ति और धन आदि का अर्पण भले करते रहे हों, लेकिन ऋषि मानवनिष्ठ रहे हैं, राजनिष्ठा को उन्होंने अपना स्वधर्म नहीं बनाया है।

विश्व की प्रगति आज अजब जगह पर आ गई है। दुनिया छोटी पड़ रही है और कोई अपने को अलग और अकेला नहीं रख सकता है। ऐसी हालत में राज्य की कल्पना ने विशाल रूप धारण किया है। ईश्वर सर्वव्यापक होता था, अब सोचा जाता है कि राज्य सर्वव्यापक हो। इस धारणा पर संगठन बड़े

से वडे बन रहे हैं, लेकिन वह भनिवाय भाव से छावनियां म परिणत होते दखे जाते हैं। एक विचार उठा था कि रा य तत्र के रूप में समाज म विलीन हो जाय और स्वय म अनावश्यक हो जाय। आदश रूप म उस विचार को छोटा तो अभी तक नहीं गया ह लेकिन बीच की अवधि म मानों राज्य को सव व्याप्त और सय कल्याणीय शक्ति के रूप म स्वीकार करना मान्य बन गया ह। उस कारण विश्व की स्थिति माना सकट की भी आ बनी ह। लगता ह उस राह से अगर दुनिया की एकता को माना हो तो फिर युद्ध की वतरिणी को पार करना ही होगा। लेकिन विज्ञान की उन्नति इतनी हो उठी ह कि युद्ध शुरू हुआ तो उसका दूसरा किनारा मिलने वाला नहा ह बीच म ही सब स्वाहा हो जायगा।

इस हालत म सभव हो सकता है कि समग्र भारतीय साहित्य की भावगत एकता को पहचानकर उसे पुष्ट और प्रबल बनाने क उद्यम द्वारा दुनिया के सामने वह राह भी दिखा आये जिससे सकट कटे, सहअस्तित्व बढ़कर सहभाव और सहयोग म परिणत हो और राष्ट्रों के बीच सुरक्षा और शस्त्रास्त्र की पक्ति अनावश्यक हो जाय।

भारतीय साहित्य रा य के लिए आशीर्वाद रूप मल रहा हो उस पर निभर होकर नहीं रहा है। कारण उसम मानव की प्रतिष्ठा है सत्य की अन वरत शोध और उसका निर्भीक निरूपण ह। लोक व्यवहार म वह धम क अधि ष्ठान की पीठिका के समान ह। सक्षेप म राजनीति के समक्ष यह लोकनीति का प्रतिस्थापन ह।

यदि भारती समग्र भारत की सब भाषाओं और साहित्यों म आदान प्रदान की वे प्रणालियां खोज सके जिनसे परस्पर परिचय और प्रीति प्राप्त हो साहि त्यकारों को सम्मिलन और सहचिंतन के अवसर आए अनुवादों द्वारा व निकट बनें—यह सब यदि शक्ति की राजनीति से मुक्त रहकर सपन्न कर सके तो सभव है यह एक नई सांस्कृतिक शक्ति को उदय म ले आयें जो समय पर राज नीतिक आग्रहों और अभिनिवेशों पर अकुश का काम दे।

साहित्य अकादमी जैसी संस्था के काय और अनिश्चित भी यदि भारती सगम की उपयोगिता ह तो यह यही कि एक बड़े पमाने पर जनमानस म वह सांस्कृतिक चेतना को दीप्त करे और लोक-मगलाशा को मानस की धार उठने की प्रेरणा देन के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि का निर्माण कर सके।

रा य को और उसके बल को आधार म लेकर न चलने की प्रतिष्ठा ठेठ भारतीय है दूसरी जगह शायद वह नहीं मिलेगी। आधुनिक काल म गांधीजी ने

उसका सफल प्रयोग करके दिखलाया है। साहित्य का काम मानव की शुद्ध चित्-शक्ति से ही चल सकता है। सत्ता और संस्था का सहारा लेने पर मानों प्राण शक्ति मानव से विमुख पड़कर तन्त्र-यन्त्र वाली बन जाती और संस्कृति सेवा के अयोग्य हो जाती है। यह पहचानकर संगम ने अपना काम किया तो बहुत से खतरों से बचकर वह भारत के दान को दुनिया के सामने लाने का श्रेय पा सकेगा।

दिसम्बर, ६०

■ ■ ■

भारती संगम नई दिल्ली द्वारा आयोजित संगोष्ठी में पढ़ा गया वक्तव्य।

युग-समस्यायें व साहित्यिक

इसके लायक कोई अपराध तो मुझ से नहीं बन पड़ा है कि जिसका मुझे ऐसा दण्ड दिया जाये। खास तौर से इस अवसर पर तो मैं आप साहित्यकारों से मिलने मात्र आया था!

मैं अनुभव करता हूं कि मेरी जिन्दगी तो एक आवारा की सी जिन्दगी रही है। अब भी मैं कोई दुनिया में जमा हुआ आदमी नहीं हूं उखड़ा-उखड़ा सा हूं। ऐसे के साथ सहानुभूति तो की जा सकती है ईर्ष्या नहीं। अभिनन्दन तो जमे हुओं का स्थापितों का कीजिये।

मैं मानता हूं कि साहित्य तो सब का होता है। साहित्य जीवन है। साहित्य या साहित्यकार जीवन को नवना बरस देता है इसीलिये वह स्मरणीय भी बन जाता है।

मेरी श्रद्धा है कि साहित्य, जो जमे हुए हैं, स्थिर हो गये हैं उन लोगों के विलास के लिए नहीं है। कारण जो जमे, ऊपर से लदे होते हैं वे वस्तु से चिपक जाते हैं चैतन्य को गतिहीन बना देते हैं। धरती पर गड़े हुए परा का ही दूसरा नाम स्थिरता या स्वाय की जड़ता है।

अकिंचन, उखड़ा आवारा का निज का कुछ नहीं रहता कि जिसमें वह चिपक कर रहे। वह सबके लिए अपने को खो देता है। अकिंचन भाव से रचना करता है और ऐसी दशा में वह बिना भेद भाव के सब के लिए उपयोगी बन जाता है। इसीलिये जीवनदायक साहित्यकार तो आवारा—उखड़ा हुआ—सा होता है।

आज व्यवहार की बहुत सी समस्यायें हैं। आदर्श व कल्पना व्यर्थ और अर्थहीन जान पड़ती है। हम आज व्यावहारिकता में बहुत अधिक फंस गये हैं। रोटी कपड़ा गृहस्थी व समाज—व्यवहार या धन वृद्धि यहां सब प्राथमिक आवश्यकतायें आज आवश्यक समस्यायें बन गई हैं।

हवा के गट्टज में मिलजाने के कारण उसकी कोई कीमत नहीं मानी जा रही है। जब और चीजें जुगनी हैं तब हवा को गिनती में मान का कन पार

उसका सफल प्रयोग करके दिखलाया है। साहित्य का काम मानव की शुद्ध चित्-शक्ति से ही चल सकता है। सत्ता और संस्था का सहारा लेने पर मानों प्राण-शक्ति मानव से विमुख पड़कर तन्त्र-यन्त्र वाली बन जाती और संस्कृति सेवा के अयोग्य हो जाती है। यह पहचानकर संगम ने अपना काम किया तो बहुत से खतरों से बचकर वह भारत के दान को दुनिया के सामने लाने का श्रेय पा सकेगा।

दिसम्बर ६०

■ ■ ■

भारती संगम नई दिल्ली द्वारा आयोजित संगोष्ठी में पढ़ा गया वक्तव्य।

युग-समस्यायें व साहित्यिक

इससे सायक कोई अपराध तो मुझ स नहीं बन पड़ा है कि जिसका मुझे ऐसा दण्ड दिया जाये। खास तौर से इस अवसर पर तो मैं आप साहित्यकारों से मिलने मात्र आया था।

मैं अनुभव करता हू कि मेरी जिन्दगी तो एक आवारा की सी जिन्दगी रही है। अब भी मैं कोई दुनिया में जमा हुआ आदमी नहीं हू उखड़ा-उखड़ा सा हूं। ऐसे के साथ सहानुभूति तो की जा सकती है, ईर्ष्या नहीं। अभिनन्दन तो जमे हुआ का स्थापितों का कीजिये।

मैं मानता हू कि साहित्य तो सब का होता है। साहित्य जीवन है। साहित्य या साहित्यकार जीवन को चेतना बरस देता है इसीलिये वह स्मरणीय भी बन जाता है।

मेरी श्रद्धा है कि साहित्य जो जमे हुए हैं स्थिर हो गए हैं, उन लोगों के विलास के लिए नहीं है। कारण जो जमे, ऊपर स लदे होते हैं व वस्तु में चिपक जाते हैं, चैतन्य को गतिहीन बना देते हैं। धरती पर गड़े हुए परों का ही दूसरा नाम स्थिरता या स्वार्थ की जड़ता है।

अकिंचन उखड़े आवारा का निज का कुछ नहीं रहता कि जिसमें वह चिपक कर रहे। वह सबके लिए अपने को खो देता है। अकिंचन भाव स रचना करता है और ऐसी दशा में वह बिना भेद भाव के सब के लिए उपयोगी बन जाता है। इसीलिये जीवनदायक साहित्यकार तो आवारा—उखड़ा हुआ—सा होता है।

आज व्यवहार की बहुत सी समस्यायें हैं। आदर्श व कल्पना व्यर्थ और अर्थहीन जान पड़ती है। हम आज व्यावहारिकता में बहुत अधिक फंस गए हैं। रोटी कपड़ा, गृहस्थी व समाज—व्यवहार या धन वृद्धि यही सब प्राथमिक आवश्यकताएं आज आवश्यक समस्यायें बन गई हैं।

कला व गद्य में मिलजाने के कारण उसकी कोई कीमत नहीं मानी जा रही है। जब और चीजें जुटती हैं तब कला को जिन्दगी में स्थान का क्या मात्र

यकता है ? परन्तु हम जानत हैं कि और सब प्राथमिक चीजा से हवा की आवश्यकता प्राण धारण के लिए कहीं अधिक है। उसके बिना सास लेना असभव हो जायगा।

मेरी तो यह भी आस्था है कि जिसके पास कुछ भी दिखाई नही देता, जो अकिंचन है आज की भाषा म जो शोपित या सवहारा है कमचेष्टा में वह भविष्य का विधाता है। उसके पास अपना भविष्य है। शायद वह हमारे भविष्य का आदश पुरुष है।

सत्ता का वल आदम का दवा तो सकता है उसकी वाणी को कुछ काल के लिए अवरुद्ध भी कर सकता है। किन्तु जो मानवता को इसम मुक्त करेगा वही महान होगा। मानवता का उद्धारक बुद्ध का स्वरूप होगा।

जो सत्ता के बल स बनी जान पडता है उसके पास अन्याय का बल है। परन्तु उठाने वाला उभारन वाला सत्ता से दूर होगा। अकिंचनता उसकी विवशता न होगी अकिंचनता तो ऐसे का सकल्प होगी प्रतिज्ञा होगी।

स्वराज्य मिले भारत म गुरु चन अधिक दुर्लभ हा गय है। जगत भी समस्याओं स सकुलित अनुभव करता है। और हमन निरीह मानव का मूल्य शून्य के रूप म आका है। उसकी अकिंचनता शक्तिहीनता मानी गई है। हम तो शक्ति को सगठित सत्ता और समूह म दख रहे हैं। मानव के प्रति हमारे भीतर गहरी अनास्था है और यही व्याधि के मूल म है।

हम अकिंचन सत्याग्रही श्रमी मानव को कवल एक मात्र मानते है। और मानते हैं कि सशस्त्र सनिक हमारी रक्षा करता है। प्रत्यक दश सनिक को महत्व दे रहा है। सनिक को वज्ञानिक विधि स शिक्षायें दी जाती है कि वह भूल जाये कि वह भावुक है वह दृढ रूप स यत्र की भाति स सहार करने की क्षमता उत्पन्न कर ल और भयानक भाव स सहार करने लगे। विश्वास करे कि अपने शस्त्रा से वह दुष्ट-आततायियो को मार रहा है।

निरीह मानव को स्वच्छा से सेवावृत्ति बन श्रम करन वाले को शून्य मान लिया गया है और अश्रमिक सनिक को भोग के सारे सामान उपलब्ध किए जाते है। शस्त्रा की शिक्षा पाकर वह हमारी रक्षा जो करता है। सहार का काय ही जो उसके जीवन का सब कुछ बन बठा है। इसीलिए आज के समाज म सम्मान श्रमिक का नहीं सनिक का है।

इतिहास मनुष्यता को उपा उठायेगा तो वह सभ्यता जिसने सैनिक को महत्व दिया है बबर मानी जायगी संस्कृति व सभ्यता वही है जो ऐसे मानव को महत्व दे कि जो अह को अपनी इकाई को महत्व न दे अपने को खोकर-

मिलकर सबके हित में श्रम का अर्पण दें। यही मेरी श्रद्धा है और आपकी श्रद्धा भी यदि इस पर हो तो मैं आपकी कृपा को स्वीकार करता हूँ।

मैं अकिंचनता व अभाव में पला-पुसा आदमी हूँ। कभी उस गरीबी को दुर्भाग्य भी मान लेता था। परन्तु आज आसपास की स्थितियाँ देखकर अब यह भाव नहीं रह गया है। मैंने देखा अनेकों सम्पन्न जन्म अभय में पले परन्तु सम्भवतः उनके विकास में उन्नत मानव बनने में यह सुविधाएँ बाधाएँ ही अधिक बनीं।

मैंने कुछ अधिक पढ़ना-लिखना नहीं पाया। भगवान ने यह कृपा की कि मुझे वर्तमान से इतना जकड़ित नहीं रखा। सम्पन्नों का जीवन वर्तमान में अत्यन्त जकड़ित हो जाता है। वह साधन-सम्पन्न वर्तमान में इतने निमग्न हो जाते हैं कि भविष्य की उन्हें कोई अनुभूति ही नहीं रहती। वर्तमान की रक्षा में ही वे आबद्ध रहते हैं। उनके जीवन की परिभाषा मायामिक व कृत्रिम बन जाती है। वे अपने जीवन को कृत्रिमता से ऐसा सम्भ्रान्त बना लेते हैं कि वह असली नहीं रह जाता।

आज के लोकतन्त्र जनतन्त्र का क्या माप है? जो समाजगत नहीं हैं वे साधारण जन के ऊपर बैठे हैं। साधारण जन पर विशेष जन आसीन हैं। यह जनतन्त्र नहीं विशेषों का तन्त्र है। यह तन्त्र चलने वाला नहीं। सारा बल वास्तव में यदि साधारण में है, तो उसकी प्रतिष्ठा भी होना चाहिए। उसकी भावनाओं का सम्मान भी होना चाहिए। यदि जन बल की श्रद्धा का ठीक से परिपालन और उपयोग किया जाय तो अवश्य ही वह साधक और उपयोगी सिद्ध होगा।

अंग्रेज चले गये और बाद में ही गांधीजी भी चले गये। तब हमारी आजादी बहुत अधिक परेशानियाँ घर लाई है। इनका हल निकालना साहित्यकार का कर्तव्य है। आजादी आई तो परन्तु वह एक संगठित दल के पास आई। पर जनतन्त्र में यह आजादी तो हर आदमी के पास पहुँचनी चाहिए। और इस पहचान का काम वही शक्ति कर सकती कि जो पद में नहीं सेवा और सहानुभूति में विश्वास करती हो। नहीं तो हमारी यह आजादी ही बंधन बन जायगी। और तब सम्भलना भी कठिन हो जायगा।

सारे जन-समूह को शक्ति-सम्पन्न बनाना ही जनतन्त्र है। यह दर्शन जब सबको सुलभ होगा तभी सच्चा जनतन्त्र होगा। अभी न तो अपनी श्रम और सेवा का सिक्का नहीं चल रहा प्रतिष्ठा व प्रभाव के बल पर कार्य चलाया जा रहा है।

श्यकता है ? परन्तु हम जानते हैं कि और सब प्राथमिक चीजों में हवा की आवश्यकता प्राण धारण के लिए कहीं अधिक है। उसके बिना सांस लेना असम्भव हो जायगा।

मेरी तो यह भी आस्था है कि जिसके पास कुछ भी दिखाई नहीं देता, जो अकिंचन है आज की भाषा में जो शोषित या सर्वहारा है कमचेष्टा में वह भविष्य का विधाता है। उसके पास अपना भविष्य है। शायद वह हमारे भविष्य का आदर्श पुरुष है।

सत्ता का बल आदमी को दबा तो सकता है उसकी वाणी को कुछ काल के लिए अवरुद्ध भी कर सकता है। किन्तु जो मानवता को इससे मुक्त करेगा वही महान होगा। मानवता का उद्धारक बुद्ध का स्वरूप होगा।

जो सत्ता के बल से बनी जान पड़ता है, उसके पास अन्याय का बल है। परन्तु उठाने वाला उभारने वाला सत्ता से दूर होगा। अकिंचनता उसकी विवशता न होगी अकिंचनता तो ऐसे का सकल्प होगी प्रतिज्ञा होगी।

स्वराज्य मिले भारत में सुख चैन अधिक दुर्लभ हो गये हैं। जगत भी समस्याओं से संकुलित अनुभव करता है। और हमने निरीह मानव का मूल्य शून्य के रूप में आंका है। उसकी अकिंचनता शक्तिहीनता मानी गई है। हम तो शक्ति को संगठित सत्ता और संग्रह में देख रहे हैं। मानव के प्रति हमारे भीतर गहरी अनास्था है और यही व्याधि का मूल में है।

हम अकिंचन सेवाव्रती श्रमी मानव को केवल एक मात्र मानते हैं। और मानते हैं कि सशस्त्र सैनिक हमारी रक्षा करता है। प्रत्येक देश सैनिक को महत्व दे रहा है। सैनिक को वैज्ञानिक विधि से शिक्षायें दी जाती हैं कि वह भूल जावे कि वह भावुक है वह दृढ़ रूप से यन्त्र की भांति से संहार करने की क्षमता उत्पन्न कर ले और भयानक भाव से संहार करने लगे। विश्वास करे कि अपने शस्त्रों से वह दुष्ट-आततायियों को मार रहा है।

निरीह मानव को स्वेच्छा से सेवावृत्ति बन श्रम करने वाले को शून्य मान लिया गया है और अश्रमिक सैनिक का भोग के सारे सामान उपलब्ध किए जाते हैं। शस्त्रों की शिक्षा पाकर वह हमारी रक्षा जो करता है। संहार का काम ही जो उसके जीवन का सब कुछ बन बैठा है। इसीलिए आज के समाज में सम्मान श्रमिक का नहीं सैनिक का है।

इतिहास मनुष्यता को ऊंचा उठायेगा तो वह सभ्यता जिसने सैनिक को महत्व दिया है बर्बर मानी जायगी। संस्कृति व सभ्यता वही है जो ऐसे मानव को महत्व दे कि जो अहं को अपनी इकाई को महत्व न दे अपने को खोकर-

मिलाकर सबके हित में श्रम का अर्पण दें। यही मेरी श्रद्धा है और आपकी श्रद्धा भी यदि इस पर हो तो मैं आपकी कृपा को स्वीकार करता हूं।)

मैं अकिंचनता व अभाव में पला-पुसा आदमी हूं। कभी उस गरीबी को दुर्भाग्य भी मान लेता था। परन्तु आज आसपास की स्थितियां देखकर अब यह भाव नहीं रह गया है। मैंने देखा अनको सम्पन्न जन वैभव में पल-भल परन्तु सम्भवतः उनके विकास मे उन्नत मानव बनने में यह सुविधाए बाधाएं ही अधिक बनी।

मैं कुछ अधिक पढना लिखना नहीं पाया। भगवान ने यह कृपा की कि मुझे वर्तमान से इतना जडित नहीं रखा। सम्पन्नों का जीवन वर्तमान से अत्यन्त जडित हो जाता है। यह साधन-सम्पन्न वर्तमान इतने निरत हो जाते हैं कि भविष्य की उन्हें कोई अनुभूति ही नहीं रहती। वर्तमान की रक्षा में ही वे आबद्ध रहते हैं। उनके जीवन की परिभाषा सामयिक व कृत्रिम बन जाती है। वे अपने जीवन को कृत्रिमता से ऐसा सम्भ्रान्त बना लेते हैं कि वह असली नहीं रह जाता।

आज के लोकतन्त्र जनतन्त्र का क्या माप है? जो समाजगत नहीं हैं वे साधारण जन के ऊपर बैठे हैं। साधारण जन पर विशेष जन आसीन हैं। यह जनतन्त्र नहीं विशेषों का तन्त्र है। यह तन्त्र चलने वाला नहीं। सारा बल शाश्वत यदि साधारण में है तो उसकी प्रतिष्ठा भी होनी चाहिए। उसकी भावनाओं का सम्मान भी होना चाहिए। यदि जन बल की श्रद्धा का ठीक से परिपालन और उपयोग किया जाय तो अवश्य ही वह सार्थक और उपयोगी सिद्ध होगा।

अंग्रेज चले गये और साथ में ही गांधीजी भी चले गये। तबसे हमारी आजादी बहुत अधिक परेशानियां घर लाई है। इनका हल निकालना साहित्यकार का कर्तव्य है। आजादी आई तो परन्तु वह एक संगठित दल के पास आई। पर जनतन्त्र में यह आजादी तो हर आदमी के पास पहुंचनी चाहिए। और इस पहुंचाने का काम वही शक्ति कर सकती है जो पद में नहीं सेवा और सहानुभूति में विश्वास करती हो। नहीं तो हमारी यह आजादी ही बन्धन बन जायगी। और सब सम्भलना भी कठिन हो जायगा।

सारे जन-समूह को शक्ति-सम्पन्न बनाना ही जनतन्त्र है। यह दान जब सबको सुलभ होगा तभी सच्चा जनतन्त्र होगा। अभी न तो असली श्रम और सेवा का सिक्का नहीं चल रहा प्रतिष्ठा व प्रभाव के बल पर कार्य चलाया जा रहा है।

आज जिसे हम गिनती में लना नही चाहते जिसको विचार म लेना
क्षामखयाली माना जाता है। जो कुछ-नहीं-जैसा बचारा है। ऐसे वचित-परित्य
मत मानव के ही पास शक्ति की ज्योति है। और साम्यवाद के दशन के पक्ष म
इतना ता कहा ही जा सकता है कि उसन मानव-श्रद्धा को घन से जन की आर
मोड दिया। अवश्य ही उसने व्यक्ति को नही समूह को महत्व दिया। व्यक्ति
के उन्नत होने से समूह भी सबल व उन्नत होगा इसे वह ध्यान म नही लाया।
शायद कारण कि उसन उन्नति को सदा आर्थिक और भौतिक रूप में देखा।
वहां अवश्य मर्यादा है कि एक की उन्नति दूसरे का अवनति पर हो। पर
उन्नति जो नतिक हो वह एक के साथ सब की होती है। साम्य विचार को
सोचना होगा कि जनवाद के नाम पर निरकुश अधिनायक तन्त्र का व्यवहार
निस्तार का माग नही है।

परन्तु फिर भी उम विचार म इतनी गुजायश तो है ही कि मानव की
इकाई नही तो मानव के समूह म श्रद्धा रखी जाय। अब उस परिष्कृत इतना ही
करना है कि यदि श्रद्धा जनसमूह म जनता म रखी जा सकती है तो वह जन
में भी रखी जाय। और ऐसा होन पर जनता के नाम पर शासन नहा किया
जायगा जनता की सेवा का प्रसार हागा। शासन जन-जन का ध्यान करगा।
व्यक्ति साम्य और शासन का मापदण्ड होगा। इसी स्वप्न को साकार हाना है।
वही प्राथमिक और मावकालिक है। अन्तिम शिव की प्राप्ति का रूप यही हो
सकता है।

इसे भूलकर मानव-सत्य त्याग कर इसस च्युत होकर राज्य स्थापित सत्ता
म चिपक रहता है। वाद या राष्ट्र का मोह उस आबद्ध कर लता है। परन्तु
हमारी आशा तो प्रकृत मानव से ही पूरी होगी। आज नही तो कुछ काल के
बाद प्रकृत मानव अवश्य उठगा। लगी हुई कृत्रिमतायें बधन उस दबाकर न
रख सकेंगी। उन्हें परास्त व ध्वस्त करके वह अवश्य उठगा। अपने वास्तविक
रूप और भाव में प्रतिष्ठित हागा और तब राज्य की नही मानव सहानुभूति
की नीति म शासित होगी। इसे भाग्य या भवितव्यता कह सकते हैं परन्तु
मेरी आस्था है कि वह मानवता का दशन मानवता को अवश्य प्राप्त होगा और
वह भारत से हागा। कारण अन्य कहा से उसके प्राप्त होने की सम्भावना अभी
तो दिखाई नहीं देता।

साहित्यकार तो मैं हू नहीं परन्तु मानव के नाते मैं इसी दिन का लाने के
लिए प्रयत्नशील हू। उस दिन एसा मानव जिसके पास दिल है जो बुद्धि चातुरी
में सारा श्रम से बच जाना नहीं चाहता श्रम का ही भोग जानना और मानता

है वह सत्ता के स्थान पर सम्मान के पद पर प्रतिष्ठित हो और साहित्यकार जाने और अनजाने इसी दिशा में काम करता है।

जो इसके विपरीत करता है वह प्रसिद्धि तो प्राप्त कर सकता है। विज्ञापन द्वारा निकम्मी दवायें भी खूब प्रसिद्धि प्राप्त कर लेती हैं परन्तु वे रोग को मिटा नहीं पाता। उसी प्रकार विपरीत काय करने वाला व्यक्ति प्रसिद्धि व प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है पर आगे काल की मथि म उसकी व्यथता सिद्ध होकर रहेगी। यह साहित्यकार का काय तो नहीं है विषमता का पोषण करना।

ऐसी स्थिति भी आती है कि किसी-न किसी का पक्ष लेना अनिवाय सा जान पड़ता है। उस स्थिति म जब हम इस तटस्थता के सिद्धांत को काय म लाते हैं तो व्यावहारिकता के समथक कह सकते हैं कि यह बच निकलने का ढंग है हवाई तरीका है। परन्तु मैं तो तीसरे भाव का ही समथक हूं। यह वाद या वह राष्ट्र कोई भी हो यदि मानवता की प्रतिष्ठा नहीं है तो हम उसकी स्थापना के लिए सक्रिय होना चाहिए। इसी प्रकृत मानव के बल पर ही वाद या राष्ट्र सपष सामर्थ्य प्राप्त करते हैं। आवश्यकता है उस प्रकृत मानव की आत्मचेतना को जागृत कर देने भर की।

उसी के बल पर सब स्थापित हैं परन्तु उसी का स्थान कहीं नहीं है। भीषण कोलाहल म उसका स्वर मुखर नहीं हो पाता है। कारण उसका स्वर धीमा है परन्तु वही मीठा है। गमहिठ म हम उसे अनुपयोगी भी कह सकते हैं, सामयिक काय का भी हम कह न सके। परन्तु वास्तविक वही स्वर है यह अपने स्थान पर स्थापित होकर ही रहेगा।

आज के भारत के पास राजनीति के सिवा अपनी कोई चीज ही नहीं। केन्द्र मे कानून की राजनीतिक एकता है। परन्तु उसके बाद प्रान्तों और भाषाओं का विभाजन है और यह विभाजन और भी कटीला होता दीख रहा है।

भारत राजनीति म कभी आज के समान इतने बड़े रूप म एक नहीं था। सम्राट अशोक के जमाने म भी नहीं। यह गौरव मानने का भी बात है। देश में हजारों ही राजा थे रजवाड़ा रियासतों म देश बंटा था। परन्तु भीतर उस काल भी भारत एक था। हजारों वर्षों से भारतीय एकता की परम्परा अविच्छिन्न चली आ रही है और वह एकता भी आत्मिक एकता। मूल्य आदर्शों की सभ्यता व संस्कृति की एकता और आज विधान की कानून की एकता है। परन्तु उसम भावात्मक एकता का नितान्त अभाव है। सांस्कृतिक एकता का अभाव होने पर राजनीतिक एकता केवल बन्धन मात्र होती है। परस्पर के आकषण का ममत्व का निखाव उसम नहीं होता और इस उत्थान साहित्य

ही दे सकता है।

हम विराट कांग्रेस अधिवेशन कर सकते हैं। लाखों सदस्यों का समूह जमा हो सकता है। परन्तु राजनीतिक होकर प्रत्येक मानस जहाँ दूसरे के काट की बात सोचता है। ऐसा संगठन जिसमें सबकी भावनाएँ स्पर्धात्मक रूप में कार्य करें तो वह व्यर्थ हो जाता है। और इस कमी को साहित्यकार नहीं तो और कौन पूरा करेगा ? अब यदि मैं इस रूप में साहित्यकार होता तो आपकी कृपा का पात्र भी हो पाता।

आज का हिन्दी का साहित्यकार क्या घेरे में आबद्ध होना चाहता है ? क्या वह विशालता को त्याग रहा है ? यदि साहित्यकार का सच्चा कर्तव्य पूरा करना है तो हम प्रथम हिन्दी पर कम बल देना होगा यही कर्तव्य हर भाषा का साहित्यकार अपनी जगह कर रहा है। साहित्यकार प्रेमचंद ने मानव अनुभूति भावनाओं और वेदनाओं को साकार बनाया है। तो वह हिन्दी में लिखने के ही कारण केवल हिन्दी के ही नहीं है। वे सबके हैं सभी भाषा के साहित्यिकों के हैं। हम हिन्दी पर अधिक बल देकर उन्हें घेरे में बांध कर नहीं रख सकते।

और दूसरे भाषा भाषी साहित्यकारों को क्या हम सम्मान नहीं देते ? क्या टालस्टाय और डास्टायवस्की रूसी भाषा में लिखने के ही कारण केवल रूस के ही हैं मेरे नहीं ? हम तो इस राष्ट्रवदी को स्वीकार नहीं करेंगे और इसी प्रकार क्या दूसरे भाषाभाषी आपके साहित्यकारों के विषय में नहीं विचारते ? साहित्य सब का है उसे घेरे में बाँधा नहीं जा सकता। यही नहीं ऐसा करना साहित्य को हानि पहुँचाना होगा।

उदाहरण स्वरूप बंगाल ने रवीन्द्र रवीन्द्र को अत्यधिक बंगला का बनाकर बहुत बड़ा अहित किया है और आप भी यदि ऐसा ही करेंगे तो आप भी बहुत बड़ा अहित ही करेंगे।

भाषा के कारण आज संघर्ष बढ़ गया है। अब प्रान्तीयता से बढ़कर यह संघर्ष कई प्रान्तों का समूह होकर एक-दूसरे का विरोध करने पर पहुँच रहा है। यह अत्यन्त अहितकर व घातक प्रवृत्ति है और यह केवल इसीलिए हो रहा है। हम बाहरी अभिव्यक्ति के साधन को ही स्वतन्त्र महत्व देने लगे हैं। भाषा अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र ही तो है ? और उस नाते किसी से कम पवित्र नहीं है।

भाषा का निर्माण व्यवहार से होता है। मैं हिन्दी भाषा जानता हूँ या लिखता हूँ तो व्याकरण का विचार करके नहीं। पण्डितों को ऐसे व्यवहार में व्याकरण के दोष दिखाई दे सकते हैं। पण्डित तो अब भी विद्या सम्पन्नता से

भाषा पर ऐंठे हुए हैं। प्रेम की अभिव्यक्ति स्वाभाविक गति से साहित्य में होती है। पण्डितों को उस भाषा में व्याकरण पर ज़ोर पड़ता हुआ मालूम होता है। चलन में प्रवाह-रूप ज़ोर तो पड़ता ही है। गति में ज़ोर पड़ता ही। अतः भाषा पर जमकर बैठा हुआ पण्डित तो प्रबल हो जाता है। साहित्यकार है वह जो भाषा के द्वार पर भिखारी है। प्रभु नहीं पुजारी है और भाषा से प्राप्त वरदान से रचनाकार बनता है। मेरी दृष्टि में भाषा को वही सच्ची सार्थकता का गौरव देता है।

भाषा की सम्पन्नता शब्द-कोषों में नहीं, हृदय को स्फुरण देने वाली अनुभूतियों, उमंगों व प्रेरणाओं को व्यक्त करने की शक्ति से होती है। इसीलिए भाषा को मानवता से या साहित्य से अलग रूप देना ठीक नहीं है। भाषा के पण्डित व साहित्य-स्रष्टा दो अलग होते हैं। साहित्यकार को जब जनता स्वीकार कर लेती है तब पण्डित भी उसे मान्यता दे देते हैं। इसलिए आज की स्थिति में स्पष्ट रूप से यह कह देना अत्यावश्यक हो गया है कि हम भाषा को मानवता के मान-प्रदान के साधन के रूप में स्वीकार करें, अपने अहंभाव, मोह व अधिकार लिप्सा की पूर्ति का साधन न बनाएं। भाषा को किसी से अलग या ऊपर रखने का आग्रह न करें।

भाषा विषयक इस विवाद ने तूल पकड़कर अंग्रेजी भाषा को १५ वर्षों की छूट दिला दी है। हम भूल गये कि भाषा साहित्य के साथ है। भाषा रचना के साथ चलती है। यदि अपनी भाषा की अपूर्णताओं का अनुभव करके हमने उसके साहित्य को समृद्ध बनाया होता तो हम आग्रह करने की आवश्यकता ही न होती। हमारे भाषा का प्रसाद ही अपने प्रभाव को मान्य करा लेता।

हिन्दी कानून से राज्य भाषा है। आज भी हिन्दी भाषी और अन्य भाषा-भाषी ऐसे जन हैं जो इसे राष्ट्रभाषा नहीं स्वीकार करते। मैं तो इसे राष्ट्रभाषा ही मानता हूं। राष्ट्र भाषा कानून के बल पर नहीं, चलन व प्रभाव के बल पर अपनी सजीवता व विस्तार के आधार पर।

इधर हिन्दी साहित्य सम्मेलन में पार्टीबाजी का झगड़ा उठ खड़ा हुआ है। उधर राष्ट्र भाषा प्रचार परिषद् सरकारी मान्यता प्राप्त करके सारे देश में अपनी परीक्षायें चलाने की सम्भावनायें देख रही है। यह परिस्थिति चिन्तामय है।

भाषा को साहित्य से अलग करके उसे स्वतन्त्र रूप देने की भूल की गई है। हमें तो भाषा को सरल, मधुर और हृदय को स्पर्श करती हुई बनाना होगा। अपने स्वत्व और निजत्व पर अधिक महत्व न देकर बल्कि उसका अमल प्रस्तुत करके हम राष्ट्र को अधिक सबल बनाने में सहायक होंगे।

भाषा को किसी सिद्धान्त विशेष से न जकड़कर उसे व्यवहार से, जीवन के प्रवाह से और हृदय से जोड़ा जाये। अभिव्यक्ति की अनुभूतियां किसी समय साहित्यकार को सीमा में बंधा नहीं रहने देगी। अतः शब्दों का प्रवाह मुक्त होना चाहिए। किसी सिद्धान्त अथवा सूत्र विशेष से बंधकर उसे नहीं रहना चाहिए।

आवारागर्दी जीवन का स्वभाव बन गया है। माता को चिन्ता होती थी कि यह लड़का कैसे जियेगा ? आजीविका कैसे जुटायेगा और है भी सच। अब भी कुछ इसी तरह से चल रहा है। परन्तु जब धन कमाने का शऊर ही नहीं तो उस ओर सोचा ही क्यों जाय ?

देश में सन् २१ से ४२ तक यह फक्कड़पन की हवा प्रबल वेग से चली। सोचा जाता था कि औरों के आंसू पोंछने के लिए अपने को होम देना चाहिए। कोरे धन की कमाई व्यर्थ है। वह कमाई सबके बस की भी नहीं परन्तु अपने को मिटाकर औरों के आंसू पोंछने की सामर्थ्य तो है। बंधन मुक्त होना है। बाधा विघ्नों से हंसकर खेलना है। मस्ती से निर्धनता में सुख प्राप्त करना है। परन्तु स्वतन्त्रता आते ही हवा बदली।

युग की आवश्यकताएं तो आज उस फक्कड़पन को और अधिक व्यापक रूप में चाहती हैं। नये निर्माण के लिए उसकी तीव्र आवश्यकता है और इस बदली हुई हवा को बदलने का सामर्थ्य साहित्यकार में ही है। साहित्यकार ही को इसे बदलना होगा।



मार्च, ५१

साहित्यकार का वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व

साहित्यकार, स्पष्ट है, कोई अलग या खास आदमी नहीं है। जो उसके बारे में सही है, वही हर एक के बारे में सही होना चाहिए।

साहित्यकार होने के नाते हम उसकी ओर से बात करें, यह ठीक पर यह मानव के पक्ष की बात है।

स्वातन्त्र्य मेरे निकट एक मूल्य है। किन्तु उपयोग से अलग उसका विचार अवास्तव हो सकता है। यानी स्वतन्त्रता मानव का अधिकार है, इस कहने में से मुझे विशेष आशय नहीं प्राप्त होता।

उपयोग से हम स्वतन्त्रता का निर्माण करते हैं। दुरुपयोग उसे सीमित करता है और बन्धन डालता है। समीचीन उपयोग उसे फलाता और व्यक्ति को व्याप्ति देकर उत्तरोत्तर उसे मुक्त करता है।

दायित्व व्यक्ति का असल में वैयक्तिक और आत्मिक है। यानी वह जीवन में गर्भित है। यहां तक कि वह दायित्व के रूप में अनुभव में नहीं आता, स्वभाव सा लगता है। सच्चे दायित्व का रूप यही है। वह आनन्दमय है। वह स्वतन्त्रता से अभिन्न है। वह सृजनात्मक है। उसका नियम अपने में है। समाज में उसका परिणाम है, प्रतिफल है। आनन्द का उत्स भीतर है, इसीसे अनिवार्य है कि उसका प्रवाह बाहर को हो।

दायित्व को सामाजिक कहना परिणाम की ओर से उसे देखना है। उसकी अतिरिक्त चेतना स्वयं समाज के हित में इष्ट नहीं है।

प्रेम दायित्व नहीं है। किन्तु वही है जो एक को अनेक से जोड़ता है। सम्बन्ध सब वहीं से उगते हैं। उस प्रेम की अनिवार्यता को लेकर जीवन सृष्ट हुआ है। यह सच है कि जीव का जीवन प्रेम है। इस तरह सामाजिकता व्यक्ति पर आच्छादन नहीं है, उसका सहज विकास और प्रकाश है।

दायित्व कुछ थोड़ी-सी चीज है। पर यह सम्भव है जिसमें रस नहीं भी है। ऐसा दायित्व भीतर कुछ दमित भी छोड़ जा सकता है। उसमें व्यक्तित्व

भाषा को किसी सिद्धान्त विशेष से न जकड़कर उसे व्यवहार से जीवन के प्रवाह से और हृदय से जोड़ा जाये। अभिव्यक्ति की अनुभूतियाँ किसी समय साहित्यकार को सीमा में बंधा नहीं रहने देगी। अतः शब्दों का प्रवाह मुक्त होना चाहिए। किसी सिद्धान्त अथवा सूत्र विशेष से बंधकर उसे नहीं रहना चाहिए।

आवारागर्दी जीवन का स्वभाव बन गया है। माता को चिन्ता होती थी कि यह लड़का कैसे जियेगा ? आजीविका कैसे जुटायेगा और है भी सच। अब भी कुछ इसी तरह से चल रहा है। परन्तु जब धन कमाने का शऊर ही नहीं तो उस ओर सोचा ही क्यों जाय ?

देश में सन् २१ से ४२ तक यह फक्कड़पन की हवा प्रबल वेग से चली। सोचा जाता था कि औरों के आंसू पोंछने के लिए अपने को होम देना चाहिए। कोरे धन की कमाई व्यर्थ है। वह कमाई सबके बस की भी नहीं परन्तु अपने को मिटाकर औरों के आंसू पोंछने की सामर्थ्य तो है। बंधन मुक्त होना है। बाधा विघ्नों से हंसकर खेलना है। मस्ती से निधनता में सुख प्राप्त करना है। परन्तु स्वतन्त्रता आते ही हवा बदली।

युग की आवश्यकताएं तो आज उस फक्कड़पन को और अधिक व्यापक रूप में चाहती हैं। नये निर्माण के लिए उसकी तीव्र आवश्यकता है और इस बदली हुई हवा को बदलने का सामर्थ्य साहित्यकार में ही है। साहित्यकार ही को इसे बदलना होगा।

■ ■ ■

भाव ५१

साहित्यकार का वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व

साहित्यकार, स्पष्ट है, कोई अलग या खास प्राणी नहीं है। जो उसके बारे में सही है, वही हर एक के बारे में सही होना चाहिए।

साहित्यकार होने के नाते हम उसकी ओर से बात करें यह ठीक, पर वह मानव के पक्ष की बात है।

स्वातन्त्र्य मेरे निकट एक मूल्य है। किन्तु उपयोग से अलग उसका विचार अवास्तव हो सकता है। यानी स्वतन्त्रता मानव का अधिकार है, इस कहने में से मुझे विशेष आशय नहीं प्राप्त होता।

उपयोग से हम स्वतन्त्रता का निर्माण करते हैं। दुरुपयोग उसे सीमित करता है और बन्धन डालता है। समीचीन उपयोग उसे फैलाता और व्यक्ति को व्याप्ति देकर उत्तरोत्तर उसे मुक्त करता है।

दायित्व व्यक्ति का असल में वैयक्तिक और आत्मिक है। यानी वह जीवन में गर्भित है। यहाँ तक कि वह दायित्व के रूप में अनुभव में नहीं आता स्वभाव-सा लगता है। सच्चे दायित्व का रूप यही है। वह आनन्दमय है। वह स्वतन्त्रता से अभिन्न है। वह सृजनात्मक है। उसका नियम अपने में है। समाज में उसका परिणाम है प्रतिफल है। आनन्द का उत्स भीतर है इसीसे अनिवार्य है कि उसका प्रवाह बाहर को हो।

दायित्व को सामाजिक कहना परिणाम की ओर से उसे देखना है। उसकी अतिरिक्त चेतना स्वयं समाज के हित में इष्ट नहीं है।

प्रेम दायित्व नहीं है। किन्तु वही है जो एक को अनेक से जोड़ता है। सम्बन्ध सब वहीं से उपजते हैं। उस प्रेम की अनिवार्यता को स्वयं जीवन सृष्ट होता है। कह सकते हैं कि जीव का जीवन प्रेम है। इस तरह सामाजिकता व्यक्ति पर आच्छादन नहीं है, उसका सहज विकास और प्रकाश है।

दायित्व कुछ थोड़ी-सी चीज है। वह वह अनन्य है जिसमें रस नहीं भी है। ऐसा दायित्व भीतर कुछ दमित भी छोड़ जा सकता है। इससे व्यक्तित्व

विभक्त बनता है। द्वन्द्व उससे निबटता तो नहीं उलटे कुंठा बनकर गहरे जाता है। स्पष्ट ही इससे समाज में विषमता उपजती है जो समाज के स्वास्थ्य को पनपने नहीं देती।

इस तरह समाज की पृथक और वस्तुत्वमूलक चिंता एक असामाजिक कर्म है। उस पद्धति से ऐसा नेता और उद्धारक पैदा होता है जो समाज पर कब्जा चाहता है स्वयं उसमें किसी तरह लुप्त नहीं हो पाता। यह एक ऐसा आदर्शवादी पुरुष है जो मूल में केवल ट्रैजिक है। अर्थात् ओढ़ी हुई समाज चिंता एक गहरा रोग है और स्वत्व में रमी स्व-रति का चिह्न है। व्यक्ति इस पद्धति से समाज में मुक्त नहीं हो पाता बल्कि उलटे वहां गांठ के मानिन्द होकर अटपटा बनता है।

समाज के प्रति यानी अन्य व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति का भाव एक आतरिक विवशता अधिक होनी चाहिए राजकीय अथवा सामाजिक दायित्व कम। प्रेम धर्म है और उससे बड़ा कोई दायित्व और कर्तव्य नहीं हो सकता।

समाज का वहीं से आरम्भ है जहां व्यक्ति की सीमा है। सीमा पर दोनों का एक दूसरे के प्रति दबाव है। सीमा सख्त नहीं रहनी चाहिए और जहां वह लगभग नहीं है वहीं स्थिति मुक्तिबोध की है। बाहर से चेतना पर पड़ने वाला दबाव जड़ात्मक और हिंसात्मक कहा जा सकता है। भीतर से बाहर की ओर जाने वाला दबाव उत्तर चिन्मय और अहिंसात्मक होकर ही विकास-साधक हो सकता है।

इन दो जड़ और चेतन शक्तियों के ज्वलंत संघर्ष में से शहीद सम्पन्न होता है। शहीद जो स्वेच्छा से मरता और अपने ऊपर दूसरे को पूरी यानी मारने तक की स्वतंत्रता देता है।

अर्थात् स्वतंत्रता का सही उपयोग सदा उसके देने में है। हमारी स्वतंत्रता वयक्तिक मानवीय और सामाजिक-स्वतंत्रता इसमें है कि हम दूसरे पर आरोप न लाएं अपशब्द न कहें। दूसरे शब्दों में यह कि जहां तक हमारा सम्बन्ध है हम हर किसी को स्वतंत्र मानें कि वह हमें गाली दे सके।

शहीद जीवन की गति को उसके नियम को प्रकाशित करता है।

ऐसा असम्भव हो जाए अगर समाज का व्यक्ति को समाप्त करने का अधिकार अनधिकृत ठहरा दिया जाए।

वह अधिकार अत्यन्त प्रकृत है। शेर का अपने शिकार पर अधिकार तब तक रहेगा जब तक वह शेर है। इसलिए हिंसा के अधिकार का प्रश्न नहीं है। वह प्रकृति में ही गर्भित है और सदा रहेगा। असल में हिंसा अधिकार ही अधिकार है और अधिकार की कोई चेतना सर्वथा हिंसा से शून्य नहीं है।

किन्तु यह तो प्रकृति हुई। इस भूमिका से तो संस्कृति का मार्ग आरम्भ है। प्रश्न यहां से शुरू होता है और संस्कृति की ओर से देखने पर स्वतन्त्रता वह अधिकार हो जाता है जो हम सब को देते हैं। यानी हमारे लिए वह अधिकार से अधिक है अर्थात् कर्तव्य है।

व्यक्ति का अधिकार शहादत है। सच में यह ही धर्म है। इसमें से जीवन का परम नियम सत्याग्रह प्राप्त होता है।

सत्याग्रह व्यक्ति की ओर से विनम्र ही हो सकता है। यानी दूसरी ओर से वह हत्याग्रह और हठाग्रह के अधिकार को इस रूप में स्वीकार करता है कि स्वयं उसे नहीं अपनाता।

सत्याग्रह के स्वीकार में व्यक्ति को समाज से प्रथमता मिल जाती है। यह प्रथमता समाज की गति और विकास के लिए परम मूल्यवान् वस्तु है। असामाजिक तो यह है ही नहीं। बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि समाज-मंगल के अर्थ में यह और भी अभीष्ट मूल्य है।

समाज के त्राता वे ही समझे गये हैं और समझे जायेंगे जो अपने प्रेम को इनकार नहीं कर सके हैं, यहां तक कि समाज ने चाहे अपने हाथों उन्हें उसके लिए मृत्यु ही दी हो। यह मृत्यु जीवन का प्रतीक बनकर इतिहास को प्रकाश देती रही है।

इस प्रथमता का स्पष्ट आधार यह है कि समाज अंत में एक परिमाण है। अन्तःकरण उसमें यदि है तो वह अमुक व्यक्ति के ही रूप में हुआ करता है।

'सामाजिक दायित्व' यह संज्ञा स्वयं व्यक्ति ही उत्पन्न कर सकता है। समाज की ओर से पड़ने वाले दबाव को दायित्व के रूप में लेने की क्षमता अंत में व्यक्ति पर ही टिकती है। अन्दर उसके प्रेम है तभी वह उस अत्याचार में रहकर दायित्व कहता है। अर्थात् समाज की ओर से उसका रूप केवल दबाव का है। व्यक्ति अपनी आन्तरिक क्षमता में उस दबाव को उठाता ही नहीं, बल्कि स्वेच्छापूर्वक उसे अपनाता तक है। इसमें स्वयं व्यक्ति के स्वातन्त्र्य की स्वीकृति है।

समाज धारणात्मक सत्ता है। आजकल उसका रूप राष्ट्रीय है क्योंकि मानव जाति की व्यवस्था राष्ट्र राज्य की परिभाषा में चलती है। स्पष्ट यह ऐसी सीमित धारणा है कि व्यक्ति अपना समग्र अनुभूति और संवेदना को लेकर उसमें बंद नहीं हो सकता। उसको कार्रवाइयों तक उसे अतिरिक्त के साथ में लाती हैं। सूरज वह देखता है चांद तारे देखता है और आकाश देखता है जो अगाध है और सदा पूर्ण है। उसका विशाल ब्रह्माण्ड को उसके

निकट सतत खोलता और अनन्त बनाता जाता है। इस सब से कट कर अमुक समाज मे बंध कर वह रहना चाहे भी तो यह उसके बस का काम नहीं है। अखिल के प्रति उसका सम्बन्ध सब से प्राथमिक रहने ही वाला है। प्रसन्न स्वीकृति का सबन्ध आस्तिकता है रुद्ध स्पर्धा का होने पर वही नास्तिकता है। पर दोनो सामाजिकता की दृष्टि से एक-से उत्तीर्ण है और दोनों ही अनन्य रूप में प्राथमिक हैं।

शहीद इस प्राथमिक के सम्मान में गौण और सापेक्ष को किनारा दे रहता है तो यह सापेक्ष की अप्रतिष्ठा नही है। बल्कि किंचित उसकी सेवा ही है।

शहादत को मैं अंतिम मूल्य मानता हूं। इसी से कहता हूं कि स्वतन्त्रता मेरे निकट मूल्य ही है। यानी उसको अपनाकर अपने को उसमे देकर हम उसे परिपूर्ण ही करते जाना है। जिससे समाज बलिदान पाये तो कुण्ठित और दमित व्यक्तियो का नही वरन् उसे प्रसन्न आत्मदान मिले आहुत व्यक्तियो का और ऐसे उत्तरोत्तर भरपूर और निश्शासन होता जाय।

अप्रैल ५५

हिन्दी और राष्ट्र

इस अवसर पर आपसे कुछ कहने के लिए आपने मुझे इतनी दूर से याद किया, इसका मैं आभार मानता हूं। असम के जादू की बात मैं बचपन से सुनता आया हूं। सच ही इस प्रदेश पर प्रकृति ने अपना जादू बिखेरा है। फिर राष्ट्रभाषा के प्रति आपके प्रेम में और प्रयत्न में भी कम जादू नहीं है। हिन्दी आपकी मातृभाषा नहीं है, लेकिन लगन से उसे अपनाया है और उसमें ऊंची योग्यता प्राप्त की है। इसके लिए मैं आपको बधाई देता और आपका ऋणी मानता हूं। ऋणी इसलिए कि मुझे तो वह मातृभाषा के रूप में मिली और उसे सीखने के लिए मुझे कुछ भी मेहनत नहीं करनी पड़ी। हिन्दी प्रदेश वालों पर एक तरह इतर प्रान्त-वासियों का यह ऋण ही है कि आप अतिरिक्त श्रम से हिन्दी सीखते हैं। उऋणता का उनके पास बस यही उपाय है कि वे भी आपकी तरह कोई एक प्रान्तीय भाषा अवश्य ही सीखें।

आपने हिन्दी को राष्ट्रभाषा माना है। कुछ लोग उसे राजभाषा कह कर तुष्टि करते हैं। शायद वे मानते हैं कि राज के अंतर-प्रान्तीय काम-काज के लिए हिन्दी का सहारा कम से कम तो ठीक है। बाकी सबके पास अपनी विविध भाषाएँ हैं ही। इसलिए उसे राष्ट्रभाषा कहने की उन्हें आवश्यकता नहीं जान पड़ती। लेकिन राजभाषा तो ऊपर से भी आ सकती है। जैसे अंग्रेजी भारत की राजभाषा रही और है। उससे राज काज तो चला पर वह राज स्वराज नहीं हो सका। भारत में स्वराज लाने के लिए गांधीजी ने राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी-प्रचार को एक बुनियादी रचनात्मक काम बनाया। अंग्रेजी से पहले भी राजभाषा के तौर पर जो जुबान चलती रही वह राष्ट्रभाषा नहीं थी। उससे समाज में फांकें बनी रहीं और राजा प्रजा के दो पक्ष रहे और उनमें फासला रहा। पर भारत ने स्वतंत्र होकर लोकतंत्र अपनाया है और उसका आशय तबतक पूरा नहीं हो सकता जब तक राष्ट्रभाषा ही राजभाषा न हो।

राष्ट्रभाषा कहने से स्वभावतः उसके स्वरूप के बारे में कई बातें साफ हो जाती हैं। यानी भाषा कोई करार जाहिर राष्ट्रभाषा नहीं हो जाती। हिन्दी

यदि राष्ट्रभाषा है तो इसलिए नहीं कि वह इतर भाषाओं से बढ़ चढ़कर है या उसमें सबसे ऊंचा साहित्य है। भाषा के नहीं राष्ट्र के कारण से वह राष्ट्रभाषा है। यानी इस कारण से कि आम तौर पर वह देश भर में सब कहीं समझ ली जाती है और एक बहुत बड़े हिस्से में बोली जाती है। इसमें विवाद स्वयं कट जाता है और उसका इष्ट स्वरूप आप ही सुलभ हो आता है।

भाषा के लिए हम अपने देश की ओर देखने की जरूरत है। कौन ऐसी विविधता है जो यहां नहीं मिलती। विधाता ने मानो भारत को समन्वय की प्रयोग भूमि के तौर पर सिरजा। इतिहास ने भी यहां उसी उद्देश्य की सिद्धि की। बाहर से नाना जातियां आई और नाना प्रभाव आये। हो सकता है कि वे प्रहार बनकर आए हों लेकिन समय बीतने वे लोग और प्रभाव यहीं के हो रहे और यहां की संस्कृति में रच गए। कहां तो समझा जाता था कि वे इस देश की परम्परा को उच्छिन्न कर रहेंगे कहां वे उलटे उसे सम्पन्न करने का निमित्त हो रहे। इस तरह भारत भूमि भेदों को झलती और उन्हें अपनी अन्तरंग आस्था की भौमियों से अभेद में परिणत करती रही है। उसके हृदय में अनंत क्षमता रही है और नियम वृत्ति की उसे कभी जरूरत नहीं हुई। उसका स्वास्थ्य मानो सब आत्मसात् करके पुष्ट ही होता गया है। इसलिए वह संस्कृति अटूट रही और काल उसमें भग नहीं ला सका। कभी राज्य के रूप में तलवार के साथ ऊपर आने और अपना साम्राज्य विस्तार करने की उसे नहीं सूझी। और देशों में संस्कृतियां उठी हैं लेकिन दर्पोद्धत होकर आगे विजय को निकली हैं कि फिर उसी कारण मिलकर धूल में लो गई हैं। भारत की संस्कृति कभी राजकीय नहीं हुई वह नैतिक ही बनी रही। वह श्रमण्य प्रकाशन के और उनके रचनात्मक श्रम के साथ रही। राजनिक औद्धत्य के साथ उसने किसी को चुनौती नहीं दी। वहां आवाहन रहा भूमि की ओर से निमंत्रण रहा। उस मूल भूमिका पर ऊपर राजाओं के दद-भग भी चलते रहे लेकिन उस सब उपद्रव और ताण्डव के नीचे भारतीय प्रकृति और संस्कृति अक्षुण्ण रही और अपने श्रम धर्म से नहीं हिली।[1]

गांधी जी इसी सनातन भारतीयता के प्रतिनिधि थे। वह भारत के आत्म प्रतीक थे। उन्होंने इस राष्ट्रभाषा का मंत्र दिया। स्वयं गुजराती थे और उस भाषा के बड़े धनीकार थे लेकिन उन्होंने कहा कि यहां की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। बुद्धि भ्रम होने पर आगे उन्होंने कहा कि वह हिन्दी हिन्दुस्तानी है।

उस सब में सार यह था कि लिटररी की भाषा जो हो और चाहे तो वहां जितना भी विकास और आग्रह हो राष्ट्रभाषा तो उस अनगिनत जनता के लिए

है जो अक्षर से हीन है पर जीवन से भरपूर है। सच है कि भारत का प्राण उन्हीं देहात वासियों में बसा है। शक्ति वहां से लेनी है और सेवा का भी वहीं पहुंचाना है। अन्यथा राजनीति निष्प्राण रहेगी और उससे प्रश्न सुलझेंगे नहीं उलटे उलझते जायेंगे।

लेकिन सवाल महात्मा से चलकर हम अक्षराभिमानियों के पास आया तो मानो वह राष्ट्रहित से अधिक भाषा विवाद का हो गया। उसमें आग्रह पड़ने लगे और जो चीज खुली रहने और फलने के लिए थी वह तरह-तरह के मनसूबों से बन्धने और घुटने लगी। सब में अपनी अपनी चेतना जगी और उनमें आपस में खिंच पड़ने लगी। राजनीति का रंग वहां भी पहुंचा और मिलाप और एका को पक्का बनाने के लिए जो राष्ट्रभाषा का सवाल था उसी को लेकर दल बंधने लगे।

स्पष्ट हो कि राष्ट्रभाषा का काम सेवा का और रचना का है। वह द्वन्द्व का या तुलना का नहीं है। विग्रह और स्पर्द्धा यहां के लिए तनिक शोभन नहीं। वह प्रमुख भाषा के प्रसार का काम उतना नहीं है जितना भारतीय जनता के साथ एकमेक होने का है। यदि वह वृत्ति है तो जो सवाल सामने आयेंगे हल होते जायेंगे। अन्यथा जान पड़ेगा कि आगे बहुत उलझन है रास्ता चारों ओर से रुंधा हुआ है और पराई भाषा के आश्रय में ही निस्तार है।

राष्ट्रभाषा के विषय में नीचे की तीन बातों पर बुद्धि भेद उपजता देखा जाता है

१ उर्दू के साथ उसका सम्बन्ध।

२ संस्कृत के साथ उसका सम्बन्ध।

३ प्रान्तीय भाषाओं के साथ उसका सम्बन्ध।

उर्दू के साथ हिन्दी के सम्बन्ध की बात इससे बहुत साफ हो जाती है कि हिन्दी की लिपि नागरी है और उर्दू की लिपि फारसी (या उर्दू) है। इतना होने के बाद झगड़े का कोई प्रश्न नहीं रह जाता। नागरी में छपने पर सारा उर्दू साहित्य हिन्दी में आ जाना चाहिए। उससे हिन्दी की क्षति नहीं श्रीवृद्धि ही होगी।

[दूसरी ओर मैं यह भी मानता हूं कि उर्दू हर्फों में छपने पर हिन्दी साहित्य भी उर्दू का अपना हो सकता है। उर्दू को उससे डरना न चाहिए, बल्कि उसमें अपना पोषण लेना चाहिए।]

उक्त बात प्रमुख शब्दों के बारे में वर्णाक्षिप्तता जहाँ तक की हो निगरानी रखनी होगी। असम्भव है कि बाहर के शब्दों को जब कि बाहर की हवा को परे

यदि राष्ट्रभाषा है तो इसलिए नहीं कि वह इतर भाषाओं से बढ़-चढ़कर है या उसमें सबसे ऊंचा साहित्य है। भाषा के नहीं राष्ट्र के कारण से वह राष्ट्रभाषा है। यानी इस कारण से कि आम तौर पर वह देश भर में सब कहीं समझ ली जाती है और एक बहुत बड़े हिस्से में बोली जाती है। इससे विवाद स्वयं कट जाता है और उसका इष्ट स्वरूप आप ही सुलभ हो आता है।

भाषा के लिए हम अपने देश की ओर देखने की जरूरत है। कौन ऐसी विविधता है जो यहां नहीं मिलती। विधाता ने मानों भारत को समन्वय की प्रयोग भूमि के तौर पर सिरजा। इतिहास ने भी यहां उसी उद्देश्य की सिद्धि की। बाहर से नाना जातियां आईं और नाना प्रभाव आये। हो सकता है कि वे प्रहार बनकर आए हों लेकिन समय बीतते वे लोग और प्रभाव यहीं के हो रहे और यहां की संस्कृति में रच गए। कहां तो समझा जाता था कि वे इस देश की परम्परा को उच्छिन्न कर रहेंगे कहां वे उलटे उसे सम्पन्न करने का निमित्त हो रहे। इस तरह भारत भूमि भेदों को झेलती और उन्हें अपनी अन्तरंग आस्था की कीमिया से अभेद में परिणत करती रही है। उसके हृदय में अनंत क्षमता रही है और निषेध वृत्ति की उसे कभी जरूरत नहीं हुई। उसका स्वास्थ्य मानो सब आत्मसात् करके पुष्ट ही होता गया है। इसलिए वह संस्कृति अटूट रही और काल उसमें भंग नहीं ला सका। कभी राज्य के रूप में तलवार के साथ ऊपर आने और अपना साम्राज्य विस्तार करने की उसे नहीं सूझी। और देशों में संस्कृतियां उठी हैं लेकिन दर्पोद्धत होकर आगे विजय को निकली हैं कि फिर उसी कारण मिटकर धूल में खो गई हैं। भारत की संस्कृति कभी राजकीय नहीं हुई वह नैतिक ही बनी रही। वह असंख्य प्रजाजन के और उनके रचनात्मक श्रम के साथ रही। राजसिक औद्धत्य के साथ उसने किसी को चुनौती नहीं दी। वहां आवाहन रहा भूमि की ओर से निमंत्रण रहा। उस मूल भूमिका पर ऊपर राजाओं के दद-फंद भी चलते रहे लेकिन उस सब उपद्रव और तांडव के नीचे भारतीय प्रकृति और संस्कृति अनाक्रान्त रही और अपने स्थान से नहीं हिली।

गांधी जी इसी सनातन भारतीयता के प्रतिनिधि थे। वह भारत के आत्म प्रतीक थे। उन्होंने हमें राष्ट्रभाषा का मंत्र दिया। स्वयं गुजराती थे और उस भाषा के बड़े हामीकार थे लेकिन उन्होंने कहा कि यहां की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। बुद्धि भेद होने पर आगे उन्होंने कहा कि वह हिन्दी हिन्दुस्तानी है।

उस सब में सार यह था कि भाषा की भाषा जो हो और चाहे सो वहां उलझना भी विवाद और आग्रह है। राष्ट्रभाषा तो उस अनगिनत जनता के लिए

है जो अक्षर से हीन है पर जीवन में भरपूर है। सच है कि भारत का प्राण उन्हीं देहात-वासियों में बसा है। शक्ति वहां से लेनी है और सेवा का भी वहीं पहुंचाना है। अन्यथा राजनीति निष्प्राण रहेगी और उससे झमले सुलझेंगे नहीं उलट उलझते जायेंगे।

लेकिन सवाल महात्मा से चलकर हम अक्षराभिमानियों के पास आया तो मानो वह राष्ट्रहित से अधिक भाषा विवाद का हो गया। उसमें आग्रह पड़ने लगे और जो चीज खुली रहने और फलने के लिए थी वह तरह-तरह के मतव्यों से लदने और घुटने लगी। सब में अपनी अपनी चेतना जगी और उनमें आपस में जिद बढ़ने लगी। राजनीति का रंग वहां भी पहुंचा और मिलाने और देश को एक बनाने के लिए जो राष्ट्रभाषा का सवाल था उसी को लेकर दल बंधन लगे।

स्पष्ट हो कि राष्ट्रभाषा का काम सेवा का और रचना का है। वह दल का या तुलना का नहीं है। विग्रह और स्पर्द्धा वहां के लिए तनिक संगत नहीं। वह अमुक भाषा के फैलाव का काम उतना नहीं है जितना भारतीय जनता के साथ एकमेक होने का है। यदि वह वृत्ति है तो जो सवाल सामने आयेंगे हल होते जायेंगे। अन्यथा जान पड़ेगा कि प्रश्न बेहद उलझन है रास्ता चारों ओर से रुंधा हुआ है और पराई भाषा के आश्रय में ही निस्तार है।[1]

राष्ट्रभाषा के विषय में नीचे की तीन बातों पर बुद्धि भेद उपजता देखा जाता है

१ उर्दू के साथ उसका सम्बन्ध।

२ संस्कृत के साथ उसका सम्बन्ध।

३ प्रान्तीय भाषाओं के साथ उसका सम्बन्ध।

उर्दू के साथ हिन्दी के सम्बन्ध की बात इससे बहुत साफ हो जाती है कि हिन्दी की लिपि नागरी है और उर्दू की लिपि फारसी (या उर्दू) है। इतना होने के बाद रगड़ का कोई प्रश्न नहीं रह जाता। नागरी में छपने पर सारा उर्दू साहित्य हिन्दी में आ जाना चाहिए। उसमें हिन्दी की हानि नहीं श्रीवृद्धि ही होगी।

[दूसरी ओर मैं यह भी मानता हूं कि उर्दू हर्फों में छपने पर हिन्दी साहित्य भी उर्दू का अपना हो सकता है। उर्दू को उसमें हरना न चाहिए, बल्कि उसमें अपना पोषण देखना चाहिए।]

उधर बाकी अमुक शब्दों के बारे में असहिष्णुता अस्वास्थ्य की ही निशानी कहलायेगी। असमर्थ है कि बाहर के शब्दों को रोके कि बाहर की हवा को रोके

ही रोक रखा जाय और पास न आने दिया जाय। कोई हदबन्दी यह नहीं कर सकती। जीवन का सारा इतिहास बताता है कि यह झूठी कोशिश है। पहुतायें सब रास्ते में गिरती गई हैं और आदमी एक दूसरे के पास आता गया है। बद जगह नव कहलाती है और कोई मकान नहीं हुआ जिसमें दीवारें ही हों द्वार गवाक्ष न हों। हमारा अलगपन अदपन टूटेगा कि हम मुक्त हो व्यापक हों। भाषा इसी व्याप्ति की राह में आदमी को मिली है। स्वय यह फिर वठ यह एकदम अनहोनी बात है। समूची मानवता का एक होना अब स्वर्ग-स्वप्न की बात नहीं रह गई वरन् हमारे कार्यक्रम का अंग बनती जा रही है।

संस्कृत से तो हिन्दी का सम्बन्ध अटूट है। उन्हें बिछुड़ाने चलिए तो पाइयेगा कि हिन्दी फिर कहीं बचती ही नहीं है। पर गंगोत्री से निकलकर गंगा वहां लौट नहीं सकती। बढ़ना उसे सागर की ओर है और राह में उन सब धाराओं को अपने में लेते चलना है जो सहज प्रवाह से उसमें आ मिलती हैं।

यह सिद्धान्त कि तत्सम प्रयोग न आए तद्भव रूप में ही आएं, राष्ट्रभाषा के लिए गलत है। या यह कि बनाये जाने वाले सब नये शब्द मूल संस्कृत धातु से ही रचे जायें यह भी गलत है। दोनों इसलिए गलत हैं कि दोनों मतवाद हैं और भाषा सम्बन्धी हैं। वे उपयोग से अलग भाषा को लेना चाहते हैं। जैसे प्राण से शून्य शरीर की चिंता आवश्यक हो!

प्रवाह में जो शामिल होगा और समरस हो सकेगा वही गंगा में गंगोदक हो जायेगा। उसे अलग करना न संभव होगा न उपादेय। क्या भक्त सूरदास ने नहीं गाया—

इक नदिया इक नारि कहावत मैलो नीर भर्यो।
मिलि दोऊ जब एक बरन भई सुरसरि नाम पर्यो॥

दृष्टि यदि जन-सागर की ओर है और उसमें मिल जाने की कामना है तो तत्सम और तद्भव देशज अथवा संस्कृत-मूलक शब्दों की समस्या तनिक भी सेवक कार्यकर्ता को अपने में अटका नहीं सकेगी। विद्वानों की वह समस्या है और सेवक कार्यकर्ता उसे विद्वानों को ही सौंपकर निश्चिन्त आगे बढ़ता जायगा।

तीसरा प्रश्न प्रान्तीय भाषाओं के साथ राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध का है। कुछ भाषाएं सशंक हैं और कहीं तो हिन्दी प्रचार में साम्राज्यवाद की गंध तक ली जाती है। ये प्रश्न व्यवहार के हैं और राष्ट्रभाषा का काम करने वालों को उनसे चेतावनी मिलती रहनी चाहिए। वृत्ति में सेवा से अतिरिक्त भाषाभिमान तनिक भी आया तो उसकी प्रतिक्रिया सही नहीं होगी। राष्ट्रभाषा हिन्दी की उन्नति उतनी ही होगी उसमें तनिक भी अधिक न हो पायगी जितना इतर

प्रान्तीय भाषाओं का उसको योग मिलेगा। योग स्वेच्छित ही हो सकता है बलात होने वाला योग नहीं बोझ है। इसका मुख्य दायित्व हिन्दी वालों पर आता है। असल में हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने से वे सारे राष्ट्र के ऋणी बन जाते हैं। इस कारण वे नत और विनम्र ही हो सकते हैं। प्रत्येक भाषा या राज्य स्वयं निर्णय करे कि हिन्दी को वह किस रूप और सीमा में स्वीकार करना या अपनाना चाहता है। अथवा कि सारे राष्ट्र की दृष्टि से केन्द्र की विधान सभा या सरकार वह अनुपात तय करे। हिन्दी सेवक उस निर्णय को अपने हाथ में नहीं ले सकता है वह तो अपनी सेवा ही समर्पित कर सकता है। इस तरह यह प्रश्न व्यावहारिक राजनीति का हो रहता है और वहीं उसका समाधान है।

किन्तु एक बात स्पष्ट है और वह अमोघ भी है (भारत का भाग्य एक है। भारत अखण्ड सत्ता है। राजकीय और राष्ट्रीय से अधिक वह नैतिक और आत्मिक सत्ता है। उसका उत्थान हिन्दी के द्वारा होगा विकास भी हिन्दी के द्वारा होगा। भारत उठता है तो उसके राज्य उठते हैं और भारत उठेगा तो उसके सब अंगों के आत्मसम्मान से उठेगा। अंग्रेजी से सब भाषाएं दबी हैं और अंग्रेजी में चलने वाले भारत के राज-कारण और राज-शासन से असली तौर पर भारत की संस्कृति दबी है। इसलिए सब भाषाओं का भविष्य हिन्दी के भविष्य के साथ है। अगर अंग्रेजी से हिन्दी को हीन और परास्त ही रहना है तो निश्चय है कि उस पराभव से अन्य प्रान्तीय भाषाएं मुक्त नहीं हो पाएंगी। इस तरह उन भाषाओं में और राष्ट्रभाषा में हित-विग्रह तो कहीं है ही नहीं। प्रश्न केवल विभिन्न राज्यों में उन हितों के संतुलन और सामंजस्य का है जो कुशल और आत्मवान नेतृत्व से निबटाया जा सकता है।)

इन अंतरंग उलझनों के साथ कुछ बहिरंग रूप की भी बातें हैं और राष्ट्रभाषा के व्यवस्थापकों को उनके बारे में भी फैसला करना है। प्रान्तीय भाषाएं क्या सब एक नागरी लिपि को ही नहीं अपना ले सकतीं? असंभव तो यह नहीं जान पड़ता क्योंकि मूल वर्णमाला सब कहीं लगभग एक है। यह हो तो उनका आपस का अंतर एक साथ बहुत कम हो जाता और परिचय का मार्ग परस्पर खुल जाता है। उससे मिला हुआ लिपि सुधार का प्रश्न है। कुछ ध्वनियां हिन्दी में नहीं हैं और उनके सूचक अक्षर हिन्दी में जुड़ सकते हैं। अथवा कि कुछ अक्षर कम हो सकते और उनका काम मात्राओं से चला लिया जा सकता है। एम छाप और टाइप में इतना सुभीता किया जा सकता है कि नागरी वेश में दुनिया की किसी भी भाषा को पकड़ सके।

इत्यादि प्रश्न हिन्दी सेवकों के सामने हैं। इस दान हिन्दी को बड़ा दायित्व

उठाना है। वह एक बड़ देश की भाषा है। वह देश अब विस्तार में ही बड़ा नहीं बल्कि दुनिया का उससे बड़ी बड़ी आशाएं हैं। आज तो वह विश्व-नीति का केन्द्र देश है। उसका इतिहास अनोखा रहा है और गांधी के नेतत्व म लड़े गये उसके स्वातंत्र्य-युद्ध का जवाब तो कहीं ढूंढ नहीं मिल सकता। बिना दुश्मनी के वह लड़ाई लड़ी गई और मानव जाति के राजनीतिक इतिहास म शांति और प्रेम की युद्ध-नीति का सूत्रपात हुआ। आज जब सबके दिमागों म एक दूसरे को धोका है और मनों म भयंकर युद्ध की आशंका तब यह देश पन्थों स प्रसन्न है और शांति ही उसका ध्रुव है। उस देश को आगे विश्व निर्माण म हिन्दी के द्वारा ही अपने को सिद्ध और सफल करना है।

मानव इतिहास अब एक मोड़ पर आया है अणुयुग शुरू हो रहा है। अगर मनुष्य का समाप्त नहीं हो जाना है तो निश्चय है कि यही अहिंसा का भी युग होगा। अणु शक्ति न हिंसा की विकरालता को इतना सामने कर लिया है कि उसी कारण सदा के लिए उसकी अश्रद्धा मानव मन म गहरी बैठ जाने वाली है। अणु शक्ति के हाथ न्याय नहीं रह सकेगा। शक्ति की जगह नीति लगी और युद्ध द्वारा निर्णय करने की विधि पुरानी पड़ जायगी। मानव का यह स्वर्णयुग भारत के गांधी स प्रकाश लेगा और उसी राह पूर्णता की ओर बढ़ेगा।

भविष्य अज्ञात है तो इसीलिए कि हमारे हाथों उसे बनना है। गांधी के उत्तराधिकारी हम भारतवासियों पर उस भविष्य के निर्माण का काम आया है। भारत को इसम भाग होना और दुनिया को अपनी राह लेना है। हम देखेंगे कि यदि भारत न अपना भाग पूरा किया तो हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा ही नहीं वह विश्व की एक प्रमुख भाषा भी होगी। क्योंकि अहिंसा और अपरिग्रह का जीवन-शास्त्र विश्व को मूल हिन्दी म से प्राप्त होगा।

अधिक काल विश्व की प्रगति की बागडोर पश्चिम की जीवन-पद्धति के हाथ रहने वाली नहीं है। उसन उन्नति दी है पर साथ ही स्पर्द्धा को भी धार दे दी है। इसलिए उन्नति का चरम युद्ध म चरितार्थ होता है विज्ञान की सिद्धि संहार म दीखती है। अणु-शक्ति विज्ञान का अन्यतम उद्घाटन है लेकिन बम बना सकन की स्पर्द्धा म यह उपलब्धि हुई है। मानो स्वयं जीतने और दूसरे को हराने की ही प्ररणा है जो उन्नति की साधिका है। उस तरह की प्ररणा अब खुले रूप म भ्रान्त और अनिष्ट दीख आई है। उसका लोभ अब जल्दी ही फीका पड़ जाने वाला है। मानव मशीन के हाथ बिका रहेगा बल्कि मशीन को अधीनता म लेगा। पश्चिम म मशीन है, लेकिन पूर्व म मानव है। आज जो विश्वनीति पूर्व की ओर खिसक रही है उसके भीतर का सत्य यही है। पूर्व पिछड़ा हुआ

यदि है तो मशीन की अपेक्षा में अन्यथा मानव नीति और अध्यात्म नीति का प्रश्न पूर्व में ही मिलेगा।

मेरे मन में सन्देह नहीं है कि भारत जब आत्मसिद्धि की ओर बढ़ेगा तो उसकी अभिव्यक्ति की भाषा अंग्रेजी नहीं होगी हिन्दी होगी। इसलिए हिन्दी कम-से-कम पूर्व की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा हो रहेगी। आज भी यहां जो गांधी नीति के गहन जीवन प्रयोग चल रहे हैं और उसके परिणाम में जो समाज-शास्त्र और समाज-शास्त्र तैयार हो रहा है सहज रूप से हिन्दी में ही हो रहा है। हम उनका महत्व न जानें लेकिन आने वाली पीढ़ियां खोजकर उसे पाएंगी और उस आगम की प्रतिष्ठा देंगी।

भारतीय हिन्दी को ऊपरी अन्तर्प्रान्तीय काम-काज ही नहीं सम्हालना है बल्कि उस उन्नत साहित्य की भी संयोजना और रचना करनी है। भारत के पास जो श्रेष्ठ और उत्कृष्ट है गहन है और अगम है जो प्राणवान् और प्राणवान है उसे हिन्दी में प्रकाश में लाना होगा। अंग्रेजी काम-काजी रह कर हिन्दी को तो भारत के साथ हार्दिक भी होना है। जल्दी-से जल्दी व्यवस्था होनी चाहिए कि सब प्रांतीय भाषाओं की उत्तम पुस्तकें हिन्दी में आ जायें। इस दिशा में आप और आप जैसे दूसरे संस्थान बड़ी सेवा कर सकते हैं। अपनी अपनी भाषाओं का माल छान डालें और जो ग्राह्य हो उसे हिन्दी में कर डालें। ऐसा सम्मिलित प्रयत्न सब भाषाओं में चले तो भारत के वासियों को सहसा मालूम हो कि उनके अपने ही पास साहित्य का कितना अगाध भंडार पड़ा हुआ है। आज तो यह देश अंग्रेजी पुस्तकों के बड़ सरीखों में है। यह उल्टी धारा नहीं जा सकती है। सच यह कि पश्चिम के विद्वान हमारे अनजाने यहां हमारी साहित्य निधि में से चुन चुनकर सामग्री अपने यहां ले जाते और ज्ञान का मन्थन करते हैं। लेकिन फिर भी समय है कि धारा अब सीधी बहे, भारत अपनी ही निधि की सुधि ले पाये और दूसरों का देना आरम्भ करे। उद्योगीकरण में भारत लगा है यह ठीक हो लेकिन संस्कृतीकरण में अवश्य उसे देन को भी है और वह देन का क्रम अविलम्ब शुरू हो जाना चाहिए। जो एक से अधिक भाषाएं जानते हैं या मातृवर हिन्दी भाषाएं जानते हैं उनके लिए यह बड़ा काम करने को पड़ा है।

बड़ी कल्पना और योजना के पुरुषों का इधर ध्यान नहीं है। बड़ी पूंजी भी इस ओर उदासीन है। इस दिशा की संभावनाएं अभी उन पर अभी खुली नहीं हैं। लेकिन मैं कहना चाहता हूं कि यह बात उर्वर क्षेत्र है और निमन्त्रित करता हूं कि वे अपनी शक्ति और साधनों का इधर उपयोग दें। वह उपयोग सर्वोपरि

ही न होगा, मुझे निश्चय है पर्याप्त पुरस्कृत भी होगा। यह भी मुझे विश्वास है कि इसमे हमारी राज्य सरकारें और केन्द्रीय सरकार सहयोग और सहायता से पीछ न रहेंगी।

मैंने बहिनो और भाइयो, आपका काफी समय ले लिया है। अधिक मुझे नही कहना है। राष्ट्रभाषा का काम करते हुए आप भारत की राष्ट्रीयता की विशिष्टता को न भूलें। राष्ट्रवाद दुनिया के साथ एक रोग भी बन गया है। वह आक्रामक हो जाता है। वह स्वार्थवादी और शासनात्मक होता है। इसमे वह तोडता भी है और टूटता भी है। वह रगड उपजाता और परस्पर भय सम्भव पैदा करता है। भारत की राष्ट्रीयता ने कभी वैस राष्ट्रवाद को जन्म नही दिया। वह राष्ट्रीयता हमेशा सबके लिए आश्वासन और अभय का कारण बनी। हमारा राष्ट्रीयता की प्रकृति सास्कृतिक रही कभी उसे सशस्त्र सीमा की आवश्यकता नही हुई। कभी वह लकीरबन्द नहा हो गई। क्योंकि वह मूल म अहम्मन्य की जगह अहिंसक थी और जयलिप्सा की जगह उसम सेवा भावना थी। मुझे विश्वास है कि अगर भारतीय राष्ट्रीयता की सच्ची प्रकृति आपने पहचानी तो आप राष्ट्रभाषा की सेवा और उसके प्रचार के द्वारा उस मानव शान्ति के अग्र दूत होंगे जिसकी ससार को माग और प्रतीक्षा है। वह शान्ति सत्तात्मक और राजनीतिक न होगी बल्कि सत्ता की राजनीति से ही वह मानव जाति को मुक्ति देने वाली होगी।

अपनी मातृ भाषा न होते भी आपने हिन्दी सीखी है जानता हू राष्ट्र पर किसी उपकार के नाते नही बल्कि अपने हक के नाते आपने यह किया है। राष्ट्र आपका है राष्ट्रभाषा हिन्दी भी उतनी आपकी है जितनी किसी की है। आपका यह असम प्रदेश भारत का सीमान्त देश है और उसका बडा महत्व है। अपने सीमान्त पर ही राष्ट्र की और राष्ट्रीयता की कसौटी होती है। मैं आपको बधाई देता हू कि आप हिन्दी म योग्यता की यह सनद पा रहे हैं। मानिये कि उतना ही आप दायित्व भी ल रह हैं। मुझे भरोसा है कि आप उसकी राष्ट्रीयता को सच्चा पोषण और विस्तार देने वाले होंगे और आपके कामो से देश का गौरव बढ़ेगा।

अप्रैल ५५

असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गुवाहाटी म दूसरे समावर्तन पर दीक्षान्त भाषण।

साहित्य मे नैतिकता

उस रोज यहाँ मराठी के साहित्य-सम्मेलन में दिलचस्प चर्चा सुन मिली। एक भाई ने तीन या चार आधुनिक उपन्यास लेखकों के नाम गिनाकर कहा— इनको तो मराठी उपन्यास-परम्परा में मैं शून्यवत् गिनता हूँ। ये भटके हुए हैं, इनमें आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं है, काम की प्रतिष्ठा है। उन्होंने संत-साहित्य को वास्तव और पुष्ट साहित्य बताया। उसके बाद एक बन्धु आये जिन्होंने कहा— संत-साहित्य अनैतिक और निर्वीर्य साहित्य है। पुरुष में पौरुष बढ़ नहीं पाता बल्कि घटता जाता है। जहाँ भोग है वहीं शृंगार हो सकता है। भोग से भागने वाला योग एक पलायन है। ऐसा साहित्य दमन का समर्थन करता है जिससे वासना का शमन नहीं होता बल्कि विस्फोट की सम्भावना बढ़ती है।

ऊपर शब्द मेरे हैं। इसलिए शायद उतने तीव्र नहीं हो पाये हैं जितने उन महाराष्ट्री वक्ताओं के थे। उनमें क्षमा नहीं थी, सफाई नहीं थी, सामंजस्य की तनिक चेष्टा नहीं थी। आग्रह था और खुला प्रहार था और स्पष्ट था कि एक पक्ष दूसरे को रहना यानी रहने देना नहीं चाहता।

आशय यह नहीं है कि सम्मेलन में उस कारण वातावरण तनिक विक्षुब्ध था, बल्कि स्थिति में पूरी सहनशीलता थी। क्षोभ बिल्कुल न था। केवल दोनों पक्षों में अपने-अपने प्रतिपादन और समर्थन के सम्बन्ध में पूरी ईमानदारी और दृढ़ता थी।

इस तरह नैतिकता गेंद की भाँति इधर-से-उधर फेंकी जा रही थी और समझ नहीं आता था कि उसकी स्थिति कहाँ है और वह किस ओर है? संयम और दमन में है या निष्पक्षता और मुक्तता में है?

मेरा हाल सब तरफ से ऐसा ही दयनीय है। यद्यपि नैतिक शब्द मुझे प्रिय है और नैतिकता का मैं कायल हूँ, पर बाहर दुनिया में नीति की रेखा बने और उसे खींची जाये कि नैतिक एक तरफ हो जाय और अनैतिक दूसरी तरफ रह जाये यह मेरी समझ में नहीं आता। और शायद नैतिक शब्द के प्रयोग का आशय यही है कि कभी रेखा हो और स्पष्ट हो। इसलिए [illegible]

जूद मैं उस शब्द के प्रयोग से बचा रहना चाहता हूं। मुझे लगता है कि अपनी अनीति मुझे स्वयं पता चले बिना रह नहीं सकती। ऐसे उसका भान सब के अन्दर है। अनीति मुझे कष्ट देती है, सुनीति मुझे उत्तीर्ण करेगी। और इन दोनों के बारे में यदि कुछ देर के लिए मेरे मन में भ्रम पैदा भी होगा तो अनुभव से वह दुविधा मिट जायेगी और नीति-अनीति का भेद मुझ में जगकर स्पष्ट हो जायेगा।

पर उस नीति से काम किस का चलने वाला है जो सबके अपने-अपने पास हो जाती है। वादी का और प्रतिवादी का काम तो ऐसे कभी नहीं चल सकता। और लगता है कि समाज का और राज का काम चलाने के लिए पोथी बन्द नीति के कुछ नियम चाहिये जिससे सज्जन को दुष्ट से अलग किया जा सके। दुष्ट का दलन और सज्जन का मनन हो सके। एक को दंड दिया जा सके और दूसरे को सम्मान। साहु और चोर एक हो जायेंगे तो कैसे काम चलेगा? इसी तरह राव और रंक भी एक नहीं हो सकते। जज और मुजरिम की अलग-अलग श्रेणी होनी चाहिये। दलने हैं चीजों में दो पल होते हैं। दायां और बायां होता है तभी वस्तु संपूर्ण होती है। अच्छे को भरने के लिए बुरा चाहिये नहीं तो अच्छे का महत्व नष्ट हुआ-सा मालूम होता है।

यह जो जोड़ियां हैं अच्छा और बुरा नीचा और ऊंचा इत्यादि इनका भेद बना रहता है तभी सब स्थिति बनी रहती है। स्थिति पालन की दृष्टि से यह पोथी बन्द नैतिकता बड़ी काम की चीज है। उससे अनुशासन बना रहता है और स्थिति भंग नहीं होती।

किन्तु स्थिति तो टिकती नहीं गति भी आवश्यक होती है। गति स्थिति को स्वीकार कर चलती है उसके पांव जमाने की जगह उसे वह कुछ उखाड़ती ही कही जा सकती है। स्थिति मजबूत होकर जम रहे तो उन्नति कैसे हो? स्थिति से स्थित्यन्तर होते रहना चाहिये। जड़ चेतन में यही भेद है। जड़ में केवल स्थिति है चेतन गतिशील है

इस गति की आवश्यकता की ओर से वस्तुओं को और जीवन को देखकर एक दर्शन प्रस्तुत हुआ जिसने बताया कि नैतिकता अपने आप में कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं है। वह नैतिकता बदलती रहती है और देश काल पर निर्भर करती है। असल में नैतिक की दुहाई देने वाले लोग वे ही हैं जो सुविधा प्राप्त हैं। वे अपने भोग और आराम का बचाव रखने के लिए सब नीति वाक्यों से अपनी रक्षा में चारों ओर घेरा डालते हैं। अंग्रेजी में एक शब्द है Conservative जिसकी ही दुहाई ऐसे ही लोग देते हैं।

ऊपर की बात एकदम मिथ्या नहीं है, इसके प्रमाण इतिहास में हर कहीं मिल सकते हैं। हर नेता को शहीद होना पड़ा है, हर संत को दुष्ट कहा गया है। धर्म जितने चले प्रतिरोध और विरोध के बीच से उन्हें मार्ग बनाना पड़ा है। कोई अच्छाई सहज भाव से बढ़ नहीं सकी, उससे पहले बुरा समझा गया है और उस पर तरह-तरह के उपसर्ग और परीषह डाले गये हैं।

इस दर्शन के अनुसार विद्रोह धर्म हो जाता है। मर्यादा के पालने में ज्यादा उसे लाँघने में महत्त्व बढ़ जाता है। नैतिक को स्थिति के साथ जोड़कर यह दृष्टि उस गति और उन्नति के साथ अनैतिक को जोड़ देता है। एक प्रवाद चल पड़ता है कि प्रतिभाशाली वही हो सकता है जो तनिक अनैतिक अवश्य हो। जो भला है वह महान नहीं है, जो मर्यादाशील दिखता है उसमें अवश्य शक्ति की कमी है। वहाँ भलापन दुर्बलता के समानार्थ हो जाता है।

इस जगह नैतिकता के संबंध में उलझन पैदा हो जाती है। यह उलझन सहज सामने से बाहर अलग नहीं की जा सकती। जहाँ वह उलझन एकदम बड़ी दीखती है वहाँ अवश्य सामाजिकता नहीं होती, बल्कि आग्रह होता है। जब हम एकांगी होते हैं, यानि या तो अतीत से चिपटे रहते हैं या निरे भावी में उड़ रहते हैं, तभी ऐसा होता है। अन्यथा यह उलझन परिणाम अनिवार्य है और आग्रह विवेक से ही उसमें संतुलन रखकर चला जा सकता है।

उस विवेक के द्वारा नीति और अनीति को इतनी सूक्ष्मता में जाकर देखना होता है कि पापी में पाप न दिखाई दे। पाप स्वतन्त्र दिखने लग जाय और इस तरह पापी को स्वयं निष्पाप देखा जा सके। यह विवेक साधना सहज नहीं है। पापी से पाप को अलग करना बन नहीं पाता। परिणाम यह कि पाप से बचने के लिए पापी से बचा जाता है और पाप नाश के लिए पापी को नष्ट करना सीधा उपाय समझ लिया जाता है। इस तरह साथ ही अनीति स्वयं अनीति का घोर बढ़ाना शुरू करती है। यानि जितनी अनीति के खिलाफ निन्दन की यत्न है अनीति का उतना ही प्रसार होता जाता है।

इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि नीति मात्र प्रेम ही है। प्रीति से अतिरिक्त नीति एक मिथ्याचार और दम्भाचार हो सकती है। प्रेम हृदय में नहीं होता है, भाव में होता है। पहचान हमारी हृदय से बनती है, इसीलिए वह पहचान साधारण रूप से अधूरी और ओछी रह जाती है। प्रेम-हीन धर्म नैतिक समझ लिया जाता है और प्रेम स्वयं ऐसे धर्म-रूढ़ों के हाथों अनैतिक समझा जाकर दंड और त्रास पाता है।

व्यभिचार हम जिसको कहते हैं उसे या तो व्याचार के रूप में देखा है या

सत् की ओर उसे देख सकते हैं। इन दो दृष्टियों में झगड़ा चलता ही रहता है। एक रूढ़ सदाचार होता है जिसे प्रकृत और हार्दिक सदाचार उल्लंघन करता हुआ देखा जा सकता है। सत् पूर्वक आचार ही सदाचार हो सकता है। किन्तु जिसकी सत् से लगन है उसका आचार रूढ़ाचार से मेल खाता हुआ जो नहीं दीखता इससे उसको नाना यातनायें सहनी पड़ती हैं।

तो यह क्या चीज है जो स्वयं लिखे-बंधे नीति नियमों को लांघ जाने का साहस रखती है? वह क्या स्वयं में अनैतिक है? नहीं। मेरा मानना उल्टे यह है कि शुद्ध नैतिक यही है। सत्य से बड़ी नीति कोई नहीं है सत्य जो प्रेम द्वारा पाला जाता है।

प्रेमहीन या प्रेमविरुद्ध सत्य अहंकार है। अहंकार ही असामाजिक होता है प्रेम के आग्रह से रखा गया या फैलाया गया सत्य कितना भी असामाजिक दीखे मूलत: सामाजिकता की बुनियाद को वह मजबूत करता और लोगों के मनों को मिलाता है।

समाजोपयोगिता से सत्य बंधा नहीं होता। इसलिए सच्चा सत्पुरुष समाजानुगामी उतना नहीं जितना कि समाज नेता होता है। सामाजिक सदाचार स्वयं उससे मर्यादा प्राप्त करता है वह अपनी मर्यादाएं डालकर उसे घेरने में असमर्थ रहता है। कृष्ण का आदर्श इसी सत्य का प्रतीक है और कृष्ण-चरित्र उसका सचरित्र निरूपण है।

कृष्ण मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के निषेध नहीं थे। राम के चरित्र में समाज-मर्यादा की चरम प्रतिष्ठा है। यह तनिक भी अयुक्त नहीं किन्तु समाज धर्म की प्रतिष्ठा सत्य-धर्म की अप्रतिष्ठा में से निष्पन्न नहीं हो सकती। अत: कृष्ण राम के पूरक हैं। बिना कृष्ण के राम उसी तरह से असंभव हैं जैसे बिना उत्तर के दक्षिणी ध्रुव असंभव हो जाता है। दोनों ध्रुवों को संभालने वाली धुरी ही भारतीय संस्कृति है या मानव-संस्कृति की रीढ़ हो सकता है।

गीता में आरम्भ कर्तव्य से है। कर्तव्य-कर्म में किंचित बाध्यता है। किन्तु सिद्धि वहां नहीं है जहां कर्म में बलात् कर्तव्य का भाव हो। वहां कर्म का सहज स्वभाव होते जाना चाहिए।

इस दृष्टि से देखें तो नैतिक उतना संयत कर्म नहीं है जितना मुक्त कर्म है। निग्रह में हम नैतिक को देखने के आदी हैं जैसे मुक्त में अनैतिक ही रह सकता हो। ऐसे पूर्णता मिल सकती है इसमें संदेह है। 'कु' को काटकर केवल 'सु' रह जाने की कोशिश कभी कारगर हुई है इसके प्रमाण नहीं मिलते। प्रकृति त्रिगुणात्मका है। 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' कहकर भगवान ने अर्जुन को एक

केवल सात्विक गुणवाली होने के लिए नही कहा। क्योंकि तीन मे से दो को नष्ट करके केवल तीसरे की रचना सभव नही है। तीन केवल गणित म तीन है, यथाथ प्रारम्भ और अन्त म ता निगुणता ही है। गुणत्व अथवा अवगुणत्व उनमे गिनती के साथ आता है। गिनती का उपयोग बुद्धि के लिए है, विवेचन के लिए है। जीवन तो निगुण एक्य मागता है।

निर्गुणता गुणहीनता नही है वह गुणो का सामजस्य है। 'कु' का 'सु' से कसे सामजस्य होना है यह कहा नही जा सकता। विवेचन की भूमिका गणित की और भेद की भूमिका है। किन्तु जीवन अभिन्न है। जावन की साधना भेद-बुद्धि स उतनी नही होती वह अखड साधना है। उसम अभेद भाव अभेदानुभूति चाहिए।

'सु' म 'कु' क प्रति क्या अभेद बुद्धि हो सकती है ?

मैं मानता हूँ कि हा 'सु' म ही यह अभेद बुद्धि हो सकती है।

और 'कु' है ही वह जिसम यह अभेद-बुद्धि कभी नही हो सकती।

अर्थात् 'कु' वह है जो दुनियाँ म भेद-बुद्धि पर आश्रित है।

यह सज्जन और सत का ही काम है कि अपने को 'कूर कुटिल खल कामी' देखे और दोष या दड किसी को न देना चाहे।

जो हर दूसरे की गुटि देखता और बुराई बताता है वह अपने म बुराई देखने के डर से घबरा कर ही एसा करता है। वह मूल म डरपोक है। वह डर ही उस बुरा बनन को एस मजबूर करता है कि उस अपन स बाहर सब कहीं बुराई दीख।

मुझे जान पड़ता है कि जावन शोधन की समग्र और वज्ञानिक दृष्टि धम, अथ काम और मोक्ष का चतुमुख और चार विभागों म विभक्त नहीं देखगी बल्कि इस चतुष्टय म एक सूत्रता देख सकगी। जावन का सच्चा साधन का स्वरूप वह दृष्टि नहा खोसगी क्योंकि जीवन सूमग्र अखड है। कारण उसका स्रोत ईश्वर है जो नितान्त अखड है।

सत्य-मूल्य की प्रतिष्ठा

कल रात मालूम हुआ कि मुझे बोलना है। तभी से प्रयास रहा है कि मैं उस बारे कुछ न सोचूंगा नहीं। सुविचारित ही कहना मैं नहीं चाहता था। विचारित में कुछ पीछे भी रोक लिया जाता है। तय करके ही कुछ दिया जाता है। उससे अधिक मैंने चाहा कि मुझे सहज होना चाहिए। जो मुझमें है मीठे के साथ अगर कड़वा हो तो वह भी आपके सामने खोलकर रख देना चाहिए।

विचार मेरे पास न आ पावें यह मेरी कोशिश तो रही पर वह सम्भव नहीं हुआ। कारण बाबा (विनोबा) ने जो कहा कि नैतिक के ऊपर सत्य-मूल्य की प्रतिष्ठा का दायित्व साहित्य का है तो इस बात से मैं छुटकारा नहीं पा सका। वह मेरे मन की बात है। बड़े महत्व की भी है। नैतिक से कर्मक्षेत्र का काम चलाया जाता है। वहां आवश्यक होता है कि चीजों को हम बांटकर देखें अच्छे में और बुरे में। सज्जन-दुर्जन का अन्तर दृढ़ रखें। कुछ को पुरस्कार दें कुछ दूसरों को दण्ड भी देना आवश्यक समझें। इस तरह यथावत की लकीरें बीच में डालकर हम व्यवस्था को चलाया करते हैं। पर उन लकीरों पर ज्यादा निर्भर करने लग जायें तो विग्रहवाद और सम्प्रदायवाद का एक तत्त्वज्ञान ही खड़ा हो जाता है। उसमें से हिंसा का समर्थन आ मिलता है। ऐसा मालूम होता है कि अमुक रेखा के पार हमको कुछ समझने या सहानुभूति रखने की आवश्यकता नहीं है। अगर हम मान सकते हैं कि सौ फीसदी सही वही है जो हमारी मुट्ठी और बुद्धि में है तो दूसरे के लिए अवज्ञा और उपेक्षा बिलकुल सहज हो आती है। उससे आगे बढ़कर अगर धर्म का नशा भी हम पर सवार हो जाये तो उसके विनाश को भी हम अपने में उचित ठहरा लेते हैं। बाल्नें और मक्का में जो कलह और द्वन्द्व देखने में आया वह इसी मनोवृत्ति के कारण था।

मालूम होता है कि इन पक्षगत से ऊपर किसी एक समन्वयमूलक मूल्य की आवश्यकता है। साहित्य को उसी का सर्वोपरि ध्यान रखना होगा। सत्य सर्वव्याप्त है। वह अखण्ड है निष्पक्ष है। उसके प्रति साहित्य जाग्रत नहीं रहेगा, तो अन्त में दुनिया को एक करने का काम फिर दूसरे किस उपाय से हो सकेगा।

धर्म में जो ऐकान्तिकता है साहित्य उसका परिशोध करेगा। श्याम श्वेत यों तो दो रंग हैं और एक-दूसरे से उलटे हैं। लेकिन उन्हीं दोनों के समीचीन उपयोग से चित्र खिल उठता है। वहाँ पता भी नहीं चलता कि रंग दो हैं। सारे चित्र से एक भाव प्राप्त होता है जो अनुभूति में सत्य बन जाता है।

साहित्यकार सर्वज्ञ तो होता नहीं। रुचि-अरुचि भी अपनी उसके पास रहती है। फिर भी उसका काम होना चाहिए कि सबको सहानुभूति दे। यहाँ ऊँच हैं, नीच हैं, सम्पन्न हैं, दरिद्र हैं, साधु और दुष्ट हैं, उनमें विषमता तो अनिवार्य ही है। लेकिन धरती सबको धारण करती है। सूरज की धूप भी आदमी-आदमी में फ़र्क नहीं करती। खट्टे मीठे, कड़वे सभी फलों को धरती समान सिंचन देती है। साहित्य को भी कुछ उसी तरह रहना होगा। यह अभेद-बुद्धि विवेक को छोड़कर प्राप्त हो सकती है सो नहीं। आज तो शायद इस प्रकार का बुद्धि-शैथिल्य भी देखने में आता है। एक विशेष प्रकार के लेखन में प्रश्न और संशय इतना तीव्र होकर छा गया है कि जैसे विवेक सब व्यर्थ और अप्रस्तुत हो। जी नहीं, अविवेक में तो यह अभेद नहीं प्राप्त होगा। समत्व को विवेक का ही चरम और परम रूप कहना चाहिए।

उस अभेद की भूमि पर विवेक क्रियाशील बनता है। साहित्य का काम पक्ष लेना नहीं है क्योंकि साहित्य का काम 'करना' नहीं है। कर्म तो कर्ता के अनुरूप होगा। साहित्य को कर्ता की चेतना में घुल रहना है। उसकी दृष्टि इसलिए तटस्थ और समग्राही हो सकती है। उस दृष्टि के द्वारा भावना मनोवाञ्छित हो जायगी और सहानुभूति खुल सकेगी। साहित्य में वे मर्यादाएँ नहीं टिकतीं जिनके आर-पार सहानुभूति न जा सके। कभी दीवारें बनाकर काम-काज हम चलाते हैं, उन पर चौकी पहरा भी बिठाते हैं कि कुछ उधर का अनधिकृत इधर न आ जाय। उन लकीरों के हिसाब से हम अपनेपन—अपना देश भूमि सम्पत्ता आदि—को भरते हैं और उस सीमा के बाहर विरुद्ध के सम्बन्ध को उचित ठहराते हैं। साहित्य उस औचित्य को इस प्रकार नहीं अपने यहाँ ले सकता है।

लेकिन यह शास्त्र की बात लगती। निश्चय ही शाश्वत-मूल्य की प्रतिष्ठा साहित्य की पहली प्रेरणा है। लेकिन फिर शास्त्र में शास्त्र का प्रयोजन पूरा नहीं होता। उस शाश्वत-ओर का व्याख्यान धर्म में है ही। लेकिन धर्मों के शाश्वत रूप एक ही क्यों न हों, दूसरे तरह-तरह के जो हर धर्म में बन गए होते हैं जीवन-रस से दूर मताग्रही और पोथियाँ बन जाते हैं। वे कुछ ऊपर-ऊपर में ही रहते हैं। सो धर्म के क्षेत्र में तो कट्टरता रुकती नहीं। क्योंकि वहाँ आत्म-विवेक में कट्टरपंथियों को स्थान में ही सौंप जाता है। कट्टरताओं से दूर नहीं होती हर

नही होती थोड़ी देर के लिए भूलभर जाती हैं। धर्म का यह समाधान कर्म में टिकता नही है। धर्मभाव मे सम्पूर्णता की ओर परम एकता की गोद मे हम जा पहुंचते हों पर कर्म के क्षेत्र में जब विभेद विरोध ही दीखता है तो ऐसा लगता है कि आत्म-जगत् और वस्तु-जगत् दो हैं और उलट हैं। परमात्मा के लिए शायद संसार की ओर पीठ देना होगा और संसार मे समर्थ बनना हो तो आत्मा-परमात्मा के खटराग से बच रहना होगा।

यह द्वैत बहुत प्रकट है। अब आस्था ही एकता की हो सकती है। कर्म को और गति को तो अनैक्य में से साधना होता है। ऐक्य की आस्था को लेकर अनेकता में साथ कैसे वर्तन करना यह प्रश्न आता है। धर्मी इधर से पीठ मोड़ता है यह कहकर कि जगत् माया है। कर्मी उधर से मुंह मोड़ता है और कहता है कि वह मिथ्या है। धर्म और कर्म के बीच यह खाई बड़ी है। उनके पाटने को बाबा ने ठीक कहा साहित्य सेतु है।

फिर भी सेतु इस तट को एक बिन्दु पर उस तट के दूसरे बिन्दु से मिलाभर देता है तटों के दोपन को दूर नही करता। क्या मैं कहूं कि साहित्य वह गंगा का प्रवाह है जो दोनों तटों को हर बिन्दु पर परस्पर मिलाता और छूता हुआ बढ़ता है। वहां 'उप' रह नही जाता कर्ता और कृत दोनो उपकृत होते हैं। ज्ञाता ज्ञेय एक बनते हैं। वस्तु-निरपेक्ष न आत्मा को देखा जा सकता है न वस्तु को आत्मा निरपेक्ष। दोनों को परस्पर सामंजस्य में देख और दिखाकर वहां समग्रता की झांकी ली जाती है।

प्रतीत होता है कि अगर परम ऐक्य की प्राप्ति कभी होगी—व्यक्ति के अन्तर में अथवा बाहर समाज एवं विश्व की व्यवस्था में, तो साधन के रूप में साहित्य ही संगत होगा। क्योंकि वही है जो जीवन को दो धाराओं में नहीं फटने देता है; बल्कि दक्षिण-वाम दोनों तटों को समान भाव से अपने आलिंगन में लेता है।

साहित्य का माध्यम है शब्द और शब्द-शक्ति का विचार करना होगा। आज जिस शक्ति का हम अनुभव पाते हैं वह संख्या की है सत्ता की है, दासत्व की है। शब्द चपरासी बनता है। उसकी आत्म-चेतना जागती नहीं। उसमें स्वयं मूल्य नहीं पड़ता। मूल्य उसमें है जिसका शब्द है। साहित्य का शब्द उससे भिन्न है। ऊपर की तीनों प्रकार की शक्तियों से हम अनुभव करते हैं समस्याएं कम नहीं हैं जटिल होती जा रही हैं। अगर कटेंगी तो मुझे लगता है वह उस शक्ति के द्वारा कट सकेंगी जिसका सर्वस्व शब्द है। शब्द जिसे अपने से बाहर और किसी अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है। वह संख्या सत्ता या धन का प्रतिनिधि नहीं है न होना चाहता है। उसका धन स्वयं में

है। इसका वस सत्य है और हित है।

यहा एकाएक मुझको सूझता है कि साहित्य वह है जिसमें हित सत् के साथ है। 'हित' के साथ जो 'स' लगा है उसे सत् का प्रतीक हम मान लें। सत और हित इन दोनो को साथ रखना बडी कला है। साहित्य की और शायद जीवन की, वही है। क्योंकि सत्य पर आग्रह हुआ कि उसमे विशेषकर (सामने वाले का) हित उपेक्षित रह जाता है। मत वाद और सिद्धात आदि के हठ म ऐसा ही हो जाया करता है। दूसरी ओर हित पर ही बल रखें तो जसे ऋजुता और मार्दवता इतनी आ सकती है कि खडे होने को रीढ ही न रह जाय। जीवन के लिए एक मात्रा में कठोरता भी आवश्यक होती है। सत के बिना वह कठोरता टिक नहीं सकती। सत्य से च्युत होकर प्रम भावुकभर रह जाता है सामर्थ्य उसमे से नष्ट हो जाती है। निरे प्रेम को अपनाकर जो रह गया वह साहित्य व्यसनात्मक हो गया—रोमांटिसिज्म की तरफ बहक गया। वह आवश्यकता से अधिक गीला होता है राष्ट्रों और जातियो को उत्तिष्ठ और उन्नत नही कर पाता। उसम स रस की चुस्की तो मिलती है पोषण की शक्ति पर्याप्त नहीं मिल पाती। अत उत्कृष्ट साहित्य वही नही है जिसम हित राग है बल्कि आवश्यक यह भी है कि उसम सत भाव हो। गहरे जायें तो सत् भाव मे ही हित भाव समा जाता है। संस्कृत का सद्भाव शब्द ही हितभाव से दूसरा नही। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करन पर जान पडेगा कि सत मे ही सच्चा हित है। भावुकता और ममतावश जो हम अपना और दूसरो का हित मान लिया करते हैं वह अधिकाश स्वार्थ से जुडा रहता है। साहित्य उससे ऊचा उठगा। ऐसा हित जो दूसरे के अहित पर निर्भर हो साहित्य को अमान्य हो जायगा। समस्याए अधिकतर हितो के परस्पर विरोध से होती है। स्थापित हित स्वार्थ बन जाते हैं और उनम विग्रह ठन रहता है। साहित्य को ऐसे किसी बन्द हित म नहीं पड जाना है। हित के पहले जो स लगा है उसकी मानों यही चेतावना है। वह हित जो सबका है अविरोधी और शुद्ध हित है साहित्य म उसीकी प्रतिष्ठा है। और यह हित सत् से भिन्न होकर रह नही सकता। दूसरे शब्दो म साहित्य म सत् की प्रतिष्ठा है।

सत् है बीज, वह है मूल। मानों वहां से प्रेरणा आनी चाहिए। वह स्रोत है जहां से भावाविर्भाव होगा। फिर उसकी अभिव्यक्ति की सम्मुखता म हितभाव आता है। कला आदि का सम्बन्ध यही से है। जिसके आधार पर कोई केवल अपने मे मग्न रह जाय यह साहित्य नही है। वही मग्नता दूसरे को दे सबको दे तब वह साहित्य होता है। यहा हम देखें कि साहित्य अपने रचयिता स मुक्त हो

नहीं होती, थोड़ी देर के लिए भूलभर जाती है। धर्म का यह समाधान कर्म में टिकता नहीं है। धर्मभाव में सम्पूर्णता की और परम एकता की गोद में हम जा पहुंचते हों, पर कर्म के क्षेत्र में जब विभिन्न विरोध ही दीखता है तो ऐसा लगता है कि आत्म-जगत् और वस्तु-जगत् दो हैं और उलट हैं। परमात्मा के लिए शायद संसार की ओर पीठ देना होगा और संसार में समर्थ बनना हो तो आत्मा-परमात्मा के अनुराग से बच रहना होगा।

यह द्वैत बहुत प्रकट है। अब आस्था ही एकता की हो सकती है। कर्म को और गति को तो अनैक्य में से साधना होता है। ऐक्य की आस्था को लेकर अनेकता के साथ कैसे बर्तन करना, यह प्रश्न आता है। धर्मी इधर से पीठ मोड़ता है यह कहकर कि जगत् माया है। कर्मी उधर से मुंह मोड़ता है और कहता है कि वह मिथ्या है। धर्म और कर्म के बीच यह खाई बड़ी है। उनके पाटने को बाबा ने ठीक कहा, साहित्य सेतु है।

फिर भी सेतु इस तट का एक बिन्दु पर उस तट के दूसरे बिन्दु से मिला भर देता है, तटों के दोपन को दूर नहीं करता। क्या मैं कहूं कि साहित्य वह गंगा का प्रवाह है जो दोनों तटों को हर बिन्दु पर परस्पर मिलाता और छूता हुआ बढ़ता है। वहां द्वैत रह नहीं जाता, कर्ता और कृत दोनों उपलब्ध होते हैं। ज्ञाता ज्ञेय एक बनते हैं। वस्तु-निरपेक्ष न आत्मा को देखा जा सकता है, न वस्तु को आत्मा-निरपेक्ष। दोनों को परस्पर सामंजस्य में देख और दिखाकर वहां समग्रता की झांकी आ जाती है।

प्रतीत होता है कि अगर परम ऐक्य की प्राप्ति कभी होगी—व्यक्ति के अन्दर में अथवा बाहर समाज एवं विश्व की व्यवस्था में—तो साधन के रूप में साहित्य ही संगत होगा। क्योंकि वही है जो जीवन को दो धाराओं में नहीं फटने देता है; बल्कि दक्षिण-वाम दोनों तटों को समान भाव से अपने आलिंगन में लेता है।

साहित्य का माध्यम है शब्द और शब्द-शक्ति का विचार करना होगा। आज जिस शक्ति का हम अनुभव पाते हैं वह संख्या की है, सत्ता की है, शस्त्रास्त्र की है। शब्द चपरासी बनता है। उसकी आत्म-चेतना जागती नहीं। उसमें स्वयं मूल्य नहीं पड़ता। मूल्य उसमें है जिसका शब्द है। साहित्य का शब्द उससे भिन्न है। ऊपर की तीनों प्रकार की शक्तियों से हम अनुभव करते हैं समस्याएं कम नहीं हैं, जटिल होती जा रही हैं। अगर कटेंगी तो मुझे लगता है वह उस शक्ति के द्वारा कट सकेंगी जिसका संबल शब्द है। शब्द, जिसे अपने से बाहर और किसी अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है। वह संख्या, सत्ता या बल का प्रतिनिधि नहीं है न होना चाहता है। उसका बल स्वयं में

है। इसका बस सत्य है और हित है।

यहां एकाएक मुझको सूझता है कि साहित्य वह है जिसमें हित सत् के साथ है। 'हित' के साथ जो 'स' लगा है उसे सत् का प्रतीक हम मान लें। सत् और हित इन दोनों को साथ रखना नहीं चला है। साहित्य की और शायद जीवन की, वहीं है। क्योंकि सत्य पर आग्रह हुआ कि उसमें विशेषकर (सामने वाले का) हित उपेक्षित रह जाता है। मत, वाद और सिद्धांत आदि के हठ में ऐसा ही हो जाया करता है। दूसरी ओर हित पर ही बल रखें तो जैसे ऋजुता और आर्द्रता इतनी आ सकती है कि खड़ होने को रीढ़ ही न रह जाय। जीवन के लिए एक मात्रा में कठोरता भी आवश्यक होती है। सत् के बिना वह कठोरता टिक नहीं सकती। सत्य से च्युत होकर प्रेम भावुकभर रह जाता है, सामर्थ्य उसमें से नष्ट हो जाती है। निरे प्रेम को अपनाकर जो रह गया वह साहित्य व्यसनात्मक हो गया—रोमांटिसिज़्म की तरफ बहक गया। वह आवश्यकता से अधिक गीला होता है। राष्ट्रों और जातियों को उत्तिष्ठ और उन्नत नहीं कर पाता। उसमें से रस की चुस्की तो मिलती है, पोषण की शक्ति पर्याप्त नहीं मिल पाती। अतः उत्कृष्ट साहित्य वही नहीं है जिसमें हित राग है, बल्कि आवश्यक यह भी है कि उसमें सत् भाव हो। कहने जायें तो सत भाव में ही हित भाव समा जाता है। संस्कृत का सद्भाव शब्द ही हितभाव से दूसरा नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर जान पड़ेगा कि सत् में ही सच्चा हित है। भावुकता और ममतावश जो हम अपना और दूसरों का हित मान लिया करते हैं वह अधिकांश स्वार्थ से जुड़ा रहता है। साहित्य उससे ऊंचा उठेगा। ऐसा हित, जो दूसरे के अहित पर निर्भर हो, साहित्य को अमान्य हो जायगा। समस्याएं अधिकतर हितों के परस्पर विरोध में होती हैं। इसलिए हित स्वार्थ बन जाते हैं और उनमें विग्रह ठन रहता है। साहित्य का काम किसी बन्द हित में नहीं पड़ जाना है। हित के पहले जो 'स' लगा है उसकी मानों यही चेतावनी है। वह हित जो सबका है, अविरोधी और शुद्ध हित है, साहित्य में उसीकी प्रतिष्ठा है। और यह हित सत् से भिन्न होकर रह नहीं सकता। दूसरे शब्दों में साहित्य में सत् की प्रतिष्ठा है।

सत् है बीज, वह है मूल। मानों वहां से प्रेरणा आनी चाहिए। वह स्थान है, जहां से भावाविर्भाव होगा। फिर उसकी अभिव्यक्ति की सम्पूर्णता में शिल्पभाव आता है। शैली आदि का सम्बन्ध यहीं से है। जिसका आकार ही सारा कथन अपने में मग्न रह जाय वह साहित्य नहीं है। यही मग्नता मुक्ति का द्वार, उत्तर दे तब वह साहित्य होता है। यहां हम देखें कि साहित्य अपने कर्तव्य में मुक्त हो

नहीं होती, थोड़ी देर के लिए भूलभर जाती है। धर्म का वह समाधान कर्म में टिकता नहीं है। धर्मभाव में सम्पूर्णता की ओर परम एकता की गोद में हम जा पहुंचते हों पर कर्म के क्षेत्र में अब विभेद विरोध ही दीखता है तो ऐसा लगता है कि आत्म-जगत् और वस्तु-जगत् दो हैं और उलट हैं। परमात्मा के लिए शायद संसार की ओर पीठ देना होगा और संसार में समर्थ बनना हो तो आत्मा-परमात्मा के खटराग से बचे रहना होगा।

यह द्वैत बहुत प्रकट है। धर्म आस्था ही एकता की हो सकती है। कर्म की और गति की तो अनेकता में से साधना होता है। ऐक्य की आस्था को लेकर अनेकता के साथ कैसे वर्तन करना यह प्रश्न आता है। धर्मी इधर से पीठ मोड़ता है यह कहकर कि जगत माया है। कर्मी उधर से मुंह मोड़ता है और कहता है कि वह मिथ्या है। धर्म और कर्म के बीच यह खाई बड़ी है। उनको पाटने को बाबा ने ठीक कहा साहित्य सेतु है।

फिर भी सेतु इस तट को एक बिन्दु पर उस तट के दूसरे बिन्दु से मिलाभर देता है तटों के दोफन को दूर नहीं करता। क्या मैं कहूं कि साहित्य वह गंगा का प्रवाह है जो दोनों तटों को हर बिन्दु पर परस्पर मिलाता और छूता हुआ बहता है। वहां 'उप' रह नहीं जाता। कर्ता और कृत दोनों उपकृत होते हैं। ज्ञाता ज्ञेय एक बनते हैं। वस्तु-निरपेक्ष न आत्मा को देखा जा सकता है न वस्तु को आत्मा-निरपेक्ष। दोनों को परस्पर सामंजस्य में देख और दिखाकर वहां समग्रता की झांकी ली जाती है।

प्रतीत होता है कि अगर परम लक्ष्य की प्राप्ति कभी होगी—व्यक्ति के अन्तर में अथवा बाहर समाज एवं विश्व की व्यवस्था में तो साधन के रूप में साहित्य ही सगत होगा। क्योंकि वही है जो जीवन को दो धाराओं में नहीं फटने देता है; बल्कि दक्षिण-वाम दोनों तटों को समान भाव से अपने आलिंगन में लेता है।

साहित्य का माध्यम है शब्द और शब्द-शक्ति का विचार करना होगा। आज जिस शक्ति का हम अनुभव पाते हैं, वह संख्या की है सत्ता की है, शस्त्रास्त्र की है। शब्द चपरासी बनता है। उसकी आत्म-चेतना जागती नहीं। उसमें स्वयं मूल्य नहीं पड़ता। मूल्य उसमें है जिसका शब्द है। साहित्य का शब्द उससे भिन्न है। ऊपर की तीनों प्रकार की शक्तियों से हम अनुभव करते हैं समस्याएं कम नहीं हैं बल्कि होती जा रही हैं। अगर कमेंगी तो मुझे लगता है वह उस शक्ति के द्वारा कम सकेंगी जिसका सारसत्व शब्द है। शब्द जिसे अपने से बाहर और किसी अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है। वह संख्या सत्ता या बल का प्रतिनिधि नहीं है न होना चाहता है। उसका बल स्वयं में

है। इसका बल सत्य है और हित है।

यहां एकाएक मुझको सूझता है कि साहित्य वह है जिसमें हित सत् के साथ है। 'हित' के साथ जो 'स' लगा है उसे सत् का प्रतीक हम मान लें। सत और हित इन दोनों को साथ रखना बड़ी कला है। साहित्य की और शायद जीवन की, यहीं है। क्योंकि सत्य पर आग्रह हुआ कि उसमें विरोधपक्ष (सामने वाले का) हित उपेक्षित रह जाता है। मत, वाद और सिद्धान्त आदि के हठ में ऐसा ही हो जाया करता है। दूसरी ओर हित पर ही बल रखें तो उसमें ऋजुता और आर्द्रता इतनी आ सकती है कि खड़े होने को रीढ़ ही न रह जाय। जीवन के लिए एक मात्रा में कठोरता भी आवश्यक होती है। सत् के बिना वह कठोरता टिक नहीं सकती। सत्य से च्युत होकर प्रेम भावुकभर रह जाता है, सामर्थ्य उसमें से नष्ट हो जाती है। निरे प्रेम को अपनाकर जो रह गया वह साहित्य व्यसनात्मक हो गया—रोमांटिसिज्म की तरफ बहक गया। वह आवश्यकता से अधिक गीला होता है, राष्ट्रों और जातियों को उत्तिष्ठ और उन्नत नहीं कर पाता। उसमें से रस की चुस्की तो मिलती है, पोषण की शक्ति पर्याप्त नहीं मिल पाती। अतः उत्कृष्ट साहित्य वही नहीं है जिसमें हित राग है, बल्कि आवश्यक यह भी है कि उसमें सत् भाव हो। गहरे जायें तो सत् भाव में ही हित भाव समा जाता है। सत्त्व का सद्भाव वस्तुतः ही हितभाव से दूसरा नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर जान पड़ेगा कि सत् में ही सच्चा हित है। भावुकता और ममतावश जो हम अपना और दूसरों का हित मान लिया करते हैं वह अधिकांश स्वार्थ से जुड़ा रहता है। साहित्य उससे ऊंचा उठेगा। ऐसा हित, जो दूसरे के अहित पर निर्भर हो, साहित्य का अमान्य हो जायगा। समस्याएं अधिकतर हितों के परस्पर विरोध में होती हैं। स्थापित हित स्वार्थ बन जाते हैं और उनमें विग्रह ठना रहता है। साहित्य को ऐसे किसी बन्द हित में नहीं पड़ जाना है। हित के पहले जो 'स' लगा है उसका मानो यही चेतावनी है। वह हित जो सबका है, अविरोधी और शुद्ध हित है, साहित्य में उसीकी प्रतिष्ठा है। और यह हित सत् से भिन्न होकर रह नहीं सकता। दूसरे शब्दों में साहित्य में सत् की प्रतिष्ठा है।

जाता है। अपने प्रभाव के लिए उसे व्यक्तित्व पर निर्भर नहीं रहना होता। मानों रचनाकार केवल माध्यम है। केवल माध्यम वह उसका कर्ता और स्वामी नहीं है। कर्ता के रूप में जो व्यक्ति समक्ष है उसकी आयु सीमित है कुछ एक बरस जी जिलाकर वह चला जाता है मगर उसके साथ साहित्य उठकर नहीं चल देता। मरते आदमी के साथ वह नहीं मरता बल्कि वही है जो अमर बनता है। वही फिर परवर्ती युगों को पूर्ववर्ती युगों से मिलाता और एक रखता है। काल को वह परास्त करता है। जो स्वयं खंड-खंड है क्षण-क्षण मर रहा और दूसरों को भी मार रहा है ऐसा काल साहित्य के द्वारा अकाल बनता है। यानी मृत्यु ही जिसका अभिशाप है, साहित्य उसको चिरतनता देता है।

शब्द-शक्ति की जो ऊपर बात आई उसकी यही अक्षर-महिमा है। पर शब्द वह जो मनन भीतर के सत और हित में निर्माण पाकर खड़ा हो। वह शब्द बीज बन जाता है। वह अपने में से चैतन्य की सृष्टि करता है। वह स्वयंभव और स्वप्रतिष्ठ होता है। न संख्या का, न राज्य का, न प्रतिनिधित्व का सहारा उसे चाहिए। वह हर प्रकार की निर्भरता से स्वतन्त्र होकर मानो शक्ति का मन्त्र बनता है।

आज राजनीति के जमाने में जब राज्य ने देवाधिदेव का स्थान पा लिया है इस शब्द-शक्ति को जगाने की परम आवश्यकता है। वह शक्ति टूट गई है। मानों जान-बूझकर उसे तोड़ा गया है। उस शक्ति के साथ सारी मानव-जाति का हित जो संलग्न था सो कुछ स्वार्थों के लिए आवश्यक हुआ कि वे उस शक्ति को तोड़ डालें। अन्यथा उनके लिए फल फूलना सम्भव न था। वाणी प्राप्त की थी आदमी ने कि एक-दूसरे के निकट आयेगा और उसके द्वारा परस्पर को प्राप्त करेगा। वाणी को विस्तार देने के लिए फिर उसने भाषा की रचना की। उसके सहारे शब्द समय में और प्रसार में दूर तक अपना प्रभाव ले जाने में समर्थ हुआ। लेकिन उसी को उलटे काम में लाया जाने लगा। अपना अन्तर्मन खोलने में नहीं ढकने के काम भाषा आने लगी। कूटनीति पैदा हुई और वह सर्वोच्च कला समझी गई। भाषा को लेकर लोग अपने को एक-दूसरे से वंचित और अलग रखने लगे। आत्मदान से ज्यादा भाषा स्वार्थसाधन के काम आने लगी। वाणी और भाषा पहले संस्कृति के हाथ थी सो अब युग उपस्थित है कि राजकारण का अस्त्र बन आई है। आज बड़े-बड़े राज्य समूह संगठित हैं और राजनीतिक दल धड़ाधड़ यन्त्रों के जरिये शब्द छापकर और दूसरे तरीकों से गुणानुगुणित करके उन्हें गुंजा रहे हैं। विश्व-मानस उन शब्दों के तुमुल नाद से प्रमथित हो गया है। इस कोलाहल

में मूल्य जसे खो गये हैं। शब्द की शक्ति बिखर कर रह गई है। संशय बढ गया और आपस का भरोसा उठ गया है। किसी के वचन का विश्वास नहीं बचा है। और यद्यपि हर बात को दस्तावेज में बांधकर रखने की आज आदत है पर खुद उन दस्तावेजो की कीमत सिफर हुई जा रही है।

शब्द की इस अप्रतिष्ठा उसकी बहुलता अनतता और तज्जनित व्यथता के जमाने में यह और भी जरूरी है कि साहित्यिक रुकें और सोचें। उनके पास और दूसरा आयुध नहीं है। उसीके बल उन्हें रहना और जीना है। उसी के द्वारा कुछ करना और कराना है। अधिक संभव यही है कि शब्दों के इस अपार शोर में उनका धीमा-मीठा शब्द अनसुना रह जाय। प्रचार के युग में अप्रचारित और भावनाओं के बीच अपुरस्कृत रह जाय। लेकिन इस कारण और भी आवश्यक हो जाता है कि शब्द वह अवश्य हो जो सख्या और प्रचार के बल से उभरकर ऊचे आने और शोर बनने की कोशिश न करे बल्कि मन की सचाई और व्यथा में से आकर इतना भारी सिद्ध हो कि थाह तक उतर जाय। तब बल उस शब्द का शब्द में ही होगा और स्थिर और स्थायी होगा। समय की सतह की लहरो के बठने पर वह अपनी जगह चमकेगा उसकी सचाई प्रकाश देगी और उसमें समाया हितभाव अपना स्नेह विकीर्ण करेगा।

आज जिस विधि से हमारी व्यवस्था चल रही है उसमें एक मान्य मूल्य है राष्ट्र। उसके बारे में अमान्यता का प्रश्न ही नहीं है। राष्ट्र इकाई है दुनिया की और राष्ट्रीयता उन-उन इकाइयों का धर्म बन गया है। ऐसा मालूम होता है कि राष्ट्र वह धारणा है जिसकी रक्षा में अगर हमको कुछ बुरा काम करना पडे जिसको मामूली तौर पर हम गलत समझते हैं तो राष्ट्र प्रेम के कारण वह गलत नहीं रह जाता। मानो राष्ट्र के लिए हो तो गलत भी सही हो जाता है। यहां ही साध्य और साधन का प्रश्न पैदा होता है। साध्य को एकान्त सिद्ध मानकर चलना खतरनाक हो सकता है। तब हर साधन उस सिद्धि के लिए उचित ठहर जाता है। और इस तरह मूल्यो में बडी अव्यवस्था होती है। आज हम क्या देखते हैं? नारा है कि शान्ति के लिए युद्ध की तयारी लाजिमी है। ऐसे ही अच्छे लक्ष्य के नाम पर उठाय गये बुरे कदम भी तब अच्छे बन जाते हैं। उस ढग से आदमी की बुद्धि हर जाती है और वह साधन के बारे में विवेक करने की आवश्यकता से अपने को बरी मान लेता है। लेकिन स्पष्ट है कि साधन से साध्य मूलत भिन्न नहीं हो सकता। साधन स्वय साध्य का निर्माण करते हैं। अनुरूपता से अधिक साध्य-साधन में अभिन्नता तक देखी जा सकती है। बीज जो आज बोते हैं कल फल उससे दूसरा नहीं हो सकता है। यह बात

मामूली तौर पर हमारे मन में साफ रहती है। व्यक्तिगत जीवन में दुविधा नहीं होती अन्तर ध्वनि साफ बतला दिया करती है। लेकिन सामूहिक और सामुदायिक रूप में चलने पर, खासकर राष्ट्र की धारणा को साथ लेकर, तो मतावेश पैदा होते और उचितानुचित का मान ही बदल दिया करते हैं। राजनीतिक आदर्शों और आवश्यकताओं के अधीन हम मानवोचित मूल्यों से जाने-अनजाने भटक जाते हैं और उस कारण किसी प्रकार का विषाद भी अपने अन्दर पैदा नहीं होने देते हैं। कर्मीजन तो उस आवेश में काम करते ही हैं और उन्हें किसी प्रकार का दोष नहीं दिया जा सकता। पर साहित्य को उन आवेशों से मुक्त रहना है। नहीं तो फिर कोई साधन नहीं रह जायेगा जो उन आवेशों के क्षोभ के बीच मानव-मूल्य को सुरक्षित रखे। नीति-नियम सर्वत्र एक ही हैं। ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। समष्टि-व्यष्टि में अन्तर्गत नीति का भेद नहीं हो सकता। व्यक्ति से उठाकर जब हम लोक या राष्ट्र के सन्दर्भ में प्रश्न को ले जाते हैं तो अवसर अपने को भुलावा दे लेते हैं कि नीति का नियम वहां बदल गया होगा। इसीलिए निजी तौर पर जिसको हत्या कहते हैं, राष्ट्रीय युद्ध में उसीका गौरव मानते हैं। स्पष्ट है कि दुनिया आज शान्ति चाहती है लेकिन यह भी उतना ही जाना-माना यथार्थ है कि दोनों ओर अणुबम बन रहे और युद्ध की भयंकर तैयारियां हो रही हैं। कोई पक्ष हिंसा का व्यापारी नहीं है। दोनों उन्नति चाहते हैं और सभ्यता का विकास चाहते हैं। विश्व का हित उनका उद्दिष्ट है। लेकिन उस उद्देश्य में और अणुबम में अनबन और अनमेल है यह सहसा जो दोनों में से किसी राजपक्ष के नेताओं का प्रकट नहीं हो पाता है तो कारण यही कि साहित्य की आवाज मन्द और मद्धिम है। साहित्य दैनन्दिन जीवन के इन यथार्थों से अपने को अछूता नहीं रख सकता और इसलिए साहित्य साधन के बारे में भूल में नहीं पड़ सकता।

प्रश्न के इस पहलू पर मैं आपका ध्यान खींचना चाहूंगा। वस्तुस्थिति की सीमाएं होती हैं। सम्पूर्ण ऐक्य आज यन्त्र-तन्त्र नहीं है। बीच में अनैक्य और विग्रह पर्याप्त है। लम्बी राह हमको चलना है और संघर्षों में से यह राह पूरी होगी। इसलिए यथार्थ की मर्यादाओं के प्रति साहित्य में सहानुभूति का अभाव नहीं होना है। कर्मीजन उन मर्यादाओं पर जूझते हैं उन मर्यादाओं की रक्षा पर कटिबद्ध होकर वे जो करते हैं उसकी समझ साहित्य को रखनी है। निन्दा और तिरस्कार पर नहीं उतरना है। राष्ट्र का काम है अथवा और दूसरे अनेक काम हैं तो उनके प्रति पूरी तरह जागृत रहे बिना साहित्य का काम नहीं चलेगा। राजनीति तात्कालिकता का धर्म है यह कहकर उधर से उदासीन रहना

ठीक नहीं है। क्षण और शाश्वत में एक अभिन्नता और निरन्तरता है। शाश्वत मूल्य की प्रतिष्ठा वर्तमान के प्रति असावधान रहने से नहीं हो सकती। घटना जगत् और कर्म-जगत् उतना ही साहित्य के लिए रस और रहस्य का विषय है जितना कि मनो-जगत् और कारण-जगत्। सिद्धान्त लोक में पहुँचकर इस प्रत्यक्ष जीवन के प्रति विमुख और तटस्थ साहित्यकार रह नहीं सकता। कम-से-कम साहित्य यह नहीं कर सकता। सत्य और तथ्य में व्यवधान डालकर साहित्य सामर्थ्य संपादन कैसे करेगा? स्फूर्ति वह मूल्यों और आदर्शों के जगत् से ले लेकिन जहाँ उस स्फूर्ति को रूपाकार लेकर फलित होना है वह तो सामने फैला यह घटना का संसार है। होना व्यर्थ है, अगर करने में वह उजागर न हो। शब्द रचना या और किसी प्रकार की अभिव्यंजना उतनी ही समर्थ और प्रभावक होती है जितना गहरा रचनाकार की दृष्टि में आत्म और वस्तु लोकों का अनुबंध होता है। कुल मिलाकर प्रतीत होता है कि साहित्य द्वारा जीवनोत्कर्ष साधना चाहने वाले साहित्यकार के लिए आवश्यक है कि वह मन को आदर्श स्तर पर रखे तब हाथ को घटना की नब्ज पर रखे। वास्तव के प्रति अवगत रहे प्रबुद्ध रहे, अलबत्ता लिप्त वहाँ न रहे। वहाँ राग न रखे पर वीतरागी भी न हो। वहाँ जूझने से बचे नहीं किन्तु मनोकामना ऊँची रहे। स्वार्थ हमारा परमार्थ में रहे तो दलबन्दी में हम नहीं घिरेंगे। अलग थलग ऊँचे-पवित्र नीत्यभिमानी बनकर भी नहीं रह सकते। विग्रह और संघर्ष के कुरुक्षेत्र में किनारा लेकर चलना भगवान् कृष्ण से नहीं हो पाया। किसी चैतन्यशील और सामर्थ्यशाली से वह सध नहीं सकता। [साहित्यिक असमर्थ नहीं है। साहित्य तो कभी असमर्थ हुआ नहीं है हो नहीं सकता। लेकिन संसार के नाना स्वार्थों के युद्ध के बीच न्याय और सत्य के नये धर्मयुद्ध को उदय में लाना उसका काम है। दूसरे संघर्ष ओछे हैं उथले हैं झूठे हैं। नीति-अनीति सत्-असत् प्रेम और वैर का संघर्ष ही मौलिक है। राज्यों और राष्ट्रों की घमासान तैयारियों के बीच एक पक्ष शायद नहीं दीखता। वह मानव का पक्ष है। साहित्य को उसी पक्ष की टेक लेकर सामने आना और अपना धर्म पालन करना है।]

नवम्बर ५६ ■ ■ ■

भारतीय साहित्यकार परिषद् अमृतसर में दिया गया भाषण।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन में

दिसम्बर का महीना पास आ गया है और कुछ दिनों में अबोहर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन होगा। वह होकर चुकेगा कि ४२ का नया सन् शुरू हो जायगा। मैं आशा करता हूं कि सम्मेलन का यह नव वर्ष उसका नव वर्ष भी होगा।

सम्मेलन के सभापति के चुनाव के समय हवा में कुछ दुविधा थी। अब दुविधा कट गई है। मैं चुनाव को दुर्घटना नहीं मानता। होता है सो ठीक ही होता है। आस्तिक वर्तमान को मानकर ही उसको भविष्य की ओर बढ़ा सकता है, अकर्मण्य अतीत के साथ झगड़ता है।

लेकिन मेरा यह विश्वास जरूर है कि हम चाहें तो प्रस्तुत घटना को दुर्घटना बना सकते हैं। हर घटना समय के रुख की परिचायक है। वह जैसे—खुद बोलती है। जगद्घटन जगदीश्वर की वाणी है। उसे अनसुना करके अपनी मन-मानी में चलने में व्यथता ही हाथ लग सकती है।

सभापति के चुनाव के पीछे क्या-क्या शक्तियां काम कर रही थीं उनके विश्लेषण में नहीं जाना है। ईश्वर का काम मनुष्य के हाथों से होता है। उसमें रास्ते में मनुष्य के मन के विकार भी मिल जाते हैं। उन विकारों की बात को छोड़कर स्वयं फलित फल को ध्यान में लिया जा सकता है। आज हमारे पास चुनाव का फल यह है कि सभापति श्री अमरनाथ झा हैं।

श्री झा महोदय से थोड़ा मिलना हुआ तो भी गहरी छाप मुझ पर पड़ी। वह तत्पर पुरुष हैं। शिथिलता उनके नीचे नहीं पनप सकती। बात के मर्म को वह अनायास पकड़ते हैं। शब्द में अपने को कम खर्च करते हैं। इस आधार पर मुझे पक्की आशा है कि सम्मेलन नये वर्षारम्भ से नयी व्यवस्था पहन उठेगा और उसमें शिथिलता नहीं रहने पायेगी।

सम्मेलन हिन्दी की अकेली व्यापक संस्था है। वह नगर की नहीं प्रान्त की नहीं समूची हिन्दी की है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा को अपने काम की पहचान को कोई कठिनाई नहीं आई। इसका स्वधर्म निश्चित था। इसीलिए

यह संस्था ठण्डा और ठोस काम बराबर करती रह सकी। पर सम्मेलन को वैसी सुविधा नहीं रही और जब कि हिन्दी राष्ट्रभाषा समझी गई तब से तो सम्मेलन का हृदय जैसे एक दुविधा मे पड़ गया।

यह दुविधा अब तक नहीं छूटी है। इधर कुछ उनके अधिवेशनों को अलग से देखने का मुझे सुयोग मिला है। बहुत भीतर की बात तो जानता नहीं पर उन अधिवेशनों में देखा है कि सम्मेलन की कार्यकारी शक्ति बहुत कुछ हिन्दी और राष्ट्रभाषा के निपटारे के सवाल पर खर्च हो जाती रही है। सम्मेलन अपना स्वधर्म तय नहीं कर पाया है। राष्ट्रभाषा राष्ट्रनेताओं के हाथ है और हिन्दी हिन्दीवालों के। दोनों में घनिष्ठता हो सकती है सद्भाव हो सकता है बहुत कुछ लेन-देन हो सकता है—लेकिन वे दोनो एक है यह स्थिति कदाचित् बनने मे नहीं आई है। इसी से सम्मेलन किसका है राष्ट्रनेताओं की राष्ट्रभाषा का या हिन्दीभाषियों की हिन्दी का। सम्मेलन के अधिवेशन की कारवाइयों में इसी प्रश्न की गर्मी और गूंज छाई रहा करती है।

सम्मेलन में राष्ट्रभाषा के काम का प्रवेश गाधी जी के साथ हुआ। उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पूरी करने वाले माध्यम के रूप मे अपनाया। परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार शुरू किया गया और सम्मेलन अखिल भारतीय रूप ले उठा।

स्पष्ट है कि हिन्दी के प्रति गांधी जी की आस्था राष्ट्रीय दृष्टि से है। राष्ट्र की आवश्यकताओं की ओर से हिन्दी के काम को उन्होंने हाथ लगाया। नहीं तो वे सम्मेलन के सभापतित्व का अपने को अधिकारी न मान सकते।

दूसरी दृष्टि हिन्दी को उसकी परम्पराओं की ओर देखती है। राष्ट्र अथवा किसी और प्रयोजन के नाते वह हिन्दी परम्परा से च्युत हो यह वे नहीं सह सकते। प्रयाग अथवा काशी में रहने वाले हिन्दी-हितैषी को एक हक है कि वह कहे तुम्हारे राष्ट्र को मैं नहीं जानता पर अपनी हिन्दी को मैं जानता हूं। उस हिन्दी को मैं बिगड़ने देने को तयार नहीं हूं। तुम्हारे राष्ट्र मे दखल देने मैं नहीं पहुंचा हूं। मेरी हिन्दी पर कृपया तुम भी कृपा करो।

मैं जानता हूं कि पिछले दिनों जो गड़बड़ रही वह इन्ही दो दृष्टियों के असामंजस्य के कारण थी। दृष्टियों मे सामंजस्य नहीं भी होता पर दिल मे समाई हो सकती है। मेरी धारणा है कि किन्ही कारणों से जिनकी व्याख्या में मैं उतरना नहीं चाहता हूं। मन मे एक-दूसरे के लिये वह समाई भी कम होती गई है। अब संकट उपस्थित है। दोनों दृष्टियां स्पष्ट अपने को पहचान लें, यानी अपने अन्तर को पहचान लें तो कोई कारण नहीं कि संकट टल न सके।

पिछले चार वर्ष से मैं यह मानता और कहता भी रहा हूँ कि सम्मेलन को
अपने स्वधर्म की मर्यादा बना लेनी चाहिए। चाहे तो वह 'राष्ट्रभाषा' सम्मेलन
बन सकता है। पर यदि उसको हिन्दी साहित्य सम्मेलन ही रहना है तो अपनी
आवश्यकता उसे हिन्दी-साहित्य की ही दिशा में देखनी होगी।
हिन्दी साहित्य की कम समस्याएं नहीं हैं बहुत मांग हैं जो आज उससे की
जा रही हैं। विश्व के बीच हिन्दुस्तान नगण्य नहीं रहने वाला है। नगण्य तो
वह आज भी नहीं है। पर कौन जानता है कि आगे क्या अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न
आए उस पर आ रहने वाली नहीं हैं। ऐसी हालत में हिन्दी को किसी भी
अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के समकक्ष जल्दी से जल्दी बन जाना चाहिए। आज तो
हिन्दी पर यह लांछन तक सही है कि उपयुक्त पुस्तकों के अभाव के कारण वह
विश्वविद्यालय की ऊंची शिक्षा का माध्यम नहीं बनाई जा सकती। सम्मेलन
के रहते हिन्दी का यह लांछन स्वयं सम्मेलन का लांछन बन जाता है। यह सब
कुछ सम्मेलन को नहीं तो किसको करना है। हिन्दी साहित्य की इस रचनात्मक
आवश्यकता को पीठ देकर सम्मेलन राष्ट्रभाषा में उलझे तो कैसे कहा जा
सकता है कि वह हिन्दी-साहित्य सम्मेलन है। यह स्थिति हम हिन्दी वालों को
आज असह्य हो जानी चाहिए। सम्मेलन से हमारा तकाजा और तन्य सम्मेलन
के प्रति हमारा समर्पण बढ़ जाना चाहिए।
इस दृष्टि से मैं इन तीन परिणामों पर पहुंचता हूं—
१ राष्ट्रभाषा के प्रश्न और काम से सम्मेलन अपने को मुक्त कर ले और
इस प्रकार उस सम्बन्ध में अपना आलोचना का अधिकार मत के लिए सुरक्षित
बना ले।
२ राष्ट्रभाषा प्रचार की समस्या और व्यवस्था को पूरी तरह उन्हीं को
सौंप दें कि जिनसे यह कल्पना सम्मेलन को प्राप्त हुई। यानी यह मामला गांधीजी
पर छोड़ दिया जाय।
३ शिमला अधिवेशन में मान्य की गई हिन्दी की परिभाषा सम्मेलन के
कार्यक्रम की सीमा समझी जाय।
पहली बात सम्मेलन की शक्ति को बढ़ाने के लिए जरूरी है। कांग्रेस
सरकारों के जरिये जो कुछ हुआ या आगे जो कुछ हो उससे सम्मेलन अपने
को बचा हुआ पाय यह स्थिति सम्मेलन के हित में अनिष्ट है। पहले उसी से
गड़बड़ मची। राष्ट्रभाषा प्रचार से सम्बन्ध रखने वाली संस्था तो राजनीति
से अछूती नहीं रह सकती। किन्तु उसकी कार्यवाही से सम्मेलन भी नैतिक रूप
से यदि बच जाय तो सम्मेलन का हिन्दी के हित में काम करने की शक्ति पर

इससे दबाव पड़ना लाजमी है। सम्मेलन को सदा के लिए इस स्थिति में पड़ने से इन्कार कर देना चाहिए। राष्ट्रीय काम-काज के नाते भाषा-सम्बन्धी ऐसी कारवाइयां होना अनिवार्य हैं कि सम्मेलन जिनका आलोचक और विरोधी होना अपना कर्तव्य समझे। राष्ट्रभाषा के दायित्व से साथ अपने आपको सीधा अटकाकर सम्मेलन की वह विरोधिनी शक्ति निबल पड़ती है। सम्मेलन का आग्रह रहा है और उचित रूप से रह सकता है कि वह तो राष्ट्रभाषा को हिन्दी ही कहेगा। जहां तक हिन्दी के साथ राष्ट्रभाषा का प्रचार संगत हो वहां तक ही उसको सम्मेलन का बल मिल सकता है आगे नहीं।

इसके साथ ही हम स्वीकार करना चाहिए कि अहिन्दीभाषी प्रांतों में हिन्दुस्तानी शब्द को निषिद्ध ठहराकर राष्ट्रभाषा प्रचार का काम निर्विघ्न नहीं फैलाया जा सकता। अर्थात् राष्ट्रभाषा को हिन्दुस्तानी कह सकने के विकल्प की सुविधा राष्ट्रभाषा प्रचारकों के लिए आवश्यक ही है। सम्मेलन वह सुविधा हिन्दी संस्था होने की हैसियत से अपने लिए नहीं चाह सकता। वह मांग तो उसके लिए प्रलोभन का हो जायगा। इसका फलितार्थ यह है कि इस अधिवेशन में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति न पुरानी कायम की जावे और न कोई नई निर्वाचित की जाय। बल्कि सम्मेलन के विधान में से ही उसको निर्दोष कर दिया जाय और वर्तमान समिति का सब काज गांधीजी के हवाले कर दिया जाय।

तीसरी बात है हिंदी की परिभाषा। इन्दौर की परिभाषा पूना में बदली गई। उसके अलावा शिमला अधिवेशन की परिभाषा है। इन्दौर और पूनावाली परिभाषाएं राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हैं। यानी सम्मेलन यदि साहित्य सम्मेलन है तो उसके लिए उपयुक्त शिमला अधिवेशन वाली परिभाषा रह जाती है। राष्ट्रभाषा की परिभाषा राष्ट्रनायकों से अलग होकर यदि कुछ बनायी जायगी भी तो वह राष्ट्रभाषा पर असर नहीं डालेगी, बल्कि बनाने वाले के ऊपर ही बन्धन रूप हो जायगी। मेरा अभिप्राय है कि सम्मेलन उस झगड़े में न पड़े। पूना में इन्दौर परिभाषा में कुछ काट-छांट करा लेकर सम्मेलन ने अपने रुख को तो प्रकट किया उससे अधिक उसका फल नहीं हुआ। सच पूछिए तो सम्मेलन का सही रूप शिमला परिभाषा में व्यक्त होता है। सम्मेलन के काम की आधारशिला तो वही हो सकती है और होनी चाहिए। वह पूना की परिभाषा से ही नहीं बल्कि इन्दौर वाली से भी अविरोधी है और वह राष्ट्रीय दृष्टि रखने वालों को सम्मेलन की ओर से काफी होना चाहिए।

अगर सम्मेलन इस बार की बैठक में अपने स्वधर्म की स्थिति अपने और

सबके निकट स्पष्ट कर दे और फिर हिन्दी-साहित्य की आवश्यकताओं को पूरा करने म अपने को प्राणपण से डाल दे तो इससे हिन्दी और राष्ट्र दोनों का ही हित होगा। राष्ट्रभाषा और हिन्दी म जो खींचतान नजर आती है उसकी जगह फिर दोना म सद्भाव नजर आने लगेगा। उर्दू वाले उर्दू को राष्ट्रभाषा कहलान के पचड़े म न पड़कर उर्दू का ज्यादा काम करते रह सके हैं। राष्ट्र भाषा या हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध का कोई प्रयत्न मौलवी अब्दुल हक साहब को बिना पूछे शायद ही चल सके। कारण वह खुलकर उर्दू के रहे हैं। इसी तरह राष्ट्रभाषा सम्बन्धी कोई गहरी और असली कारवाई सम्मेलन की ओट म डालकर किसी भांति नहीं की जा सकेगी यदि सम्मलन शब्द के सच्चे अथ में हिन्दी की सर्वांगपूर्ण प्रतिनिधि-सस्था बन रहेगा। राष्ट्र नेताओं के नामों के सपक स सम्मेलन अपने को अखिल भारतीय मानकर सतोष कर ले तो बात दूसरी है पर क्या वह सचमुच हिन्दी भाषी प्रान्तों का भी प्रतिनिधि है। उसकी व्यापकता भी असलियत म एक बहलावा ही रह जाती है। उस व्यापकता का मोह छोडन का समय आ गया है। अब उसम असलियत पडनी चाहिए और वह असलियत ठडे ठोस सतत रचनात्मक काय द्वारा ही आ सकती है।

■ ■ ■

दिसम्बर ४१

मैं कौन ?

मुझ पर बहुतों की कृपा है। इसके लिए मैं परमात्मा का और उन सबका कृतज्ञ हूं। पर उन सबको सन्तुष्ट कर पाऊं ऐसा मुझ से नहीं बनता। तब सोचता हूं कि क्या करूं ? हितैषियो की कृपा और सद्भाव से वंचित मैं अपने को नहीं बनाना चाहता। लेकिन अगर मैं आज्ञा का मान रखने में असमर्थ सिद्ध होता हूं तो क्या मैं उनसे आशा कर सकता हूं कि वे मुझ से अपनी आज्ञा का पालन नहीं मागेंगे ? क्या मैं आशा करूं कि उनसे असहमत रहूं फिर भी वे मुझ पर कृपालु रहेंगे ?

काम के लिए मेज पर बैठा ही था कि एक सज्जन आये। कई बार सभाओं में उन्हें देखा था। अच्छे वक्ता थे स्थानीय सनातनधर्म संस्था के स्तम्भ थे। पर मेरा उनका यह परिचय नवीन था।

उन्होंने कहा—उस दिन मैंने आपका भाषण सुना था। सोचा मैं आप से मिल लूंगा। आप तो सनातनधर्म के सिद्धान्तों को मानने वाले मालूम होते हैं। फिर शिखासूत्र क्यों धारण नहीं करते ? आज क्या जरूरत नहीं है कि मालूम हो कौन मुसलमान है और कौन हिन्दू ?

मैंने कहा—क्या इसी के लिए आपने कष्ट उठाया है ? इस समय मेरे शिखा सूत्र नहीं है यह जानता हूं। किन्तु इस कारण अच्छा बनने में मुझ में कुछ अक्षमता रहती है ऐसा भी बोध मुझे नहीं है। लेकिन कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूं ? ठण्डाई मगाऊं ?

बोले—भारतवर्ष में हिन्दू हैं अथवा अहिन्दू हैं। व्यक्ति को तय कर लेना होगा कि वह क्या है। शिखा सूत्र उनके बीच की रेखा है। आप उससे उदासीन नहीं रह सकते।

किन्तु मुझमें तत्सम्बन्धी विशेष जागृति नहीं हुई। मैंने चाहा कि बताइये मेरे लिए क्या आज्ञा है। सेवा के लिए मैं प्रस्तुत [illegible]। चोटी की बहस के मामले में मैं हारता हूं। क्या यह सम्भव हो सकेगा कि वह मुझे अपने अनुसार हो रहने देवें ?

पर उनका भी मत स्पष्ट था। बिना शिखासूत्र मैं भ्रष्ट रहूँगा, म्लेच्छ रहूँगा। तब नरक में ही मुझे ठौर होगा और वह मेरे सम्बन्ध में आशा-शील हैं, मुझ पर स्नेह रखते हैं। कैसे वे अपनी आँखों के सामने यह सहन करें कि मैं नरक के योग्य रहूँ? उनके प्रेम का तकाजा है कि वह मेरा उद्धार करें।

अब क्या उनकी चिन्ता और प्रेम के लिए मैं उनका ऋणी न बनूँ? किन्तु करूँ क्या? मैंने कहा—महाराज, क्या और कुछ मेरे लिए सेवा का आदेश नहीं दे सकते जो मुझसे हो सके?

वह अत्यन्त निःस्वार्थ सज्जन थे। मेरा उपकार ही चाहते थे। पैसा उन्हें दरकार न था, मेरी श्रद्धा उन पर अटूट थी। पर अपने से इन्कार कर दूँ इतना असत्य मुझ से न हो सका और प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में मैंने उनसे यही चाहा कि वह मुझे मुझ पर ही छोड़ दें।

मैंने अन्त में पाया कि वह रुष्ट हो गये हैं। मेरे यहाँ का जलपान उन्हें स्वीकार न हुआ और वह मुझे तज कर चल गये।

मैं अपने काम में लगने को मुड़ा—

कुछ देर बाद एक और महाशय आये। बातचीत आरम्भ करके बोले—तो क्या आप आर्यसमाजी नहीं हैं?

मैंने कहा—हूँ तो नहीं पर कहिये।

कहने लगे—बड़े लाभ की बात है।

मैंने माना लाभ की बात हो सकती है। पर मुझसे क्या और कोई सेवा लेने की आशा वह कृपया मुझे नहीं देंगे? पर वे सबसे पहले यह चाहते थे कि बहस करके मैं उन्हें बतला सकूँ कि समझदार होकर मैं किस प्रकार आर्यसमाजी होने से बच सकता हूँ। हाँ, उन्होंने कहा, जिद का इलाज उनके पास नहीं है। पर यह निश्चय है यदि आर्यधर्मी मैं नहीं बन सकता हूँ तो अब से मेरी समझदारी पर उन्हें दावा होगी।

मेरे लिए अपनी समझदारी पर अहंकार का मौका नहीं है। पर अपनी अज्ञानता को जानकर भी अपने ही प्रति विरुद्ध और विरुद्धाचारी बनूँ इतना दम मुझमें नहीं है।

आर्य समाज धर्म कल्याणकर है। सत्य है और जो कुछ भी वह कह सकें सच है। उनके सम्बन्ध में मेरे लिए आपत्ति का तनिक भी अवकाश नहीं है। पर अपनी असमर्थता का मैं क्या बना सकता हूँ। निवेदन करने को मेरे पास अपनी लाचारी ही थी और मैंने कहा—एक कम आर्य समाजी भी रहा तो कितना दुनिया का नुकसान होगा क्योंकि वह अटूट रहा है इसलिए वह उसे

सह लें।

पर उन्होंने भी मुझपर तरस नहीं किया, रोष ही किया और जब मेरे सम्बन्ध में निरे निराश होकर वह चले गये तब मैं भी तनिक खिन्न हुआ और फिर मेज पर भुका कि—

एक जन विद्वान की कृपा-दृष्टि इन दिनों मुझ पर आ गई थी। कुछ देर बाद वे पधारे। उन्हें भरोसा था कि मैं जन हूं और अभव्य नहीं हूं। वह चाहते थे कि जनत्व में प्रगाढ़ता प्राप्त करूं।

किन्तु यही उनका मतव्य था। जैन धर्म ही तो धर्म है और मुझे उसे धारण रखना होगा और गौरव के साथ प्रगट करते रहना होगा कि मैं जन हूं।

मैंने जानना चाहा कि अगर वैसा करने में अशक्त होऊं तो फिर उनके पास मेरे लिए कहां जगह है ? उन्होंने बताया कि जो जैन नहीं वह अजन है अर्थात् मिथ्यात्वी है। जब तक वह नरतन में है तब तक वह उसे कलंकित करता है। इस योनि से छूटकर फिर उसे नरक अथवा तिर्यग् योनि में ही स्थान मिलेगा।

नरक में जाने से अथवा तिर्यग् योनि से डरकर क्या मैं आज अपने साथ झूठा आचरण करूं ? मैंने यही पंडित जी से कहा नरक आयेगा तो झूठ बोलकर उससे मैं अपने को कैसे बचा लूं ? यह कहकर इस बारे में मैंने उनसे क्षमा चाही।

किन्तु उन्हें मेरा अपकार किसी प्रकार स्वीकार न था। मानव देह पाकर मैं उसे जन धर्म के अमृत से वंचित रखूं यह पण्डित जी कभी न होने देंगे। प्रेम की ताकत के अधिकार को भी वह क्यों न मेरे ऊपर बरतें और मुझ सन्मार्ग पर लावें ? मैंने चाहा कि वे अवश्य ऐसा करें किन्तु निवेदन किया कि यदि मैं अन्त तक असुधार्य ही रहा तो भी अपना स्नेह वह मुझ पर से उठा न लें।

चर्चा खासी देर तक चली पर अपने भाग्य को क्या कहूं। वह बेहद गर्म होकर मेरे यहां से विदा होकर गये।

मैं फिर मेज पर झुका—

उस दिन जान पड़ता है काम होना ही न था। उसी रोज एक मुसलमान मेहरबान भी आये ईसाई पिता भी आ गये। मैं भोजन के समय को लांघकर उनके साथ ही बैठा रहा। उन सबकी शुभाकांक्षा का मूल्य जानता हूं। उनकी कृपा को भी अपने बस कभी नहीं खो सकता। मैंने उनको कहा कि वे मेरे पूज्य हैं मेरे प्रति अपने में वे क्षमाभाव शेष रहने दें। यदि उनकी आज्ञा को ज्यों-की त्यों पालने में असमर्थ हूं तो भी उनका ऋणी हूं। उनके वक्तव्यों में मुझे आपत्ति

की अथवा आलोचना की गुंजाइश नहीं है। न समझें मैं मुसलमान होने का या ईसाई होने का कायल नहीं हूं। पर कुछ कहलाया ही जाऊं और वही कहलाया जाऊं, इसका आकर्षण मुझे नहीं है। पर इस कारण मुझे वह अपने से दूर बिल्कुल न मान लें।

पर वे लोग भी अतिशय अप्रसन्न होकर ही यहां से गये और मैं फिर—

अभी व सब गये हैं। मैं नहीं जानता कि क्या मुझे हक है कि मैं उन सबकी सत् अभिलाषाओं को वापिस कर दूं। लेकिन क्या करूं?

खैर अब बारह बज गये हैं मुझे इजाजत दीजिये कि मैं जरा स्वस्थ हो लूं।

सितम्बर ४५

□ ■ ■

भाग्य और पुरुषार्थ

भाग्य और पुरुषार्थ विपरीत नहीं तो अलग तो समझ ही जाते हैं। मैं ऐसा नहीं समझ पाता।

भाग्य का उदय मेरे निकट निरर्थक शब्द नहीं है। स्पष्ट ही भाग्योदय शब्द में भाग्य है कि मैं प्रधान नहीं हूं, भाग्य प्रधान है। पुरुषार्थ मैं कर सकता हूं लेकिन भाग्योदय उसमें स्वतन्त्र तत्त्व है। हो सकता है कि लोगों को यह मानने में कठिनाई हो। मुझे इसे स्वीकार करने में उल्टे अपनी धन्यता मालूम होती है।

एक शब्द है सूर्योदय। हम जान गये हैं कि उदय सूरज का नहीं होता। सूरज तो अपेक्षतया अपनी जगह रहता है चलती घूमती धरती ही है। फिर भी सूर्योदय शब्द हमको बहुत शुभ और सार्थक मालूम होता है।

भाग्य को भी मैं इसी तरह मानता हूं। वह तो विधाता का ही दूसरा नाम है। वे सर्वान्तर्यामी और सार्वकालिक रूप में हैं उनका अस्त ही कब है कि उदय हो। यानी भाग्य के उदय का प्रश्न सदा हमारी अपनी अपेक्षा से है। धरती का रुख सूरज की तरफ हो जाय यही उसके लिये सूर्योदय है। ऐसे ही मैं मानता हूं कि हमारा मुख सही भाग्य की तरफ हो जाय तो इसी को भाग्योदय कहना चाहिए।

लेकिन ऐसा हुआ नहीं करता। पुरुषार्थ की इसी जगह सगति है। अर्थात् भाग्य को कहीं से खींचकर उदय में लाना नहीं है न अपने साथ ही ज्यादा खींचतान करनी है। सिर्फ मुंह को मोड़ लेना है। मुख हम हमेशा अपनी तरफ रखा करते हैं। अपने में प्यार करते हैं अपने को ही चाहते हैं। अपने को आराम देते हैं अपनी सेवा करते हैं। दूसरों को अपने लिये मानते हैं सब कुछ को अपने अनुकूल चाहते हैं। चाहते यह हैं कि हम पूजा और प्रशंसा के केन्द्र हों और दूसरे आस-पास हमारे इसी भाव में मंडराया करें। इस वासना से हम छुट्टी नहीं मिल पाती। तब कभी होता है कि ऊपर से गहरा दुःख आ पड़ता है। वह हमें भीतर तक विदीर्ण कर जाता है। कुछ क्षण के लिये जैसे हमारी अहंता को ही शून्य कर डालता है। यह शून्यावस्था भगवत् कृपा से

ही प्राप्त होती है। इसलिए मैं मानता हूं कि दुख भगवान का वरदान है। मद और किसी औषध से गलता नहीं। दुख ही भगवान् का अमृत है। वह क्षण सचमुच ही भाग्योदय का हो जाता है अगर हम उसमें भगवान् की कृपा को पहिचान लें। उस क्षण सरल होता है कि हम अपने से मुड़ें और भाग्य के सम्मुख हों। बस इस सम्मुखता की देर है कि भाग्योदय हुआ रखा है। असल में उदय उसका क्या होना है उसका आलोक तो कण-कण में व्याप्त सदा सर्वदा है ही। उस आलोक के प्रति खुलना हमारी आंखों का हो जाये बस उसी की प्रतीक्षा है। साधना और प्रयत्न सब उतने मात्र के लिए हैं। प्रयत्न और पुरुषार्थ का कोई दूसरा लक्ष्य मानना बहुत बड़ी भूल करना होगा ऐसी चेष्टा व्यर्थ सिद्ध होगी।

दुनिया में हम देखते तो हैं। लोग हैं कि बहुत हाथ-पैर पटक रहे हैं दिन रात दौड़-धोड़ में लगे रहते हैं। कोशिश में तो कमी नहीं है पर सिद्धि कुछ नहीं मिल पाती। तो आखिर ऐसा क्यों है? कोशिश को पुरुषार्थ में सिद्धि मानें तो यह दृश्य नहीं दीखना चाहिए कि हाथ-पैर पटकने वाले लोग व्यर्थ और निष्फल रह जायें। अगर वे व्यर्थ प्रयास रहते हैं तो अन्त में यह कह उठें कि क्या करें भाग्य ही उल्टा है तो इसमें गलती नहीं मानी जायेगी। सच ही अधिकांश यह होता है कि उनका और भाग्य का संबंध उल्टा होता है। भाग्य के स्वयं उल्टे-सीधे होने का तो प्रश्न ही क्या है? कारण उसकी सत्ता सर्वत्रव्याप्त है। वहां दिशायें तक समाप्त हैं। विमुख और सम्मुख जैसा वहां कुछ संभव ही नहीं है। तब होता यह है कि उन निष्फल प्रयत्नों वाले स्वयं उससे उल्टे बने रहते हैं अर्थात् अपने को ज्यादा गिनने लग जाते हैं। आप दूसरों के प्रति अवज्ञा और उपेक्षाशील हो जाते हैं। श्रम में अधिकांश यह दोष रहता है उसमें एक नशा होता है। नशा चढ़ने पर आदमी भाग्य और ईश्वर को भूल जाता है और विनय की आवश्यकता को भी भूल जाता है। यों कहिये कि जान-बूझकर भाग्य से अपना मुंह फेर लेता है। तब उसे सहयोग न मिले तो उसमें विस्मय ही क्या है?

ऊपर के शब्दों में आप कृपया श्रम की अवज्ञा न देखें उसके साथ अश्रम के महत्व को भी पहिचानें। अश्रम का आशय श्रम का अभाव नहीं वस्तुत्व का क्षय है। 'मैं यह कर रहा हूं मैं वह करने वाला हूं मैं यह सब कुछ करके छोड़ूंगा' आदि-आदि अहंकारों से किया गया श्रम यदि सिद्धि और सफलता न लाये बल्कि थकन और क्लेश उपजाये तो इसमें तनिक भी कोई असंगति नहीं है। पुरुषार्थ का अर्थ मेहनत ही नहीं है सहयोग भी है। अहं के बल पर चलने से यह

सहयोग क्षीण होता है। तब उसको पुरुषार्थ भी क्या कहना?

पुरुषार्थ वह है जो पुरुष को सप्रयास रखे, साथ ही सहयुक्त भी रखे। यह जो सहयोग है सच में पुरुष और भाग्य का ही है। पुरुष अपने अहं से वियुक्त होता है तभी भाग्य से संयुक्त होता है। लोग जब पुरुषार्थ को भाग्य से अलग और विपरीत करते हैं तो कहना चाहिए कि वे पुरुष को ही उसके अर्थ से विलग और विमुख कर देते हैं। पुरुष का अर्थ क्या पशु का ही अर्थ है? बल विक्रम तो पशु में ज्यादा होता है। दौड़ धूप निश्चय ही पशु अधिक करता है। लेकिन यदि पुरुषार्थ पशु चेष्टा के अर्थ से कुछ भिन्न और श्रेष्ठ है तो इस अर्थ में कि वह केवल हाथ पर चलाना नहीं है न क्रिया का वेग और कौशल है बल्कि वह स्नेह और सहयोग भावना है। सूक्ष्म भाषा में कहें तो उसकी अकर्तृत्व भावना है। वासना से पीड़ित होकर पशु में अद्भुत पराक्रम दीख आ सकता है। किन्तु यह पुरुष के लिये ही संभव है कि वह आत्मोत्सर्ग और आत्मविसर्जन में पराक्रम कर दिखाये।

भाग्योदय शब्द में हम इसी सार को पहचानें। भाग्यवादी बनना दूसरी चीज है उसमें हम भाग्य को अपने ऊपर मानते हैं। भाग्य का यह मानना बहुत ओछा और अधूरा होता है। सचमुच ही इस मानने से पुरुषार्थ की हानि होती है। पर भाग्य से अपने को अलग मानने का हम अधिकार ही कहां है? भाग्य के यदि हम आत्मीय बनें तो हमारी उसके साथ लड़ाई ही समाप्त हो जाए। तब भाग्योदय का क्षण हमारे लिए नहीं आता क्योंकि क्षण-क्षण और प्रति-क्षण हम भाग्योदय अनुभव होता है। भाग्य यहां से वहां तक हमारे जीवन को उदित और आलोकित करता है। ऐसा व्यक्ति विरोधी मल्ल या श्रम नहीं करता। उसकी कुछ अपनी आकांक्षा अथवा वासना नहीं रहती। उसका कर्म इसलिए उसे थकाता नहीं अकर्म की प्रेरणा रहने से उसके कर्म में प्रतिक्रिया नहीं होती न बंधन रह जाता है। मानो कर्म उससे भाग्य ही कराता है, इसलिए प्रत्येक कर्म उसके भाग्य को प्रशस्त और विस्तृत ही करता जाता है।

भाग्य के प्रति अभ्यन्तर में अर्पित होकर पुरुष जो भी पुरुषार्थ करता है वह उसे उत्तरोत्तर मुक्त और समग्र ही करता जाता है। भाग्य के प्रति अवज्ञा रखना अपने से बाप के प्रति अवज्ञाशील होने के बराबर है। यह बुद्धि के प्रमाद का ही लक्षण मानना चाहिए। हमारी हस्ती क्या है? आखिर गिनती के कुछ साल हम जीते हैं फिर सदा के लिए मर जाते हैं। चाहे फिर फिर भी पैदा होते हों लेकिन हमारी यह महत्ता तो यहीं-की-यहीं रह जाती है। पर हमारे मर जाने से क्या अस्तित्व कुछ भी घटता है? जगत और इतिहास तो चलता

ही रहता है। तब इससे बड़ी मूढ़ता दूसरी क्या होगी कि हम अपने कतिपय वर्षों के साढ़-तीन हाथ के सीमित अस्तित्व को सब कुछ मान लें और उस कारण बाकी त्रिकाल त्रिलोक को अमान्य ठहरा दें। भाग्य को न मानना इस तरह उस सब कुछ को न मानना है जो सचमुच सीमाहीन भाव से है। हमारे द्वारा सच पूछिये तो उन्य उसी का है और हमारे पुरुषार्थ के भीतर से उसी का निहित अर्थ पूरा हो रहा है। उस भाग्य को प्रशस्त भाव से स्वीकार करने में मैं अपने पुरुषार्थ के परमार्थ को ही स्वीकार करता हूं उस अर्थ को किसी भी अर्थ में और तनिक भी मन्द नहीं करता।

अर्थ हमारा स्वार्थ बन जायगा पुरुषार्थ वह नहीं कहलायेगा अगर भाग्य के परमार्थ से उसे हम नहीं जोड़ सकेंगे। उस स्वार्थ के जो चक्र में हैं वे भाग्योदय की प्रतीक्षा में रहे ही चले जा सकते हैं। क्योंकि जिसके उदय की वे राह देखते हैं वह तो उदित है ही केवल उनकी पीठ उस तरफ है। इस लिए उन्हें मालूम नहीं है कि जिसको वे सामने देख रहे हैं वह भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित है और कमनीय जान पड़ रहा है। इच्छाएं नाना हैं और नाना विधि हैं और वे उसे प्रवृत्त रखती हैं। उस प्रवृत्ति से वह रह रहकर थक आता है और निवृत्ति चाहता है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का चक्र उसको द्वन्द्व में पका मारता है। इस संसार को अभी राग भाव से वह चाहता है कि अगले क्षण उतने ही विराग भाव से वह उसका विनाश चाहता है। पर राग-द्वेष की वासनाओं से अन्त में झुंझलाहट और छटपटाहट ही उसे हाथ आती है। ऐसी अवस्था में उसका यह सच्चा भाग्योदय कहलायेगा अगर वह नत नम्र होकर भाग्य को सिर आंखों लेगा और प्राप्त कर्तव्य में ही अपने पुरुषार्थ की इति मानेगा।

अगस्त ६४

□ □ □

नैतिक राजनीति

कांग्रेस के जमाव का मौका हमारे लिए एक खास मौका है। साल भर बाद यह आता है और उन चन्द दिनों में देश अगले वर्ष भर के लिए अपने राजनीतिक कर्म की दिशा पाता है। कार्य क्रम निश्चित होता है और देश के बाहर चलने वाली राजनीतिक प्रवृत्तियों के प्रति भी रुख स्थिर और प्रगट किया जाता है।

लाखों की तादाद में देश के कोने कोने से लोग वहां जमा होते हैं। बड़ा उत्साह मालूम होता है। संख्या स्वयं उत्साह पैदा करती है और यह राष्ट्रीय समारोह दर्शकों के मन पर एक स्मरणीय दृश्य अंकित कर देता है।

उत्साह तो ठीक ही है लेकिन आत्मालोचन की भी आवश्यकता है। दिशा विचार से मिलती है भावना का उफान ही सिर्फ काम नहीं दे सकता। सहस्रावधि लोगों के एक जगह इकट्ठे होने के कारण ही जो शक्ति गर्मी और जोश उत्पन्न हो जाता है वह अपने आप में स्वराज्य तक हमें नहीं ले जायगा। भीड़ स्वराज्य को नहीं पा सकती। अनुशासन में बंधी हुई विवेकभाव से एकत्रित राष्ट्रीय संस्था ही राष्ट्र को राजनीतिक स्वराज्य तक ले जा सकती है। विवेक आत्मालोचन का नाम है।

हमको आज की अपनी स्थिति और पिछले अपने इतिहास को देखना चाहिए। दोनों की तुलना से आगे के लिए कुछ सबक मिल सकता है। भविष्य बनाना है तो वर्तमान के संकटों को समझना चाहिए और उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

आज कांग्रेस अधिकार प्राप्त संस्था है। हिंदुस्तान के बहुत बड़े भाग में कांग्रेस की वजारत का शासन है। शासन शब्द कहते हिचकना चाहिए क्योंकि शासन का छोर विदेश में है और विदेशी के हाथ में है। स्वराज्य जैसी कोई बात तो अभी है नहीं। फिर भी अपने अन्दरूनी प्रबन्ध का अधिकार बहुत कुछ वजारतों के जरिए कांग्रेस के हाथ में है। कांग्रेस के इतिहास में यह परिच्छेद नया है। इससे पहिले तक उसका काम विदेशी सरकार का विरोध और

मुकाबला था।

इसको समझने के लिए कांग्रेस का इतिहास हमारी आँखों के आगे है। लोगों ने अपने को बलिदान किया कष्ट सहे यातनाएं भुगती। सब कुछ पर संकल्प नहीं छोड़ा। संकल्प था निःस्वार्थ। उसमें छीन झपट की भावना का सवाल नहीं था। कर्त्तव्य के मार्ग पर विपदा झेलते हुए आगे बढ़ते जाने का सवाल हरेक के सामने था। वह पुरस्कार न था दायित्व था।

कर्त्तव्य पालन में से अधिकार की मान्यता आती है। जो दायित्वशील है, वह उतना ही अधिकार-पात्र है। नैतिकता सार्वजनिक अधिकार का मूल है। कर्त्तव्यनिष्ठ लोगों ने अपनी निष्ठा के कारण स्वेच्छापूर्वक कष्ट झेले। असंख्य जनों ने जेल को अपना घर बनाया और यह सब कुछ कांग्रेस के झंडे के नीचे किया गया। उसी का परिणाम हुआ है कि कांग्रेस का बल इतना बढ़ता गया कि विदेशी सरकार को समझौते तक आना पड़ा और अपने शासनाधिकार को जनता के प्रतिनिधियों के साथ तक बांटने को लाचार होना पड़ा।

लेकिन क्या इष्ट पा लिया गया है? क्या स्वराज्य समूचा मिल गया है? क्या हम राष्ट्र की राजनीति विदेश-नीति मुद्रा-नीति और अर्थ-नीति को अपने राष्ट्रीय और भारतीय आदर्श के मुताबिक चलाने को स्वतन्त्र हैं? क्या हमारा बड़े-से-बड़ा आदमी किसी की इच्छा और कानून के नीचे अपराध ही नहीं साबित किया जा सकता? क्या हमारे कांग्रेस के प्रेसीडेण्ट को मिनट भर में जेल के अन्दर बन्द देखने की सम्भावना मिट गई है?

अगर नहीं तो अधिकारों के बांट-बटाव की मनोवृत्ति का क्या मतलब? जैसे काम हो चुका हो और इनाम की लूट का वक्त आ गया हो। आज हम में से बहुतेरे अधिकार की ओर पद का भाग-दौड़ में लगे दीखते हैं। कांग्रेस मानों पद लोलुपों के लिए अखाड़ा है।

अगर हालत यह है, और यह रही तो कांग्रेस का आकार बहुत होने पर भी उसकी भीतरी जीवन-शक्ति नष्ट हो जायगी। शरीर स्थूल मालूम हो लेकिन चैतन्य उसमें नहीं रहेगा। ऐसी हालत में विदेशी शासन की आवश्यकता पुष्ट ही हो सकती है नष्ट नहीं हो सकती। दो लड़ेंगे तो क्या तीसरे का काम न बनेगा?

अत अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने राजनीतिक रूप की छान-बीन करें। तय करें कि अपनी राजनीति को किन मौलिक आधारों पर खड़ा करना है। समूचा पर्यवेक्षण करें और जो अनर्थकारिणी है उस वृत्ति से निर्ममता के साथ अपनी राजनीति को काट कर शुद्ध कर लें।

मेरी प्रतीति है कि जो राजनीति मुख्यता से अधिकार की चेतना पर खड़ी होगी और चलाई जायगी और जिसमें काट-छटाव का वातावरण रहेगा उस राजनीति से भारत जैसे देश का त्राण नहीं है नाश भले हो।

यहां वह राजनीति चाहिए जिसका मूलाधार मानव-जाति है। जो मानव जाति की नैतिक मर्यादाओं को इच्छापूर्वक और संयमपूर्वक अपनी ही मर्यादा स्वीकार करे। जो व्यक्ति में कर्त्तव्य भावना को तनिक भी मन्द न होने दे। जिसकी आंख पुरस्कार की ओर न हो बल्कि जिसमें उद्यतता आपदा के प्रति हो।

पश्चिम का हाल हमारी आंखों के आगे ही है। उनका अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र उसके अब कितना काम आ रहा है? क्या पश्चिमी राष्ट्र हर घड़ी अपने को विस्फोट और ध्वंस के मुंह पर खड़ा हुआ नहीं अनुभव कर रहे हैं? किसको चैन है? कौन एक-दूसरे के भय से बचा हुआ है? हरेक डर रहा है इसी से हरेक डराना चाह रहा है।

उनका वैज्ञानिक राजनीतिक अर्थ-शास्त्र क्या ऐसे आड़े समय उनकी मदद कर पा रहा है? क्या वह संकट की ही भीषण ढलान में मदद नहीं दे रहा? बल्कि कहना होगा स्थिति का संकट उसी की उपज है।

इसलिए विधान के उन वैज्ञानिक और शास्त्रीय मूल्यों से चलने वाली राजनीति भारत का शायद पूरा काम नहीं दे सकेगी। भारतीय राजनीति चाहिए। वह भारतीयता गांव में है। वह सादगी में है। जीवन की नीति सीधी सादी है। उसमें हेर-फेर और चक्कर कहीं नहीं है। भारत की राजनीति में भी पेचीदगियों की जरूरत नहीं है। यंत्र प्रपंच भारत की राजनीति को प्रबल और पुष्ट नहीं बना सकेंगे। यहां की हर नीति-समाज नीति अथवा राजनीति-नैतिक होगी तभी काम देगी। नैतिक से छूटकर कर्म बंधन नहीं काट सकेगा बल्कि उसे कस जकड़ बढ़ायेगा। राजनीतिक कर्म से यदि हम आशा है कि वह देश को बंधन मुक्त करे तो उस कर्म में नैतिकता का प्राण आवश्यक ही है।

अगस्त '३६

■ ■ ■

सच्ची सलाह

लड़ाई के दिनों में उसके जोर और शोर में दूर अणुशक्ति की खोज की जा रही थी। खुद लड़ाई की दृष्टि से भी मानना होगा कि उस वक्त वह सबसे महत्व का काम था।

राजनीति के जोर और जोम से अलग गांधी जी की निगाह के नीचे जो अहिंसा शक्ति की शोध चल रही है दुनिया के वर्तमान और भविष्य के लिहाज से मैं मानता हूं कि वह सबसे भारी काम है। पहले के लेखों में उसी ओर इशारा है। वहां नये युग की सृष्टि हो रही है। सृष्टि चुपचाप होती है ध्वंस शोर करता है।

उस प्रयोग में हमारी श्रद्धा रह सकती है। उस श्रद्धा से बातें कुछ और तरह दीखें तो अचरज नहीं।

विलायत डगमग है। उसकी पतवार मजदूर दल के नेता श्री एटली के हाथ है। अणुशक्ति की भयंकर संभावना से दुनिया को बचाने के लिए अमरीका जाने से पहले एक भाषण में उन्होंने कहा कि स्वराज्य तो (हमारे पास) तैयार ही है बस उसे ले लेने वाला हिन्दुस्तान चाहिए।

जरूरी नहीं कि यह कहने के लिए श्री एटली को झूठा समझा जाय। पर उनके पास जो कुछ भी तैयार हो स्वराज्य के नाम पर कोई हिंदुस्तान उनके पास से वह लेने के लिए आने वाला नहीं है। अब नहीं कभी भी नहीं।

अगस्त ४२ में ब्रिटिश हुकूमत के लिए कांग्रेस ने सलाह दी—'भारत छोड़ दो'। उससे पहले ब्रिटिश सत्ता को यह सलाह गांधी जी ने निजी तौर पर देना शुरू कर ही दिया था। उस सलाह में यह गर्भित था कि हिंदुस्तान छोड़कर आप लोग अपने घर को और अपने को बचाओ। यानी उस सलाह में हिन्दुस्तान के स्वराज्य का ही ख्याल नहीं था ब्रिटेन की भलाई का भी ख्याल था। हिन्दुस्तान को कांग्रेस हिन्दुस्तान को चाहे, गांधी ब्रिटेन को भी चाहना नहीं छोड़ सकते। ब्रिटेन के भले के लिए वह अपने शरीर को कुर्बान करने में नहीं चूकेंगे। यानी सच्चे मन से अगर चाहा जाय तो अमरीका के पास हाथ फैला

कर जाने की जिल्लत से गांधी का हिन्दुस्तान इंगलैण्ड को बचा सकता है।

ऐसी भावना से 'भारत छोड़ो' की बात कहने के बाद अंग्रेजी सल्तनत को क्या यह समझने की गलती करने का मौका है कि हिन्दुस्तान का स्वराज्य उसके पास है? वह दे, और हिन्दुस्तान ले? उसके दिये जो चीज हिन्दुस्तान लेगा, वह हिन्दुस्तान का अपना स्वराज्य तो हो ही नहीं सकता है। हिन्दुस्तान ने यह जान लिया है। ब्रिटेन को भी यह हमेशा के लिए जान रखना चाहिए।

लेकिन फिर क्या होगा? हम चले गये तो क्या हिन्दुस्तान में खून की नदियां ही न बहेंगी?

हां, शायद बहें। लेकिन खून की नदियों की फिक्र करना बहादुर इंगलैण्ड कब से सीखा है? क्या यह कातरता ही उसकी बहादुरी है?

लेकिन हम पर पवित्र कर्तव्य है। हम उस कर्तव्य से मुंह नहीं मोड़ेंगे। सभ्यता की ओर अपने दायित्व को हम यहां रक्षा करनी है।

यह कहने वाले ब्रिटेन को कहना होगा कि इस भयंकर दंभ को अब छोड़ो। पहला अपने प्रति तुम्हारा कर्तव्य है। अपने घर पर भी सभ्यता की रक्षा की जरूरत है। वहां का दायित्व तो सिर्फ तुम्हारा है। जाओ और घर को सँभालो नहीं तो सैलाब आने वाला है और नहीं कहा जा सकता कि क्या हो जायेगा।

ब्रिटेन फसकर भी न समझे तो हैरत है। हालत बदली नहीं है। फासिज्म मिट गया सही। पर इतने पर साम्राज्य और साम्राज्यवाद को सुरक्षित नहीं समझ लेना होगा। चर्चिल ने कहा था कि साम्राज्य को बिखरने के लिए वह मंत्री नहीं बने। साम्राज्य को बिखरना तो होगा। यह काम चर्चिल से नहीं हो सकता था इससे उन्हें वहां से हटना पड़ा। जो इस काम को कर सकेगा वही मंत्री योग्य होगा और मैं कहता हूं कि वही होगा जो इंगलैण्ड को बचाने वाला होगा।

सन् चौदह की और सन् चालीस की लड़ाइयां न होतीं अगर अंग्रेजों का साम्राज्य न होता। न हों अगर वह साम्राज्य न रहे। शब्द से असलियत नहीं बनती, न असलियत मिटती है। कामनवेल्थ शब्द अच्छा हो, पर अंदर अगर मन है तो शब्द वहां तक उसे ढक पायगा। शब्द नहीं मन चाहिए। करने का काम कहने से न होगा।

यह था भाव उस 'भारत छोड़ो' की सलाह का। उसमें प्रेम था सहानुभूति थी और सद्भाव था। वह नारा राष्ट्रीय था तो उससे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय था। असल में वह मानवीय था।

राष्ट्रों की राजनीति की आज की बिसात पेचीदा है। सब से दयनीय स्थिति है इंगलैण्ड की। वह बड़ी ताकत है लेकिन बड़ी नहीं है। अमरीका की बगल

में है तब तक यह है। ऐसी हालत म तो अहमाय दबना चाहिए और समझ
आनी चाहिए। नही तो साम्राज्य उसका उसके गले की फासी हो रहेगा। अपनी
गदन को देखे क्या यह आज भी ऊची उठ सकती है? क्या वह गदन जहा
तहा तरह-तरह क नामो पर दबी हुई और फसी हुई नही है?

श्री एटली को सभ्यता को बचाना है। इसके लिए दुश्मन स आकर उह
मिलना हुआ और रूस के प्रति भी आपसी विश्वास की पुकार करनी हुई। अणु
बम स सभ्यता का खतरा है। उस बम को अपने मे दबोचकर रखना है और
सभ्यता दोनो महाशक्तियो का आपस म मिल जुल रहना जरूरी बताती है। वही
सभ्यता क्या हिन्दुस्तान के बारे म उन्हे कुछ नही बताती?

मैं कहता हू कि वह सभ्यता नही है स्वाथ है। इगलण्ड की परख हिन्दुस्तान
में है। यहा अगर वह सभ्य नही है तो सभ्यता का उसका दावा कही नही
चलेगा। मुह की बात से नही राज के काम से सभ्यता बनेगी और बचेगी।

विलायत म डर है कि हिन्दुस्तान म नफरत पदा हो रही है। डर मुझे भी
है। लेकिन क्या सचमुच माना जाता है कि नफरत बुरी चीज है? क्या फिर
यह चाहा भी जाता है कि नफरत पदा न हो और न बढ़े? ऐसा हो तो ब्रिटन के
लिए दुविधा का अवसर नही है। उसे काम का अपना हिस्सा पूरा कर देना
है। हिन्दुस्तान के भले के लिए इगलिस्तान यहा हकूमत रखना चाहता है यह
बात भी उसे मुह पर नही लानी है। इसका उल्टा असर होना है। उस बात
में सचाई होगी तो हिन्दुस्तान का दिल उसकी गवाही आप देगा। उस अपने
मुह दुहराना नफरत बढ़ाना है।

हिन्दुस्तान का होना वह हो जायगा। लेकिन ब्रिटेन के भले के लिए जरूरी
है कि हाकिम के तौर पर वह जल्दी-से जल्दी हिन्दुस्तान छोड दे। राष्ट्रीय
उद्धतता म 'भारत छोडो' नही कहा गया था। कम-से-कम यह लेखक उस नाते
नही कह रहा है सिफ हृदय रखने के कारण ही उसे यह कहना पड रहा है।
इसमे दर दोनो तरफ मन को बिगाड ही सकती है।

■ ■ ■

सितम्बर '४०

प्रात निर्माण

प्रान्त निर्माण का प्रश्न मुझसे दूर है। मेरी राय उस बारे मे अनिवार्य
नहीं है। इससे वह कुछ सद्धान्तिक-सी हो तो अचरज नहीं।
हिंदुस्तान का आज का प्रान्तीय बटवारा अटल नहीं है। उसमे हेर-फेर
की जरूरत है। सीधी-सी बात जिसके आधार पर प्रान्तो का पुनर्विभाजन हो
सकता है वह है प्रान्त की सीमाओं का भाषानुसार निर्धारित होना।
प्रान्तो की आवश्यकता शासन के सुभीते के लिए है। इसलिए वह विभाजन
भी शुद्ध स्वाभाविक नही हुआ करता। विभाजन अपने आप में ही कृत्रिम है।
असल में भूमि पर खण्ड नही है और यदि कोई अपरिचित व्यक्ति यहां से वहां
तक पैदल घूम जाये तो उसे यह पता नहीं चल सकता कि कब कहां वह एक
प्रान्त से दूसरे प्रात म आ गया। इस तरह प्रान्त विभाजन का काम एक सांस्कृ
तिक कार्यकर्ता अरसक अपने जिम्मे न लेगा।
लेकिन जीवन मे खाने नहीं है और कोई केवल सांस्कृतिक नहीं है। प्रत्यक
व्यक्ति नागरिक है और हो सकता है कि अपनी कर्तव्य-तत्परता के फलस्वरूप
लोकनेता का दायित्व उस पर आ पड़े। तब लोक-जीवन के सभी प्रश्न उसके
सामने आयेंगे और प्रान्तीय सीमाओ के निर्माण का प्रश्न भी उनमे हो ही
सकता है। स्पष्टतः यह प्रश्न राजनीति का है क्योंकि इसका व्यवस्था से सम्बन्ध
है और व्यवस्था सम्बन्धी अर्थात् राजनतिक प्रश्न सीधे किसी सिद्धात से हल
नही होता क्योंकि वह एकमात्र बौद्धिक नहीं होता राग द्वेष की भावनाए उसम
मिली होती हैं। भिन्न भिन्न स्वार्थों के बीच म सामजस्य और सतुलन कायम
रखने का वह प्रश्न होता है इसलिए उन स्वार्थों से अलग जाकर निरपेक्ष रूप से
उसका निपटारा असम्भव है। इसीलिए ऐसे प्रश्नो को बहुमत से हल किया जाता
है। सही और गलत के बीच राज-कारण के क्षेत्र म कोई सैद्धान्तिक रेखा खिंची
नही होती। लोकमत ही उसका निर्णायक है और लोकमत बनने बिगड़ने वाली
चीज है। इसी से शक्ति का हथौड़ा उस पर पड़ता रहता है।
प्रान्त विभाजन म मोटे तौर पर बोलियो के भेद का आधार मान लेना

चाहिए। पर मोटे तौर पर कहने का मतलब यह कि पूरे तौर पर यह नहीं किया जा सकता। बोलिया बन्द कमरो मे नहीं उगती। इससे व आपस में इतनी मिली-जुली होती है कि उन्हें काटकर एक दूसरे के प्रति पराया बनाना लगभग असम्भव काय है। सब सीमाए। और राजनतिक स्पर्धाओ के बावजूद बोलियां और भाषाए परस्पर निकट आती रहती हैं और आपस म आत्मीयता बढ़ाती जाती हैं। साहित्यिक जन यही किया करते हैं। स्नेह को मूत करने मे वे भाषा को अपनी ही सीमाओ के बधन से मुक्त किया करते है। सास्कृतिक विकास की यही प्रक्रिया है और राजनीति उसको नही रोक सकती।

बुन्देलखण्ड के पडोस म भी यदि ब्रज है तो उन दोनो भाषाओ का परस्पर एकी कारण अवश्यभावी है। वह हुआ है हो रहा है और होगा। जो हमारे अखबार नही पढ़ते हैं और हमारे आन्दोलन जिह नही छूते व अब भी अपने सहज सुख दुख की अभिव्यक्ति द्वारा सीमाओ को अस्वीकार करते हैं। एक सीमा रेखा के दायीं और बायी और रहने वाले लोगो म यह बुद्धि हमेशा के लिए पदा नही की जा सकती है कि व आपस म पडोसी नही हैं। राजनतिक विभाजन और उसके आधार पर उपजाया गया स्पर्धा का भाव उहे आपस में लड़ा सकता है पर फिर भी यह लड़ाई स्थाई नही हो सकती और जीवन की सहज आवश्यकता अन्त म उहे मिलाकर ही छोड़गी।

बुदेलखण्ड ब्रज से भिन्न है। यह स्पष्ट भी हो पर ठीक किस रेखा पर वे आपस म एक दूसर से अलग होत है यह खोज निकालने का काम कोई मास्ट तिक कायकर्ता अपने ऊपर नही लगा। क्योकि उनकी भिन्नता से कही अधिक उनकी सामान्यता उनकी अभिन्नता उसके मन म बसी होगी। मरे मन में निश्चय है कि अन्त म उनकी रेखा सच्ची नही होगी और किसी-न किसी प्रकार स्वार्थो के सन्तुलन के निमित्त म वह बनाई जायेगी।

प्रात के बे— की बात जान दीजिये। वहा पृथकता तो कुछ स्थिर सी मालूम होती है। पर उस प्रान्त क सम्वर्ती जिल तहसील और परगने किस आधार पर लिए या छोड़े जायेंगे? समस्या ठीक इसी जगह है और क्योकि ठीक इस जगह सास्कृतिक समाधान काम नही द सकता इसम सिद्ध है कि यह समस्या भी राजनतिक है।

प्रान्तीय चतना यदि प्रबल और व्यापक हो उठे तो सस्कृतिनिष्ठ लोक-कर्मी लोक प्रतिनिधि की हैसियत से प्रात निर्माण क प्रश्न म भाग ल सकता है। पर प्रातीय चतना उत्पन करन म उसका कोई भाग होने का अवसर नही होना चाहिए। क्योकि उस चेतना का ज म स्नेह म स नही होता जो कि आत्मबलि

अर्थात् ऐक्य चाहता है वरन् सूक्ष्म अहंभाव में से होता है जो आत्मरक्षा की भावना को उभारता और दूसरे की पृथकता और सदोषता देखा करता है। यही राजनैतिक वृत्ति का बीज है। मुझे लगता है कि स्वतंत्र प्रान्त निर्माण के प्रश्न का उद्भव उसी भूमि से हुआ होना चाहिए।

यह कहने में राजनीति से बचने का परामर्श नहीं है। केवल यही भाव है कि प्रान्त निर्माण का काम लोक-चेतना को प्रान्तीयता की दिशा में मोड़ने में नहीं बल्कि विग्रह-ग्रस्त स्वार्थों को मिलाने के द्वारा सार्वभौम ब्रिटिश सत्ता को सत्य व्यय बनाने के द्वारा अधिक सुकरता से हो सकेगा। बुन्देलखण्ड में जितनी रियासतें हैं—क्या वे किसी एक को मध्यस्थ मानकर आपस में मिल सकती हैं? ऊपर ब्रिटिश सत्ता की अधीनता में नहीं बल्कि स्वेच्छा से मिल सकती हैं? इतना हो सके तो बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण का तीन चौथाई काम हो गया सम झना चाहिए। उसके बाद शायद ब्रिटिश प्रान्तों के दो चार जिलों की बात रह जायेगी। उन जिलों को मिलाने के लिए रियासतों को भारी त्याग करना पड़ेगा। उन जिलों के नाते ब्रिटिश सत्ता या जो केन्द्रीय सत्ता हो प्रांत पर हावी होने आयगी। क्या उस समय बुन्देलखण्ड की रियासतें इतना त्याग कर सकेंगी या उन जिलों में अपने प्रति उतना आकर्षण पैदा कर सकेंगी?

समूचा प्रश्न बुन्देलखण्ड को अलग करने का नहीं है बल्कि बुन्देलखण्ड को जोड़ने का है। जनता में तो वह अब भी जुड़ा हुआ है। यदि बटा हुआ है तो बड़े स्वार्थों के कारण। इसलिए बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण का प्रश्न उतना लोक चैतन्य को उस दिशा में उद्वेलित करने का नहीं है जितना उन विभक्त और ग्रस्त स्वार्थों में त्यागपूर्वक परस्पर मिलने की भावना पैदा करने का है।

सुनता हूं कि कतिपय रियासतों के सम्मिलित हाईकोर्ट का जो प्रयोग किया गया था वह विशेष सफल नहीं हुआ। ऊपर की सत्ता के सहयोग पर भी वह प्रयोग नाकाम रहा तो यही कहा जा सकता है कि वे रियासतें अभी इतनी एकता के लिए भी तैयार नहीं हैं। फिर उस वर्ग में भी आने से भी इन्कार करने वाली दूसरी कई रियासतें थीं। सम्मिलित प्रान्त निर्माण के लिए सबसे अधिक उन रियासतों में हृदय परिवर्तन की आवश्यकता है।

या फिर ऊपर की ओर से वह सहज किया जा सकता है। पर उसमें प्रच्छन्न संकट है। सरकार ने ही सम्मिलित हाईकोर्ट का प्रयोग लोकहित की दृष्टि से न किया होगा। अर्थात् ऊपर की सुविधा के ख्याल से जो स्वतंत्र प्रान्त-निर्माण होगा उसे लोक सामान्य के हित से कोई सरोकार न होगा। मान लीजिये स्वा धीन भारत में ऊपर से अलग बुन्देलखण्ड प्रान्त बना दिया जाता है। उतने

वे चली जायेंगी ? सिवा
मात्र से क्या आज जो आपसी विग्रह की वृत्तियाँ हैं,
इसके कि ऊपर से समूचे प्रान्त का एक शासक आ जायेगा और क्या होगा ?
सांस्कृतिक कार्यकर्ता को इसमें विशेष तृप्ति न होगी।

सारांश १ प्रान्त निर्माण का प्रश्न उसी हालत [में और उसी हद तक
विचारणीय है जहां तक उसमें वृत्ति मिलने और मिलाने की है।

२ इस दृष्टि से लोक चेतना को प्रान्तीय परिभाषा में बदलना या उभा
रना अनिवार्य नहीं है।

३ बुन्देलखण्ड यदि प्रान्त की दृष्टि से यदि एक नहीं है तो जिन बड़े
स्वार्थों के कारण वह विभक्त है उनको पिघलाना और उन्हें किंचित् त्यागपूर्वक
एक प्रान्त के आदर्श में संगठित करना होगा।

४ जनता में तो समस्त भूखण्ड अविभक्त है और अन्ततः प्रान्त-विभाजन
में नहीं बल्कि प्रान्त-हीनता में जनता की सच्ची सेवा और प्रतिष्ठा है।

५ इस दृष्टि से तमाम विभाजन राजनैतिक कर्म है। और लोक प्रतिनिधि
के तौर पर वह दायित्व के रूप में आ ही जाये तभी व्यक्ति के लिए उसमें
पड़ना श्रेयस्कर है।

६ ऊपर की सत्ता के बल से राजनतिक प्रयोजन जल्दी सधता है। प्रान्त
भी उसी तरह जल्दी बन सकता है। लेकिन उसमें असली लाभ विशेष नहीं है।

८ भाषाएं आपस में दूर और अलग रहना नहीं चाहतीं। भाषा अपनी
बात आगे पहुंचाने के लिए है। इस तरह भाषाओं से आदान प्रदान और समन्वय
अनिवार्य रूप से होता ही जा रहा है और होता ही जायेगा। यह ठीक है कि प्रान्त
विभाजन बोलियों के भेद का अवलंब ले अर्थात् राजनतिक कम सहज विकास
की तात्कालिक मर्यादाओं का आश्रय ले। लेकिन यह इसी में गर्भित है कि वह
विभाजन का मूल्य प्रबल और स्थिर न होगा विकासशील होगा न प्रान्त स्वाग्रही
होने पायेंगे जसे कि कोई जीवित भाषा आग्रही नहीं हो सकती।

८ बुन्देलखण्ड प्रान्त का प्रश्न बुन्देली रियासतों के प्रमुखों के लिए है।
और वे स्वार्थ त्याग के आधार पर ही उधर बढ़ सकते हैं।

९ जन सामान्य के सुखदुख से अलग जाकर इस प्रश्न पर विचार करने
में खतरा है और इस दृष्टि से पत्रों में नहीं प्रतिनिधि परिषदों में क्रियात्मक
धरातल पर उस सम्बन्ध में विचार हो तो हो सकता है।

■ ■ ■

जनवरी ४

राज्य सत्ता और नीति सत्ता

आज के कार्यक्रम का कागज सवेरे ही मुझे मिला तो मालूम हुआ कि मुझे भी यहां बोलना है। तब से मैं असमंजस में हूं। यह असमंजस का ही प्रमाण मानिये कि खड़ा नहीं हो रहा हूं, बैठकर ही बोल रहा हूं। असमंजस का कारण यह कि दो बातें मैं जानता हूं। पहली बात यह कि किसी काम का आदमी न मैं रहा हूं न हूं। और दूसरी बात कि जिस जमात के सामने मुझे अब बोलना है, वह बेहद काम की जमात है। इसलिए अधिकार के नाते नहीं केवल आज्ञा पालन के नाते ही बोल सकता हूं।

मेरी स्थिति दर्शक जैसी है। दर्शक से भी कुछ बदतर कहिये। दर्शक के लिए तो सामने का दृश्य तमाशा हो सकता है, मेरे सामने जो है यह तमाशा बिल्कुल नहीं है। मैं विश्वास रखना चाहता हूं कि आप लोगों की यह जमात होने वाले शहीदों की जमात है। उन लोगों की जमात है जिनके लिए सिर्फ जैसे-तैसे जीते रहने का सवाल नहीं है बल्कि बड़े जीवन का समाज के जीवन का प्रश्न जिनके मन में बेचैनी पैदा करता रहता है। इतनी बेचैनी कि उसी को अपने जीवन-मरण का प्रश्न बनाकर मानो अपनी निजी सुविधा की आहुति देने को तैयार होकर आप यहां आ गये हैं। मानो अपने जीवन को और रक्त को ही अंजलि में लेकर होमने की तैयारी से आप आये हैं।

सर्वोदय के बारे में मुझे लगता रहा है कि नीति का निवेदन और प्रकाशन उसका काम है अधिकतर इतने से उसका सन्तोष हो जाता है। लेकिन आज जो अभी प्रस्ताव पढ़ा गया वह उस सीमा से आगे जाता है और मुझे इसकी खुशी है। कारण, उस भाषा में निवेदन और प्रकाशन पर ही बस नहीं है आग उसकी ध्वनि में चुनौती भी है बल्कि मैं मानना चाहता हूं कि धमकी तक है। और अपनी ओर से मैं इसको सत्य-युक्त अहिंसा के बिल्कुल अनुकूल मानता हूं।

वह अहिंसा जिसमें से मात्र निवेदन मिलता है, संकल्प की चुनौती नहीं मिलती है जल्दी ठंडी पड़ जाती है। तापमान उसमें जैसे आवश्यकता से कम

रहता है। अहिंसा वह भी हो सकती है जिसका तापमान आवश्यकता से अधिक हो और वह ज्यादा गरम हो। ज्यादा ठंडी और ज्यादा गरम दोनों ही अस्वास्थ्य की स्थिति कही जायेंगी। किन्तु स्वास्थ्य की अहिंसा में तापमान यथावश्यक तो होना ही चाहिए।

योरप की पहले की बात है योरप के महाद्वीप का सबसे पश्चिम का देश इंगलैंड है और सबसे पूर्व का रूस और लन्दन से सीधा मैं मास्को गया। करीब योरप के सभी देश बीच में आ जाते हैं। पर अब कौनसा देश आया और चला गया उसकी रेखा का मुझे कुछ पता नहीं चला। लकीरें नहीं दीखीं जो देशों को आपस में बाँटती हैं। लगा ऐसा कि धरती है तो लगातार चला जा रही है और पानी है तो वह भी लगातार है कटा-बँटा नहीं है। आसमान जिसमें से यान चल रहा था वह तो एक है ही। लेकिन धरती पर उतरते ही मालूम हुआ कि स्थिति वह नहीं है। धरती भी देशों में बटी है और सागर-आसमान भी राष्ट्रीय स्वत्वों में बट हुए हैं।

इस तरह प्रश्न पैदा हो जाता है। सूरज के लिए धरती एक ग्रह है। यों भी धरती एक है आसमान और पानी एक हैं। लेकिन यह भी कम सच नहीं है कि देश उस धरती पर अनेक हैं। अर्थात् एक और अनेक की समस्या बन खड़ी होती है।

पहले जो एक थे यानी सबकी एकता के चक्कर में रहते थे वे कवि दार्शनिक आदर्शवादी शान्ति भाग्यमान जाते थे। लेकिन अब विज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है। जीवन की गति बढ़ गई है और आवागमन आलाप-संचार द्रुत और विस्तृत हो गया। स्वप्न था वह अब यथार्थता के पास आता जा रहा है। अब तो राजनेता भी देखने-मानने को विवश हैं कि दुनिया एक है मानव जाति भी एक है। उनका हित परस्पर उलझा नहीं बल्कि अखण्ड है और मिला जुला है। यह सब देखते हैं फिर भी चलना उसपर आसान नहीं होना है।

देश अनेक हैं और अनेकता के कई कारण हैं। कारण ऐतिहासिक हैं भौगोलिक हैं सांस्कृतिक हैं शान्ति-आदि। उस अनेकता को एकदम टाल नहीं दिया जा सकता बल्कि वह विविधता और भिन्नता कीमती भी हो सकती है। अन्ततः प्रश्न यह बनता है कि अनेक देश एक होकर चलें तो कैसे चलें? कैसे उनकी देशनीतियों को चलाया जाय?

मैं मानता हूँ कि अगर एक बार हम स्वीकार कर लेते हैं कि मानव-जाति एक है और उसका हित एक है तो उसमें से यह निर्णय अपने आप प्राप्त हो जाता है कि देश-नीति और मानव-नीति परस्पर विमुख नहीं हो सकती।

अगर विमुख है तो वह देश-नीति विकृत है निरंकुश है। मानव-नीति से बिछुड़ कर चलना चाहती है तो दर असल वह देश-नीति सच्ची देश-नीति भी नहीं है।

इस दृष्टि से यह आवश्यक होता है कि हर देश में ऐसे तत्व हों और वे सक्रिय रहें जो देश की नीति में यदि अस्वास्थ्य आये ज्वर या विकार आये तो उसको पहचानें और मानव-नीति के स्पर्श से और स्वास्थ्य से विकार का समय-समय पर शमन करते रहें। ऐसा तत्व जिस देश में नहीं रह जाता है या नहीं रहने दिया जाता है वह देश विश्व शान्ति के लिए संकट बन सकता है।

लेकिन आज तो एक पूरा दर्शन ही बन खड़ा हुआ है। उस दर्शन ने मानस पर प्रभुता भी हासिल की है। उसका कहना है कि समाज प्रत्यक्ष और मूर्त राज्य में होता है। राज्य ही समाज का प्रतिनिधि है, उसका अन्तःकरण है। या तो वह दर्शन मानता है कि पूरी तरह स्वस्थ समाज को अलग से किसी राजतन्त्र की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। लेकिन कब ऐसा होगा पता नहीं। इस बीच राज्य ही है कि जिससे समाज का संरक्षण होगा। राज्य का नेता माने वही लोक नेता भी होगा ऐसा मानने का परिणाम अवश्यमेव यह होगा कि देश के राज्य की नीति मानव-नीति से स्वतन्त्र हो जायगी। न केवल इतना ही बल्कि मानव नीति के ऊपर राज्य-की नीति अधिपति होकर बैठेगी। वह स्वयं प्रतिष्ठ मूल्य बन जायगी और सावरेन समझी जायेगी।

बहुत से लोग यह समझते हैं कि अगर राज्य सर्वहारा का हो जाता है तो पूंजी और श्रम आदि के विषम सम्बन्धों से बनी समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं और अभीष्ट प्राप्त हो जाता है। दूसरी ओर लोकतन्त्र का नाम चल रहा है, जिसमें चुनाव के जरिये कुछ लोग राजतन्त्र पर जाकर बैठने हैं और राज चलाते हैं। मान लिया जाता है कि यह लोकराज है, अर्थात् राजा का राज नहीं, प्रजा का राज है। चाहे दर्शन मार्क्स का दिया हुआ हो या चाहे सहगमन गांधी विनोबा जैसे ऋषियों से प्राप्त किया जाय। सबमें से यह प्रगट है कि जो राज पूरी तौर पर प्रजा का है, लोकराज है वह तन्त्रग्रस्त नहीं बल्कि तन्त्रमुक्त भी है। वह प्रशासन का नहीं बल्कि अनुशासन का राज्य है। उसका मतलब व्यवस्थाहीन राज नहीं बल्कि व्यवस्था अन्तर्व्यवस्था है लदी हुई व्यवस्था नहीं है।

उससे पहले जो भी व्यवस्था हो उसमें दो पक्ष होते ही हैं। एक राजा का पक्ष दूसरा प्रजा का पक्ष। नाम उस शासनिक प्रशासन का दें या जो चाहे भी दें। शासन का काम आवश्यक होता है तो शासक के नीचे किसी शासित को रहना ही पड़ता है।

ऐसी स्थिति में मुझे लगता है कि उन लोगों की जमात एक अवश्य होनी चाहिए जो युद्ध-नीति से तटस्थ होकर चलना अपना पहला कर्तव्य मानें। मानव नीति, सत्य-नीति धर्म-नीति ही उसके लिए पहली और अन्तिम वस्तु हो, वही उनके लिए प्रमुख और प्रधान हो। ऋषि लोग होने चाहिए जिनको न राजत्व दरकार हो न हक न अधिकार न पद। यानी ऐसे लोग जो दूसरे को सही राह चलाना उतना न चाहें जितना पहले स्वयं सही रहना और चलना चाहें।

ऊपर की बात को समझने के लिए हम गांधीजी के जमाने को याद कर सकते हैं। उस जमाने में गांधीजी और कांग्रेस का जो संबंध रहा उसका अध्ययन बहुत लाभकारी होगा। कांग्रेस के पास राष्ट्र-नीति के अलावा और कोई नीति का भान नहीं था। गांधीजी ने कहा कि राष्ट्र-नीति मानव-नीति के अलावा और कुछ हो नहीं सकती। यानी राष्ट्र के काम में उन्होंने सौ प्रतिशत इस मानव-नीति का प्रवेश किया और इसका एक अभूतपूर्व परिणाम देखने आया। राष्ट्र-कारण और राज-कारण उस मानव-नीति से संयुक्त होकर निर्बल नहीं बने बल्कि प्रबल बने। इतने प्रबल बने कि देश में स्वराज्य आया यानी एक राजनीतिक क्रांति ही सफल हुई। यह बात विदेशों के लोगों की समझ में नहीं आई। और आज जैसे हमें स्वयं उस पर विस्मय ही नहीं संशय भी होने लगता है।

अभी यात्रा पर रूस जाना हुआ था तो कुछ लोगों से मालूम हुआ कि हम राजनीति जानते नहीं हैं अगर ये समझते हैं कि गांधीजी ने भारत को स्वराज्य दिलाया। वह इस बात को हमारा भ्रम मानते थे। तो मैंने कहा कि सत्य बात आप बताइये। और उन्होंने बताया कि यह रूसी क्रांति थी जिसने भारत को स्वराज दिलाया!

उनमें एक बन्धु बहुत योग्य थे। उन्होंने सुनाया कि वे बेहद बेकार युवक थे। लेकिन जब क्रांति की लहर आयी तो मानो सुलग कर वे चिनगारी बन गये। उस क्रांति ने देश जो सोया पड़ा था उसको ऐसा जगाया कि वह हुंकार ले उठा। मैंने कहा कि आपके साथ यह घटना घटित हुई। मैं भी भुक्तभोगी हूं और मेरे साथ भी ऐसी ही घटना घटित हुई। आपके साथ यह विचार रहा होगा कि दूसरा कोई हाथ उठायेगा कि उसको पहले ही आप खतम कर देंगे या क्रांति के बाद शासन हाथ में ले लेंगे। लेकिन गांधीजी के अनुयायियों को ऐसा कोई सहारा नहीं था। फिर भी उनके उदाहरण और प्ररणा से लोग अपनी जान को हथेली पर लेकर आगे आये जेल गये और किसी कुर्बानी से पीछे नहीं हटे। क्या आप स्वयं नहीं मानते कि धर्म कुर्बानी का आता है? पर उन्हें विश्वास

न आता था।

उस समय क्या देखने में आया था? देखने में यह आया था कि गांधीजी के द्वारा मिले अन्तःकरण में जागरण में से लोगों को अपना धन खुद हराम मालूम होने लगा था। वे अपनी सुख-सुविधा को खुशी से उजाड़ने आगे आ रहे थे। आज हृदय उलट गया लगता है। स्वार्थ की आहुति के लिए नहीं, बल्कि उसकी पूर्ति के लिए ही अब लोग सामने आते हैं। यह सब इसलिए कि राजनीति मानव-नीति से पिछड़ गई है, बिछुड़ गई है। ऐसा होगा तो राजनीति स्वार्थनीति बनकर संकट के सिवा और किसकी सृष्टि कर सकती?

आज इस प्रस्ताव से गांधीजी के युग का स्मरण हो आता है। लगता है कि वह युग ही न आ गया हो! आज की राजव्यवस्था में हम तरह-तरह से विवश हैं—जैसे यही कि चीनी नहीं मिल रही है, गुड़ का भी संकट है। दुष्ट हो कि साधु, कोई राज्यव्यवस्था से अछूता नहीं रहता। राज की व्यापक व्यवस्था है और वह सबको छूती है। यदि जहां दुःख है वहां सुख पहुंचाना हो तो वह काम किसी धर्म-नीति अथवा मानव-नीति को सर्वथा राजनीति से निरपेक्ष रख कर कैसे हो पायगा? मैं मानता हूं कि मानव-नीति अथवा मानस नीति को अधिकार नहीं है कि वह राज की नीति से उदासीन बनी रहे। मानव नीति ही अगर अपनी जगह पर सक्रिय बलवान बनेगी तो राजनीति के दोषों को दबा सकेगी। दरअसल मुक्ति के जिस प्रयास से अन्याय या शोषण डरता नहीं है वह मुक्ति का प्रयास ही नहीं है। वह अध्यात्म भी नहीं है। जिस अहिंसा से हिंसा डर नहीं वह अहिंसा कैसी?

मुझे आज एक घटना से परम सतोष प्राप्त हुआ है। विनोबा ने एक दिन पहले इसी मंच से पंडित नेहरू की प्रशंसा की थी। कहा था कि वे शांति के सच्चे सैनिक ही नहीं हैं सेनानी भी हैं। यह बात गहरी सचाई और गहरे विश्वास से कही गई थी। दूसरे दिन इस प्रस्ताव में ही विषय को लेकर उन्होंने कहा कि 'डिफेन्स आफ इंडिया' के नाम से जो रहा है वह आफेन्स अगेंस्ट इंडिया है। दोनों बातें जवाहरलालजी पर आती हैं। और दोनों ही बल के साथ और विश्वास के साथ कही गई हैं। यही मैं अहिंसा का सत्य के साथ मेल देखता हूं। यह अहिंसा है कि जवाहरलालजी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की जाती है। लेकिन यह सत्य है कि उसी दृढ़ता के साथ उस नीति की भर्त्सना की जाती है जिसका अन्तिम दायित्व जवाहरलालजी पर आता है। सत्य और अहिंसा के इस संगम की घटना से सचमुच आगे के लिए आशा बंधती है विश्वास प्राप्त होता है।

आपके सामने गुड़-खांडसारी का प्रश्न है। इस संबंध में जो बोना है वह

ग्रामोद्योग की नीति पर उसकी बुनियाद पर ही प्रहार है। ग्रामोद्योग का कमीशन सरकार ने बनाया है। सरकार रुपया देती है उस काम में पूरा सहयोग करती है। अभी श्रीमन्नारायणजी ने आपको बताया है कि ग्रामोद्योगों की उन्नति में ही नहीं पंचायतों द्वारा जो ग्राम-स्वराज्य लाने की कल्पना है उसमें भी सरकार पूरा योग देना चाहती है। फिर ये दोनों बातें एक साथ कैसे चलती कैसे चल सकती हैं ?

सरकार ने कुछ लोगों को पकड़ा भी है और जेल भेजा है। उन्हें अपराधी और दुराचारी मान कर नहीं पकड़ा है तो क्यों पकड़ा है ? सरकार की एक अपनी नीति होती है और वह देश-नीति को दृष्टि में रखते हुए बनती है। तो उन्होंने उस सरकारी नीति का भंग किया है देश हित के खिलाफ काम किया है इस लिए उस अपराध में उन्हें पकड़ा गया है। डिफेंस आफ इंडिया का कानून तो देश की रक्षा के ही लिए तो है।

अब सवाल है यह कि सरकारी लिहाज से देशहित किसमें है ? तो उस हिसाब से देशहित है उद्योग बढ़ाने में। उद्योग नहीं बढ़ेगा तो देश आगे नहीं बढ़ेगा इत्यादि इत्यादि। इसमें से नीति 'प्रोटेक्शन फॉर बिग इंडस्ट्रीज' की निकली। उसके लिए जरूरी हो जाता है कि गन्ने की उपज का बड़ा हिस्सा कानूनन मिलों को पहुंचाया जाय और गुड़ बनाने-खुद वाले पर बन्दिश आन दी जाय।

इस तरह आप देखिये कि दो नीतियां बन जाती हैं। सर्वोदय प्रश्न को जिस रूप में देखता है उससे नीति प्रोटेक्शन अगेन्स्ट बिग इंडस्ट्रीज की बनती है। यह 'फॉर' और 'अगेन्स्ट' की दो विमुख नीतियां ही सामने आ जाती हैं। केवल 'गुड़-खांडसारी' के मामले में नहीं समूची अर्थ व्यवस्था और व्यवसाय उद्योग आदि के बारे में दो नीतियां हो जाती हैं। आपकी इस जमात की एक नीति है जिसमें आप लोक की तरफ चलना चाहते हैं। दूसरी नीति वह है कि जिसमें तन्त्र की तरफ चला जाता है। इस तरह लोक और तन्त्र के बीच कोई सम्बन्ध नहीं रहता पूरा तलाक हो जाता है। इस विमुखता और विपरीतता को कोई भूलता है तो मैं समझता हूं कि वह जबर्दस्ती ही उसे भूलना चाहता है अन्यथा बात बहुत उजागर है।

मैं मानता हूं कि संघर्ष कभी जीवन का धर्म नहीं होना। लेकिन सत्य और असत्य के बीच समन्वय भी कभी नहीं हो सकता। अर्थात् समन्वय से आगे हम अहीं महा-समन्वय की तरफ न बढ़ने की सोचें। ब्राह्मण के आगे 'महा' जोड़ कर जब महाब्राह्मण बना लिया जाता है तो आप जानते हैं कि उसका क्या अर्थ

बन जाता है ! इसी तरह समझ लीजिए कि महा-समन्वय से क्या चीज हो जायेगी ! प्राप्त धर्म के रूप में संघर्ष आये ही तो उसे महा-समन्वय से टालना मानो पसीने को कीचड़ से पोंछने जैसा हो जायगा। तब समझ लेना चाहिए कि उसके पीछे की अहिंसा अवसरवादी अहिंसा रह गई है। सत्यवादी अहिंसा के लिए अवसरवादी बनने का कोई अवसर नहीं रह जाता है।

कम्यूनिज्म सिद्धांत की ओर अपने आप में क्या बुरी चीज है ? श्रमिकों के हाथ में प्रभुता हो तो क्या अनिष्ट है ? अनिष्ट उसमें है तो यह कि हिंसा को प्रतिष्ठा दे दी जाती है। परिणामतः साम्यवाद के नाम पर एक राज्यवाद उठ खड़ा होता है। परन्तु लोकतन्त्र के नाम पर भी वैसा ही राज्यवाद उठ खड़ा होने लग जाय तो क्या हो ? मुझे लगता है कि राज्यवाद में से ही जो त्राण देखा जा रहा है सो एक बड़ी दुर्घटना है। जैसे राजनीति ही समूची नीति और अंतिम मूल्य हो और उसके लिए कोई ऊपर अंकुश ही न हो ! बड़े दुर्भाग्य की बात होगी अगर राज्यवाद को पनपने दिया जायेगा। इससे ऐसा लगता है कि शांति का प्रण लेकर चलने वाले लोगों के हाथ में शांति नहीं है बल्कि वह उन हाथों में है जो एटम बम बना रहे हैं। ऐसा विभ्रम पैदा हो गया है कि रूस और अमेरिका के नेता और राजनेता चाहेंगे तो युद्ध होगा और वे चाहेंगे तो शान्ति होगी। लोग आशा करने लगते हैं कि यह कान्फ्रेंस हो जाय तो काम ठीक हो जायगा, वह प्रस्ताव हो जाय तो बात सम्हल जायेगी। लेकिन मैं मानता हूं कि राज प्रतिनिधियों की कान्फ्रेंस स्वतन्त्र रूप से कुछ कर नहीं सकती। लोक मानस की तैयारी और तज्जन्य विवशता में से ही वे कुछ कर पाती है। कान्फ्रेंस तो हुई भी है, हो रही है और होगी भी। लेकिन हम सब लोग जिम्मेदारी न उठायें तो बेचारी वे कान्फ्रेंसें हमारे लिए कुछ विशेष नहीं कर सकतीं।

दैनंदिन की जिम्मेदारी से अलग आजकल एक नया रोमांसवाद शहीदवाद भी चला है। कहते हैं चलो भाई नेफा में मर जायेंगे ! मैं मानता हूं कि बड़ी बात है यह शहीद होना। लेकिन जिन्दगी भर शहीद रहना और भी बड़ी बात हो सकती है। अगर लाखों करोड़ों शहादत की तमन्ना में जाग जायें तो सच जानिए कि लद्दाख और नेफा के मोर्चे खड़े ही न हो पायेंगे। जो शांति नेफा और लद्दाख में मरने जाकर करने वाले हैं वह यहां से ही आप आसानी से कर सकेंगे। रोग तो यह है कि हम जान-माल के मोह में रहते हैं रक्षा जैसे उनकी करना चाहते हैं। वह सब विसर्जन करने की तैयारी हमारे नित्यप्रति के जीवन में जिस रोज दीखेगी उस रोज राजनीति भी शस्त्रास्त्र बनाने और युद्ध में लोगों को झोंकने की मजबूरी से मुक्त हो जायेगी।

इस सन्दर्भ मे गांधीजी की याद आती है। स्वराज के युद्ध की कमान उनके हाथ में थी। गांधीजी इजाजत देते थे तब कोई सत्याग्रही बनता था। कांग्रेस का अध्यक्ष एक तरफ और गांधीजी एक तरफ। उस समय गांधीजी से कहा गया कि तुम स्वराज लाना चाहते हो उसके लिए कार्यक्रम देते हो, तो पहले उस स्वराज्य की शकल तो बताओ। लोग कहते-कहते हार गये पर गांधीजी ने उसकी शक्ल कोई नही बताई और स्वराज्य मिल भी गया। लोगो ने बहुत कहा तो तब एक समिति बन गई थी और उसने एक विधान भी तयार किया था। वह विधान न तब पूछा गया न अब किसी को उसकी याद होगी। मुझ थोडा अजीब-सा लगता है कि वह जमात जो नीति और कार्य की दृष्टि से गांधीजी का उत्तराधिकार पा गई है, जिसमे कि सारी रचनात्मक सस्थाए समूह के रूप मे एकत्रित हो गई हैं वहा भी सोशलिज्म जैसे शब्दों का व्यूह चल जाता है। कांग्रेस मे बसे शब्दो को लेकर उत्साह और व्यस्तता हो तो एक बात है। लेकिन तथ्य से विहीन जो शब्द केवल तन्त्र के हैं उन शब्दो को सिर चढ़ने देना कोई बुद्धिमानी तो नही है।

सरकार की तरफ से जो किया जा रहा है जनता के हित मे किया जा रहा है, उसके सम्मान मे किया जा रहा है जो हो रहा है लोकहित मे हो रहा है। उस सबकी तर्क-सगति प्लानिंग की रिपोर्ट मे पाई जा सकती है। आपको ऐसा जवाब अन्यत्र नही मिलेगा। खेत मे लोग वह पैदा नही करते जो खाने मे काम आ सकता है। चीज वह पैदा की जाती है जिससे विदेशी मुद्रा मिल सकती है। उगायेंगे वह जो पैसा लाय और पैसे से लायेंगे वह जो फिर खाया जाय। इस तरह एक लम्बा चौडा चक्कर चल रहा है। दौलत भी बढ़ रही है साथ भूख और बेकारी भी बढ़ रही है। मेरा अपना ख्याल है कि यह सब इसलिए कि शब्दों की उलझन मे हमारा दिमाग आसानी से फस जाता है, ऐसा कि तन्त्र की बातों मे लो जान को हम तयार हो जाते हैं। मैं मानता हू कि 'डेमोक्रेटिक' या 'सोशलिस्टिक' जैसे शब्द सिर्फ तन्त्रात्मक हैं सर्वोदय तथ्यात्मक है। और मुझे लगता है कि जितना हम तन्त्र की बातों से मुक्ति पायेंगे उतना ही तथ्य की बातो की ओर आगे बढ़ सकेंगे। राजनीतिक शब्दावली लोगों के सिर पर चढ़ जाती है और भूख-प्यास भूलकर दिमाग विवादो के झगड़ों में फस जाता है। उससे हम बचना चाहिए।

चौखट की बात पीछे भी हो सकती है या नही भी हो सकती। मुख्य तो वह है जिसके लिए चौखटा है। अर्थात् वे मानव-सबध जिससे समाज का बसे-

पर बनता है उस पर फिर छत्र क्या खड़ा होता है चौखटा क्या उस पर जमाया जाता है, यह बात उतने महत्व की नहीं है।

मुझे आशा करनी चाहिए कि नीचे से उस यथार्थ और नैतिक शक्ति को पैदा करने की ओर ध्यान जायगा जिससे राजनीति की निरकुंशता और उसका प्रमाद कटे और राज्य-सत्ता से ऊपर एक नीति सत्ता का निर्माण हो।

दिसम्बर '६३

सर्वोदय सम्मेलन रामपुर के अवसर पर दिया गया भाषण।

निर्माण और सृष्टि

'योजना' शब्द को लेकर मुझे दो चरित्र याद आते हैं। उन दोनों की याद से प्रश्न उठता है कि योजना और सृजन का आपस में क्या सम्बन्ध है?

पड़ोस में एक बन्धु थे। उनका हाल ही देहान्त हुआ है। देहान्त के समय मैं पास उपस्थित था। मृत्यु उनकी सुखपूर्वक नहीं हुई। वह अपने बारे में अविश्वस्त थे। अपने को विफल और अकृतार्थ मानते थे। सोचते थे कि नया जीवन शुरू करने को मिले तो वह नए तरीके से जीएं। जिस तरह उनका जीवन गया और बीता उसमें मुख्य को उन्होंने गौण और गौण को मुख्य मान लिया था। यह भूल अन्त समय में उनको बहुत ही चुभ रही थी। भौतिक सुख सुविधा उनके आस-पास भरपूर था। परिवार भी भरा-पूरा ही था। सामाजिक मान प्रतिष्ठा भी थी। लेकिन यह सब उन्हें निस्सार जान पड़ता था और तनिक आश्वासन न दे पाता था। बल्कि उल्टे उस कारण उनको लगता था कि उनके सगे-सम्बन्धी अन्त समय में उनके स्वयं के बारे में चिन्तित नहीं हैं, बल्कि उनकी निगाह उनके पीछे यहीं छूट रहने वाली धन-सम्पदा पर जमी है। उनको साफ दीखता था कि जो उनकी सेवा की जा रही है सब औपचारिक है। मन किसी का उसमें नहीं है सबका उनकी जायदाद में है।

यह बन्धु साधारण स्थिति से अपने बाहुबल और बुद्धि-बल से खासा सम्पत्तिशाली बने थे। योजनानुसार उनका जीवन चला। परिणाम यह था कि सारा मोहल्ला उन्हीं का अपना था। पन्द्रह से बीस हजार तक की मासिक आमदनी उसकी होगी। प्रत्येक निर्माण उन्होंने योजनापूर्वक किया था और जहां पूंजी लगाई वहीं उन्हें वह दुगना लाभ दे गई थी।

इन बन्धु के जीवन में योजना की कमी नहीं थी। फिर भी अवश्य कहीं न-कहीं कुछ त्रुटि रह गई थी जो अन्त समय में उन्हें सालती थी और मृत्यु में उन्हें सान्त्वना नहीं पहुंचा पाती थी।

क्या यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने जीवन में निर्माण तो बहुत किया था पर उसका रूप सृजन का नहीं था? सृजन में मानो अपने को बाहर

दूसरो के साथ बांटा जाता है। निर्माण मे अपने को बाहर सरक्षित और
प्रतिष्ठित किया जाता है। निर्माण बुद्धिपूवक बनाई गई योजना के अनुसार
होता है सृष्टि म बुद्धि की तो आवश्यकता होती ही है किन्तु उसके लिए
अन्त स्फूर्ति भी अनिवाय होती है। स्फूर्ति के द्वारा यह निर्माण व्यक्ति के
ह मम से जुड जाता है इसलिए वह स्वय व्यक्ति से अलग नही होता और उस
पर दबाव नही लाता। सद्भाव और सहृदयता से विहीन केवल बुद्धि के व्यापार
से जो रचना और सफलता खडी की जाती है वह व्यक्ति से स्वत त्र हो जाती
है। बल्कि व्यक्ति को पीछे दबाने तक लग जाती है। इसीलिए बहुधा देखा
जाता ह कि सम्पत्ति को लेकर बाप-बेटो और भाई भाइयों मे प्रीति की जगह
घर होन लगता है। यहां तक कि वे दूसरे के खून के प्यासे हो जाते है।

दूसरे थे एक परम बुद्धिशाली विद्वान् मित्र। शुरू से पढने म तेज रह।
एम० ए० तक सब परीक्षाओ म प्रथम आये थे और विद्या म उनको इतनी रुचि
थी कि किसी आई० सी० एस वगरह की परीक्षा तक मे नही बठ। उन्हें
विद्वान् होना था और ऊचे प्रोफसर का यश पाना था। ऊचा साहित्य पढते थे
और डायरी लिखते थे। एम० ए० करते ही उन्हें यूनिवर्सिटी म अध्यापन का
काम मिल गया था। किन्तु उन्हे कम्ब्रिज जाना था और शिखर तक पहुचना
था। उनकी योजना सुनिश्चित थी। उनका विषय अग्रजी था और ३७ ३८ नही
तो चालीस वष की अवस्था तक अटल था कि भारतवष मे अग्रजी भाषा के
चमत्कार म वह सर्वोपरि दिखाई दगे। मेरा उनका परिचय यहा कालेज म अग्रजी
के वह अध्यक्ष बने तब हुआ था। जीवन क सम्ब ध मे उनके पास सब नक्शा
लिखा लिखाया था योजनाए सुसम्पूर्ण थी। मन म निणय था कि बाधा कोई
बीच म आयेगी तो गिर कर रहेगी उनकी सफलता को कोई रोक नही सकेगा।
मेरा जब परिचय हुआ तो देखा कि उनकी वाणी मे अमित वेग है जीवन मे
भी उतनी ही त्वरा है। परिणाम यह हुआ कि शायद छ महीने तो वे कालेज
मे टिके। उसमे अधिक निभना सम्भव नही हुआ। मुझ पता लगता रहा कि
वह इस कालेज से उस कालेज गये है और फिर कही तीसरी जगह वह प्रिसि
पल बन गये है। यह जल्दी-जल्दी उनके स्थान का बदलना उनके वेग और
अपने सम्ब ध की अटल निश्चयता के कारण होता था। वह जो जानते थे
निश्चित जानते थे और दूसरे से अधिक जानते थे। प्रोफसर थे तो उनकी प्रिसि
पल से तन आती थी प्रिसिपल थे तो कमेटी से अनबन हो जाती थी। घर
का हाल यह था कि पत्नी से बनती नही थी। कभी-कभी आती थीं अधिकाश
वह मायके ही रहा करती थी। लेकिन उस कारण उनके प्रतिभाशाली पति

का घर सूना नहीं रहता था। प्रतिभा के चमत्कार से घर चमचमाता ही दिखाई देता था।

अब वह मित्र नहीं हैं। चालीस वय की अवस्था उनको मिल पाई कि नहीं मैं कह नहीं सकता। इतना जरूर सुना गया कि अन्त समय एक बरस से वह बेकार थे। कोई विश्वविद्यालय उन्हें लेने को तैयार न था। अपने सम्बन्ध में जितने विश्वस्त हुआ करते थे होश-ज्ञाते इधर आकर उतने ही अविश्वासी होने लग गये थे। हर किसी से उन्हें चिढ़ होती थी। बीमारी में परिचारक और सेवक पर ही टनने लग जाते थे। आखिर जो मृत्यु उन्होंने पाई भगवान किसी को न दे।

उदाहरण और भी मन में आते हैं। पर यह दो बहुत उजागर मालूम होते हैं। उजागर यह दिखाने के लिए कि बुद्धि द्वारा योजनाओं का जो निर्माण होता है जीवन की कृतार्थता के लिए उससे कुछ अतिरिक्त की आवश्यकता होती है।

आज देश को स्वराज्य मिले पन्द्रह से ऊपर वर्ष हो गये हैं। इसमें दो पंचवर्षीय योजनाएं आई हैं और तीसरी अब चल रही है। योजनाओं का निर्माण भरपूर चिन्तन के साथ हुआ है और पूरी तत्परता से उनका पालन और फलन किया जा रहा है। कहीं थोड़ी बहुत त्रुटियां रही हों तो उनका होना तो अनिवार्य ही है। बड़े-बड़े कामों में इतनी चूक की गुंजाइश माननी ही चाहिए। आखिर आदमी आदमी है और सौ फीसदी मशीन नहीं है। मशीन पर जिस तरह निर्भर किया जा सकता है वैसे आदमी पर नहीं किया जा सकता। वह विश्वसनीय लोहे फौलाद का बना नहीं होता हाड़ मांस का बना होता है। इसलिए जहां आदमी रहेगा वहां थोड़ी-बहुत भूल-चूक होनी तो लाजमी है। उसके अलावा योजनाओं का काम शान से पूरा हो रहा है।

पर देखते हैं कि दिक्कत भी है। दिक्कत न होती तो कामराज योजना क्यों आती? अच्छे खासे अनुभवी और सफल और परायण और कमठ और तपस्वी नेता मन्त्री की कुर्सी छोड़कर बाहर क्यों आते? और तो और पण्डित नेहरू ने स्वयं चाहा कि प्रधान मन्त्री का काम छोड़ कर उससे जरूरी दूसरे काम में लगें। इन मन्त्रियों ने हुकूमत छोड़ी और उन्हें यह जिम्मेदारी का पद छोड़ने दिया गया तो आखिर इसीलिए न कि कोई बड़ी दिक्कत सामने आगई होगी। मन्त्री से बड़ा कोई काम करने को होगा जिसकी जिम्मेदारी उनके मजबूत कन्धों पर डालना जरूरी हो गया होगा।

वह बड़ा काम क्या था?

मेरे खयाल में स्वराज्य की गाड़ी में कहीं अन्तःप्रेरणा की कमी अनुभव की जाने लगी थी। प्रेरणा से आदमी चलता है और यह प्रेरणा ऐसी चीज है कि हिसाब के अंकों में नहीं बंधती। योजना से वह बाहर छूट जाती है। माल और सामान तो हम जुटा सकते हैं और धन राशि के अंक उसके प्रतीक हैं। इतने करोड़ रुपया बजट में है तो हम मान लेते हैं कि इतनी सामग्री हमारे पास है। वस्तुओं के उपयोग पर आदमी जीता है और इस तरह तनखाह के हिसाब से हम आदमियों को भी धन के अंकों में बिठा लेते हैं। धन का हिसाब हो गया तो मानो जन का भी हिसाब हो गया। क्योंकि आखिर जन का धन के साथ समीकरण किया जा सकता है। इस तरह बजट बना और बजट की राशि संग्रहीत हो गई तो लगता है कि अब योजना में कहीं कुछ कमी नहीं रह गई है।

लेकिन जो चीज हिसाब में आई नहीं है और आ नहीं सकती वह कम प्रमुख नहीं है। उसकी ओर दुर्लक्ष किसी तरह नहीं किया जा सकता है। और वह है जनस्फूर्ति। लोकमानस में उस प्रेरणा का होना आवश्यक है कि जो उस समस्त धन राशि के साथ न्याय करे। यह प्रेरणा किसी न किसी निर्वैयक्तिक आदर्श के साथ जुड़ी होती है। अगर सबको अपने-अपने स्वार्थ का ध्यान हो तो सार्वजनिक योजना में लगने वाला एक करोड़ रुपया मानो बीच में छीजते-छीजते आधा ही रह जायेगा। हर मोड़ पर तो आखिर आदमी ही आता है। अगर उसके मन में स्वार्थ से ऊंची प्रेरणा न हो तो वह अपनी जगह पर क्या उस बहती हुई राशि में से कुछ अपने लिए खींच और कुतर नहीं लेगा। यही चीज है जिसको भ्रष्टाचार कहा जाता है और स्वराज्य के बाद जिसके उत्पात ने देश की नाव को डगमग कर रक्खा है।

निर्माण स्वार्थ बुद्धि से भी होता है। सृष्टि उससे नहीं हो सकती। इस लिए हम देखते हैं कि सृष्टि की प्रक्रिया से एक छोटा बीज एकान्त सुनसान में पड़ कर अपने आप होते होते विशाल वृक्ष बन जाता है। उस विशालता की योजना कोई पहले से नहीं थी। बीज नन्हा सा था। उसे वृक्ष बनने का पता तक शायद न हो। वह तो अपनी जगह धरती में मुंह गाड़ कर गलता चला गया। उसके इस अपने में गलने और धरती से एकरस होने की प्रक्रिया में से फिर अंकुर फूटा। अंकुर के मूल ने आसपास धरती में से रस सोखा, उसकी खुलती हुई पत्तियों ने बाहर धूप-हवा में से खुराक जुटाई और वृक्ष उठता-बढ़ता ही चला गया। बीज में जो था और उसमें से पनपते हुए अंकुर में जिस मात्रा में संचित हो सकी बाहर से उसी अनुपात में साधन उसके लिए जुटते चले गये

का घर सूना नहीं रहता था। प्रतिभा के चमत्कार से घर चमचमाता ही दिखाई देता था।

अब वह मित्र नहीं हैं। चालीस वय की अवस्था उनको मिल पाई कि नहीं मैं कह नहीं सकता। इतना जरूर सुना गया कि अन्त समय एक बरस से वह बेकार थे। कोई विश्वविद्यालय उन्हें लेने को तयार न था। अपने सम्बन्ध म जितने विश्वस्त हुआ करते थे होते-होते इधर आकर उतने ही अविश्वासी होने लग गये थे। हर किसी से उन्ह चिढ होती थी। बीमारी म परिचारक और सेवक पर ही ठनने लग जाते थे। आखिर जो मृत्यु उन्होंने पाई भगवान किसी को न दे!

उदाहरण और भी मन म आते है। पर यह दो बहुत उजागर मालूम होते हैं। उजागर यह दिखाने के लिए कि बुद्धि द्वारा योजनाओ का जो निर्माण होता है जीवन की कृतार्थता के लिए उससे कुछ अतिरिक्त की आवश्यकता होती है।

आज देश को स्वराज्य मिले पन्द्रह से ऊपर वष हो गये हैं। इसम दो पचवर्षीय योजनाए आई हैं और तीसरी अब चल रही है। योजनाओ का निर्माण भरपूर चिन्तन के साथ हुआ है और पूरी तत्परता से उनका पालन और पलन किया जा रहा है। कहीं थोडी बहुत त्रुटियां रही हो तो उनका होना तो अनिवाय ही है। बड़े-बडे कामा म इतनी चूक की गुजाइश माननी ही चाहिए। आखिर आदमी आदमी है और सौ फीसदी मशीन नहीं है। मशीन पर जिस तरह निभर किया जा सकता है वसे आदमी पर नही किया जा सकता। वह विश्वसनीय लोहे फौलाद का बना नही होता हाड़ मांस का बना होता है। इसलिए जहां आदमी रहेगा वहां थोडी-बहुत भूल-चूक होनी तो लाजमी है। उसके अलावा योजनाओं का काम शान से पूरा हो रहा है।

पर देखते हैं कि दिक्कत भी है। दिक्कत न होती तो कामराज योजना' क्यो आती? अच्छे खासे अनुभवी और सफल और परायण और कमठ और तपस्वी नेता मत्री की कुर्सी छोडकर बाहर क्यों आते? और तो और पण्डित नेहरू ने स्वय चाहा कि प्रधान मत्री का काम छोड कर उससे जरूरी दूसर काम में लगें। इन मन्त्रियों ने हुकूमत छोड़ी और उन्हें वह जिम्मेदारी का पद छोडन दिया गया तो आखिर इसीलिए न कि कोई बडी दिक्कत सामने आगई होगी। मत्री से बडा कोई काम करने को होगा जिसकी जिम्मेदारी उनके मजबूत कधों पर डालना जरूरी हो गया होगा।

वह बडा काम क्या था?

मेरे ख्याल में स्वराज्य की गाड़ी में कहीं अंतःप्रेरणा की कमी अनुभव की जाने लगी थी। प्रेरणा से आदमी चलता है और यह प्रेरणा ऐसी चीज है कि हिसाब के अंकों में नहीं बंधती। योजना से वह बाहर छूट जाती है। माल और सामान को हम जुटा सकते हैं और धन राशि के अंक उसके प्रतीक हैं। इतने करोड़ रुपया बजट में है तो हम मान लेते हैं कि इतनी सामग्री हमारे पास है। वस्तुओं के उपयोग पर आदमी जीता है और इस तरह तनखाह के हिसाब से हम आदमियों को भी धन के अंकों में बिठा लेते हैं। धन का हिसाब हो गया तो मानो जन का भी हिसाब हो गया। क्योंकि आखिर जन का धन के साथ समीकरण किया जा सकता है। इस तरह बजट बना और बजट की राशि संगृहीत हो गई तो लगता है कि अब योजना में कहीं कुछ कमी नहीं रह गई है।

लेकिन जो चीज हिसाब में आई नहीं है, और आ नहीं सकती, वह कम प्रमुख नहीं है। उसकी ओर दुर्लक्ष्य किसी तरह नहीं किया जा सकता है। और वह है जनस्फूर्ति। लोकमानस में उस प्रेरणा का होना आवश्यक है कि जो उस समस्त धन राशि के साथ न्याय करे। यह प्रेरणा किसी न किसी निर्वैयक्तिक आदर्श के साथ जुड़ी होती है। अगर सबको अपने अपने स्वार्थ का ध्यान हो तो सार्वजनिक योजना में लगने वाला एक करोड़ रुपया मानो बीच में छीजते-छीजते आधा ही रह जायेगा। हर मोड़ पर तो आखिर आदमी ही आता है। अगर उसके मन में स्वार्थ से ऊंची प्रेरणा न हो तो वह अपनी जगह पर क्यों उस बहती हुई राशि में से कुछ अपने लिए खींच और कुतर नहीं लेगा। यही चीज है जिसको भ्रष्टाचार कहा जाता है और स्वराज्य के बाद जिसके उत्पात ने देश की नाव को डगमग कर रखा है।

निर्माण स्वार्थ बुद्धि से भी होता है। सृष्टि उससे नहीं हो सकती। इसलिए हम देखते हैं कि सृष्टि की प्रक्रिया से एक छोटा बीज एकांत सुनसान में पड़ कर अपने आप होते होते विशाल वृक्ष बन जाता है। उस विशालता की योजना कोई पहले से नहीं थी। बीज नन्हा सा था। उसे वृक्ष बनने का पता तक शायद न हो। वह तो अपनी जगह धरती में मुरझा कर गलता चला गया। उसने इस अपने में गलने और धरती से एकमेक होने की प्रक्रिया में से फिर अंकुर फूटा। अंकुर के मूल ने आसपास धरती में से [illegible] खुलती हुई पत्तियों ने बाहर धूप-हवा में से खुराक पाई और [illegible] हो चला गया। बीज में जो था और उसमें से पनपते हुए [illegible] में शमित हो सकी बाहर से उसी अनुपात में साधन [illegible]

का घर सूना नहीं रहता था। प्रतिभा के चमत्कार से घर चमचमाता ही दिखाई देता था।

अब वह मित्र नहीं हैं। चालीस वय की अवस्था उनको मिल पाई कि नहीं मैं कह नहीं सकता। इतना जरूर सुना गया कि अन्त समय एक बरस से वह बेकार थे। कोई विश्वविद्यालय उन्हें लेने को तयार न था। अपने सम्बन्ध में जितने विश्वस्त हुआ करते थे होते-होते इधर आकर उतने ही अविश्वासी होने लग गये थे। हर किसी से उन्हें चिढ़ होती थी। बीमारी में परिचारक और सेवक पर ही ठनने लग जाते थे। आखिर जो मृत्यु उन्होंने पाई भगवान किसी को न दे।

उदाहरण और भी मन में आते हैं। पर यह दो बहुत उजागर मालूम होते हैं। उजागर यह दिखाने के लिए कि बुद्धि द्वारा योजनाओं का जो निर्माण होता है जीवन की कृतार्थता के लिए उससे कुछ अतिरिक्त की आवश्यकता होती है।

आज देश को स्वराज्य मिले पन्द्रह से ऊपर वर्ष हो गये हैं। इसमें दो पंचवर्षीय योजनाएं आई हैं और तीसरी अब चल रही है। योजनाओं का निर्माण भरपूर चिन्तन से प्राप्त हुआ है और पूरी तत्परता से उनका पालन और फलन किया जा रहा है। कहीं थोड़ी-बहुत त्रुटियां रही हों तो उनका होना तो अनिवार्य ही है। बड़े-बड़े कामों में इतनी चूक की गुंजाइश माननी ही चाहिए। आखिर आदमी आदमी है और सौ फीसदी मशीन नहीं है। मशीन पर जिस तरह निर्भर किया जा सकता है वैसे आदमी पर नहीं किया जा सकता। वह विश्वसनीय लोहे फौलाद का बना नहीं होता हाड़ मांस का बना होता है। इसलिए जहां आदमी रहेगा वहां थोड़ी-बहुत भूल-चूक होनी तो लाजमी है। उसके अलावा योजनाओं का काम शान से पूरा हो रहा है।

पर देखते हैं कि दिक्कत भी है। दिक्कत न होती तो कामराज योजना क्यों आती? अच्छे खासे अनुभवी और सफल और परायण और कमठ और तपस्वी नेता मंत्री की कुर्सी छोड़कर बाहर क्या आते? और तो और पण्डित नेहरू ने स्वयं चाहा कि प्रधान मंत्री का काम छोड़ कर उससे जरूरी दूसरे काम में लगें। इन मंत्रियों ने हुकूमत छोड़ी और उन्हें वह जिम्मेदारी का पद छोड़ने दिया गया तो आखिर इसीलिए न कि कोई बड़ी दिक्कत सामने आ गई होगी। मंत्री से बड़ा कोई काम करने को होगा जिसकी जिम्मेदारी उनके मजबूत कन्धों पर डालना जरूरी हो गया होगा।

वह बड़ा काम क्या था?

लग पाता । अन्दर उनके कोई दुराव या आपसी द्वष और फूट का भाव नही होता । बल्कि सबका दिल एक होता है और सब एक-दूसरे के लिए अपने को दते रहने की कोशिश म रहते है जिसको भावात्मक एकता कहा जाता है । यह इस अर्जन की जगह विसजन के मूल्य की प्रतिष्ठा देने म से आप ही फलित होती जाती है ।

आज भाषावाद राज्यवाद जातिवाद सम्प्रदायवाद है । धर्मों म धमवाद है । समाज म दलवाद और गुटवाद है । विचार म समाजवाद साम्यवाद गाधीवाद है । वाद ही वाद है । असल में इन सबक नीचे अहवाद है मेरे लिए सब दूसरे हो यह वाद है । मैं सब दूसरा के लिए हू जीवन की यह विधि और यह मत्र माना लुप्त ही हो गया है । गांधी को लेकर गांधीवाद एक अपना अलग अहवाद बन जाता है तो मानों वह गाधी के शव का अपना बनाने के समान हो जाएगा ।

हमारे सब निर्माण हमारी सब रचनाए तब तक देश के स्वराज्य का विस्तार न कर सकेंगी । जन-जन को और ग्राम-ग्राम को आजादी का आस्वाद नही पहुचा सकेंगी जब तक कि उनमें अहम् विसजन और आत्मसजन का तत्व भी मिला न होगा ।

योजना मे और जनता म एकाकारता चाहिए । जन-जन में उसके लिए आकुलता और तत्परता चाहिए । वह जसे उनके मन म से निकलनी चाहिए । यदि ऐसा नही हो पाता है तो परिस्थिति म और माग म बाधा रूप उसके कई कारण होंगे । आवश्यकता है कि उन कारणों मे उतरा जाये और जनता और योजना के बीच यदि और जो व्यवधान हैं उनको पाट कर समाप्त किया जाये ।

अक्टूबर '६३ ▪ ▪ ▪

और बृहदाकार वृक्ष की सृष्टि हो आई। ज्यामिति म से मिलन वाला सही-सही रेखा बद्ध स्वरूप चाहे उसे न मिला लेकिन वृक्ष का सौन्दय अपना ही रहा और सबसे बढ कर जो घटना घटी वह यह कि वह—वह ही बन कर रह गया बल्कि उसने फल भी दिये और उन फलो से अन्या य अनेक वृक्षों के फलित होने की सम्भावना हो आई।

गांधी जी ने देश को हिसाब म न आ सकने वाली इसी अमूल्य वस्तु का दान दिया था। हम खूब काम करते हैं इसलिए कि हमारी खूब कमाई हो। यों अक्सर काम हमसे तृष्णा की प्रेरणा से हुआ करता है। धन की प्रभूत राशि से चलने वाली योजनाएं मानों इस तरह की तृष्णा प्रस्तुत करक आदमी स काम कराती है। उसम व्यक्ति अपना विसजन नहीं देता है बल्कि वहां से अजन लेता है। कहना चाहिए कि वहां से अपने को ही वह पुष्ट करना चाहता है अपने आत्मदान से उस सावजनिक उपलब्धि को पुष्ट करना इतना नहीं चाहता। इस तरह चक्कर उलटा चलने लग जाता है। गांधी जी ने मनुष्य के मन में कुछ वह डाला था जिससे अपने उत्सग की स्फूर्ति उसम जाग आई थी। वह मानने से अधिक मानो देखन लग गया था कि विसजन म ही उसका असली लाभ है। जिसको अजन-उपाजन कहा जाता है वह तो थोथा व्यापार है। आज जो कामराज योजना म दीखता है कि लोगों ने गद्दी छोड़ी और जनता मे काम करने के लिए हाकिम से सेवक बनना स्वीकार किया शायद उसमे कहीं यह भी हो कि काग्रेस मजबूत होगी और फिर चुनाव में आएगी तो उसको सरकार बनाने का उत्तरदायित्व फिर ओढ़ना पड़ेगा। लेकिन गांधी जी न जो देश म नई स्फूर्ति का सचार किया था उसम मानो सत्त को अपनाने का विचार तक कहीं नहीं रह जाता था। मानो स्वय म ही उसका साफल्य था। परिणाम यह हुआ कि देश म अद्भुत प्राणोत्कष दीख आया। सत्तापति और पूजीपति पिछड़ा रह गया। और जो लोग अकिंचन बन कर जेल-फांसी पान के लिए आगे आए व देश की कल्पना और आस्था म बड़े बन रहे। आदमी अपने स्वाथ को लकर स्वय म सकुचित होने लगा और उसको अनुभव हो गया कि परमाथ म अपने को गला देना ही सच्च स्वाथ को साध लेना है। स्वाथ और परमाथ म मानो भेद ही तय न रह गया था। समझ जाने वाले स्वाथ को छोड़ रहने में ही उस आत्मसन्तोष और आत्म-लाभ मिलता मालूम होने लगा था।

यह आत्मदान और आत्म-विसजन की प्ररणा जब आदमी में या कौम में जागती है तो उसका निर्माण ही सृजन बन जाता है। तब व्यक्ति अन्दर से भरपूर होता जाता है और कौ म इस तरह उठती है कि उनम कोई युक्ति नहीं

हैं। यों सपन्न विपन्न की श्रेणियां दो अलग दिखाई दें पर दोनो एक जमीन पर हैं और दोनो अन्योन्याश्रित है। एक की सपन्नता दूसरे की विपन्नता पर निभर है। या यो कहें कि उसकी सपन्नता ही दूसरे को विपन्न रखने का कारण है।

सच्चा समाज दशन यही है। उसे मोडन का अब अवसर नही है। मानव विवेक अब इतना जाग गया है कि वह बड़ छोट अमीर-गरीब क भद को और उसके कारण पदा हुए राग द्वष और द्वद्व क्लेश को किसी पूव जन्म के कम भोग के नाम पर किनारा देने को तयार नही हो सकता। वह पहचान गया है कि यह हमारी करनी है और अपनी ही करनी स हम उस सुधार भी सकत हैं। सपन्नता पुण्य के कारण नही पाप के कारण भी हो सकती है और जो है वह किसी पहल ▮चित के कारण अनिवाय रूप से नही है बल्कि हमारे सब के सहयोग और अनुमोदन से है और हम उसे सुधार सकते है। यानी यदि वहा दोष है तो दोषी हम स्वय हैं और दोष के निवारण के लिए हम फौरन तैयार हो जाना चाहिए। भाग्य पर या भगवान् पर उस टालना नही हो सकता।

इस ढग से सोचने पर नक्शा बदल जाता है यानी जो दीन और दुखी दीख पडते हैं वे ऊपर आ जाते हैं और हम उनके सेवक मात्र रह जात हैं। क्योकि यदि कोई दीन है और दुखी है तो शायद इसीलिए है कि हमने उसकी सुख और उसकी दौलत छीन ली है। छीन ही नही ली है बल्कि समाज के नीति नियम भी ऐसे बना लिए है कि वह पाप हम पुण्य लगने लगा है और उस पर गव तक कर सकते हैं।

यह दशन होते ही हम लगेगा कि हम ऋणी हैं और विपन्न के प्रति हम प्रायश्चित्त करना और इस तरह उससे उऋण होना है।

मुझ प्रतीत होता है कि आज के युग म मानव अपने अधिकारो क प्रति इतना सजग बना दिया गया है कि इसस कम गहरी वृत्ति रखन से सही परिणाम शायद नही आ सकेगा। दूसर क सुधार और उद्धार की मनोवृत्ति आज काम नही दे पायेगी। ऊपर से आकर नीच वाल को यह महसूस होने देकर कि तुम नीचे हो और हम तुम्हे उठान आये हैं सही प्रतिक्रिया नही उत्पन्न की जा सकती। समाज-दशन क प्रतिष्ठापको ने अपने शोध और अन्वेपणा स सब तक यह पहुचा दिया है कि बड़ापन और उच्चापन स्वयसिद्ध वस्तु नही है वह नीच वालो की सहमति पर ही सभव है अन्यथा वह अन्याय और पाखण्ड है।

समाज-कल्याण के काम के लिए इस नए समाज-दशन की प्रतीति और तद नुकूल मनोदशा बहुत जरूरी है। शहरी मनोवृत्ति म लगभग ऐस मनोभाव अनुपस्थित हैं। आज क हमारे सामाजिक और राजनतिक क्षत्र के कायकर्ता पढ़-लिखे

जन-कल्याण

जन-कल्याण का काम ऐसा नही है कि उसको अर्थों के नाप-तौल से पूरा परखा जा सके। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे यह नाप सही होता है। पर इन्सान सिर्फ चीज नही है, उसके अन्दर मन है। इसलिए काम करने वाले के मन का उसके काम के नतीजों पर बहुत असर पड़ता है। आदमी को चीजों की जरूरत होती है और कभी तो यह जरूरत इतनी तीखी हो जाती है कि वह किसी भी मोल उस अभाव को दूर करने को तयार हो जाता है। भूखा रख के ढोर तक को पालतू बनाया जा सकता है। लेकिन असली जन-कल्याण ऊपरी जरूरतों को पूरा करने मात्र से ही पूरा नही हो जाता, बल्कि उतने से तो नुकसान तक हो सकता है। आदमी मे स्वाधीन वृत्ति होनी चाहिए, तब उसकी सूझ-बूझ जागेगी और उसका श्रम उत्पादन ही नही करेगा, बल्कि सजन करेगा। तब उसके काम मे एक ऐसा अतिरिक्त गुण आ मिलेगा जो वस्तु-उत्पादन के साथ स्वतन्त्रता को भी जगाने वाला होगा। तब काम स्वय प्रेरणा से होगा और बढ़ता ही चला जायगा। न उसके लिए किसी ऊपर की देख-रेख की जरूरत होगी, न अतिरिक्त व्यवस्थापक और प्रशासक की।

समाज मे कुछ लोग सपन्न हैं, कुछ विपन्न हैं। अब सपन्न श्रेणी विपन्न के प्रति दया भी कर सकती है। लेकिन ऐसे दया भाव से किया गया उपकार अन्त मे अपकार बना देखा गया है। धन की सहायता दी जाती है और उससे तत्काल सहारा भी बहुत होता है। लेकिन वही सहायता दाता को और ऊचा चढ़ा देता है और दीन मे और दैन्य ला देती है। ऐसे विषमता बढ़ती है और समाज मे जिस आपसी एकता की जरूरत है वह और दुर्लभ हो जाती है।

सच यह है कि जिस समाज मे सपन्न और विपन्न दो श्रेणियाँ हैं वह अपने आप मे तो एक ल्डाई हो है। सपन्न का सपन्न जानकर कोई वर्ग आत्मतुष्ट हो रहे और विपन्न को यतन मे अमग और गर जानकर कृपा के रूप मे उस पर ऊपर से दया शासन का गव करे तो यह भूल ही है। इसमे गहरी नासमझी समाई है इसमे गहरा खतरा भी है। विस्फोट इसी गहर मे से निकलते

राजा और प्रजा

राजा और प्रजा के बीच क्या सम्बन्ध हो, यह आज की राजनीति का गरम सवाल है। क्या दोनों झगड़ते ही रहें? या कि उन दोनों में मेल भी हो सकता है? क्या यह सच है कि प्रजा संघर्ष द्वारा ही राजा से कुछ पा सकती है, दूसरी तरह से कुछ नहीं पा सकती? या कि कुछ दूसरा भी उपाय है?

इतिहास लगभग एक बात कहता है। वह यह कि राजा प्रजा का हित एक नहीं है। वे दो हैं और परस्पर विरोधी हैं। प्रजा के अज्ञान में राजा की शक्ति है, प्रजा की एकता में राजा को भय है। राजत्व की संस्था शुद्ध शोषण है। राजा प्रजा इन शब्दों में ही एक द्वैत और विरोध है। कोई राजा क्यों और दूसरा कोई प्रजाजन क्यों?

पर मुझे नहीं मालूम होता कि राजा को मिटाने की जरूरत है। प्रजा को ही मिटाना हो तो बात दूसरी है। या तो शब्द है प्रजातन्त्र और प्रजासत्तात्मक राजसत्ता। उनसे आशय है समाज की वह हालत जहां खुद प्रजा ही राजा है। इन प्रजा-तन्त्रों के भी फिर तरह-तरह के विधान हैं जिनमें आपस में खासा विवाद है। स्टालिन, हिटलर, मुसोलिनी, चर्चिल और रूजवेल्ट आदि में कोई राजा का बेटा नहीं है। सब जनता में से आये हैं। उन सभी को मौका है कि बताएं कि उनके देशों का तन्त्र देशवासियों का जनतन्त्र ही है। पर हम जानते हैं कि वे देश आपस में मारामारी कर रहे हैं, वहां आग लगी हुई है। इससे साफ है कि जनतन्त्र और प्रजातन्त्र जैसे शब्द धोखा भी दे सकते हैं। वे अपने आप में सच नहीं है। इसी से कहा कि राजा को मिटाने की जरूरत नहीं है क्योंकि प्रजा मिटने वाली नहीं है।

लेकिन उन दोनों के विरोध को तो मिटाना होगा, क्योंकि वह असत्य है। राजा जो इतना नादान है कि अपने को राजा मान कर जरा भी गर्व करता है, मिटेगा ही। इतिहास का प्रवाह उसे नहीं टिकने देगा, क्योंकि वह राजत्व को दायित्व नहीं बपौती मानता है। राजत्व कायम रह सकता है और रहना चाहिए यदि वह शुद्ध दायित्व है। ऐसा न होकर यदि वह व्यक्तिगत अहंकार का पाप

शहरी लोग हैं। वे नैतिक और धार्मिक मनोभावों को अव्यावहारिक भावुकता कहकर टाल सकते हैं पर परिणामों की दृष्टि से जांच की जायगी तो पता चलेगा कि वही वृत्ति आज के लिए वैज्ञानिक है। विद्वान् वस्तु-विज्ञान और समाज विज्ञान इतना आगे बढ़ गया है कि उद्धार और सुधार की भाषा ओछी रह जाती है और वह वैज्ञानिक यथार्थ को व्यक्त नहीं कर पाता।

गांधीजी ने हमें सेवा का शब्द दिया। उस शब्द का सम्बन्ध हृदय से है। किया गया काम सेवा है यदि मन में हमारे वह विनम्रता है। वैसा यदि नहीं है तो सेवा के नाम पर किया गया काम संभव है सामाजिक स्तरों की दूरी को तोड़ता न हो बल्कि और मजबूत करता हो और इस तरह मानसिक दुर्बलता और परवशता का भाव भी उससे घटता न हो।

यानी कार्यकर्त्ता जिनके लिए काम करे उनके समकक्ष हो जाय। समकक्ष तब जब वह उनसे निम्नकक्ष न हो सके। सच यह कि जिनकी सेवा करनी है उनके नीचे ही सेवक का स्थान हो सकता है।

गांधीजी ने कल्पना की थी एक ऐसे ही समाज और सरकार की। वहां सेवक ही शासक होने वाला था। वह शासक नैतिक होता और इसलिए उसमें निर्ममता आने का प्रश्न ही न उठता न उसे दण्डाश्रित बनने की आवश्यकता होती। यह सच्ची क्रांति का मंत्र था और है। और भारत ही वह देश है यहीं के अधिवासियों के रक्त में यह आस्था है कि उस क्रांतिकारी मंत्र को वह कर्म और व्यवहार में उतार सकें। ऐसा हुआ तो हम देखेंगे कि विश्व के सामने हम नई और अभूतपूर्व समाज-व्यवस्था का नमूना रखने में समर्थ हो सके हैं।

अगस्त '५५

■ ■ ■

राजा और प्रजा

राजा और प्रजा के बीच क्या सम्बन्ध हो, यह आज की राजनीति का गरम सवाल है। क्या दोनो झगड़ते ही रहे? या कि उन दोनो में मेल भी हो सकता है? क्या यह सच है कि प्रजा संघर्ष द्वारा ही राजा से कुछ पा सकती है दूसरी तरह से कुछ नही पा सकती? या कि कुछ दूसरा भी उपाय है?

इतिहास लगभग एक बात कहता है। वह यह कि राजा प्रजा का हित एक नही है। वे दो हैं और परस्पर विरोधी है। प्रजा के अज्ञान मे राजा की शक्ति है प्रजा की एकता में राजा को भय है। राजत्व की संस्था शुद्ध शोषण है। राजा प्रजा इन शब्दो मे ही एक द्वैत और विरोध है। कोई राजा क्यो और दूसरा कोई प्रजाजन क्यो?

पर मुझे नहीं मालूम होता कि राजा को मिटाने की जरूरत है। प्रजा को ही मिटाना हो तो बात दूसरी है। यों तो शब्द है प्रजातन्त्र और प्रजा सत्तात्मक राजसत्ता। उनसे आशय है समाज की वह हालत जहा खुद प्रजा ही राजा है। इन प्रजा-तन्त्रो के भी फिर तरह-तरह के विधान है, जिनमे आपस मे खासा विवाद है। स्टालिन हिटलर मुसोलिनी चर्चिल और रूजवेल्ट आदि में कोई राजा का बेटा नही है। सब जनता में से आये हैं। उन सभी को मौका है कि बताए कि उनके देशो का तन्त्र देशवासियो का जनतन्त्र ही है। पर हम जानते हैं कि वे देश आपस में मारामारी कर रहे हैं वहा आग लगी हुई है। इससे साफ है कि जनतन्त्र और प्रजातन्त्र जैसे शब्द धोखा भी दे सकते हैं। व अपने आप में सच नही हैं। इसी से कहा कि राजा को मिटाने की जरूरत नही है क्योकि प्रजा मिटने वाली नही है।

लेकिन उन दोनो के विरोध को तो मिटाना होगा क्योंकि वह असत्य है। राजा जो इतना नादान है कि अपने को राजा मान कर जरा भी गर्व करता है मिटेगा ही। इतिहास का बहाव उसे नही टिकने देगा क्योकि वह राजत्व को दायित्व नही बपौती मानता है। राजत्व कायम रह सकता है और रहना चाहिए, यदि वह शुद्ध दायित्व है। ऐसा न होकर यदि वह व्यक्तिगत अहंकार के पोष

शहरी लोग हैं। वे नैतिक और धार्मिक मनोभावों को अव्यावहारिक भावुकता कहकर टाल सकते हैं पर परिणामों की दृष्टि से जाँच की जायगी, तो पता चलेगा कि वही शक्ति आज के लिए वैज्ञानिक है। किन्तु वस्तु विज्ञान और समाज विज्ञान इतना आगे बढ़ गया है कि उद्धार और सुधार की भाषा ओछी रह जाती है और वह वैज्ञानिक यथार्थ को व्यक्त नहीं कर पाता।

गांधीजी ने हमें सेवा का शब्द दिया। उस शब्द का सम्बन्ध हृदय से है। किया गया काम सेवा है यदि मन में हमारे वह विनम्रता है। वैसा यदि नहीं है तो सेवा के नाम पर किया गया काम सम्भव है सामाजिक स्तरों की दूरी को सोचता न हो बल्कि और मजबूत करता हो और इस तरह मानसिक दुर्बलता और परवशता का भाव भी उससे कटता न हो।

यानी कार्यकर्ता जिनके लिए काम करे उनके समकक्ष हो जाय। समकक्ष तब जब वह उनसे निम्नकक्ष न हो सके। सच यह कि जिनकी सेवा करनी है उनके नीचे ही सेवक का स्थान हो सकता है।

गांधीजी ने कल्पना की थी एक ऐसे ही समाज और सरकार की। वहाँ सेवक ही शासक होने वाला था। वह शासक नैतिक होता और इसलिए उसमें निश्चिन्तता मान का प्रश्न ही न उठता न उसे दण्डशक्ति में धरने की भाव दबता होगी। यह सच्ची क्रांति का मंत्र था और है। और भारत ही वह देश है यहीं के अधिवासियों के रक्त में यह आस्था है कि उस क्रांतिकारी मंत्र को वह कर्म और व्यवहार में उतार सकें। ऐसा हुआ तो हम देखेंगे कि विश्व के सामने हम नई और अभूतपूर्व समाज-व्यवस्था का नमूना रखने में समर्थ हो सके हैं।

■ ■ ■

अगस्त ५५

को पुष्ट करें। यदि वे ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार नहीं करते तो जनता उन्हें सच्चे भाव में राजा किस प्रकार मान सकेगी? उनके राज्य की और उनके नाम की नींव स्थिर हो सकती है तो प्रजा के प्रेम में ही। प्रजा का विश्वास यदि वे सम्पादन करेंगे तो कोई इतिहास उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा प्रजा के विश्वास भाजन बन कर प्रजातन्त्र आयेगा तब भी वे ही उसके अधिपति बनेंगे। भला कभी कल्पना की जा सकती है कि अयोध्या वासियों को चुनाव का अवसर होता तो वे एक स्वर से श्री राम को ही सिंहासन पर न बिठाते? कोई क्रान्ति श्री रामचन्द्र को उनके राजत्व से छुटकारा न दिला सकती। कारण वह पुरुषोत्तम थे। राजापन में उन्हें अनुरक्ति न थी वह तो एकाकी रह कर अधिक प्रसन्न रहते।

मैं मानता हूँ कि राजा को मिटाकर प्रजा को सुखी बनाना चाहने वाली कल्पना राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा में से जन्म लेती है, उसमें विशेष सार नहीं। इसी से मुख्यता से राजनैतिक चेतना और वैसी प्रेरणा से चलाये जाने वाले प्रजा के आन्दोलनों को गांधीजी समर्थन नहीं दे सके। लोगों को वह ठण्डापन मालूम हो सकता है पर वह तो सच्चापन था। आज राजा प्रजा का द्वान्द्विक रिश्ता नहीं मिटाना है। पर उनमें ही ऐक्य लाना है राजा को प्रजा का और प्रजापक्ष के नेताओं को राजा का विश्वास सम्पादन करना है। एक दूसरे को चिढ़ा कर, अपमानित करके उपरान्त रख कर सच्चा लोकहित साधन नहीं हो सकता। राजा को सेवक बनना पड़ेगा, पर वह काम पहले स्वयं लोक नायक सच्चे अर्थों में सेवक बनकर कर सकते हैं। इसी से गांधीजी ने आन्दोलनों और आन्दोलकों को कहा कि ठण्डे बनो और रचनात्मक काम करो। ऊपर से देखने में उन्होंने उन आन्दोलनों की गति को धीमा किया पर सच पूछिये तो उन्होंने उसको गहरा करना चाहा। और सबसे बड़ा लाभ तो इस नीति का यह है कि उससे राजाओं की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। राजाओं पर विश्वास करके और जनता में उस विश्वास भावना को पैदा करके हम नरेशों को मौका देते हैं कि वे उसकी पूर्ति तक उठें। अविश्वास में कोई बड़ा काम कभी नहीं हुआ। शासक लोग मिथ्या अभिमान में अपनी दमनशक्ति पर भरोसा रख कर प्रजापक्ष की अवहेलना करते हैं। तो भी कोई चिन्ता या ध्यान नहीं है। क्योंकि इससे वे स्वयं खोखले बनते हैं। उधर रचनात्मक कार्य से प्रजा में ऐक्य बढ़ता और शक्ति जागती ही है।

हिंसा का सिलसिला योरोप की लड़ाई में हम देख ही रहे हैं। इस लड़ाई के खात्मे के साथ ही सब समाप्त हो जाने वाला नहीं है। पीछे भी हार खाये पक्ष

ग्रमर के लिए है तो कोई शक्ति उसको गिरने से नहीं रोक सकती। सामने होती हुई घटनाएं साफ है। किसी का आत्मतुष्ट होने का दम्भ ठहर नहीं सकता। एक महाचक्र के हम पुरजे हैं मानव जाति के अंग हैं। शेष समस्त जगत से घनिष्ट भाव से हम अनुबद्ध हैं। इतिहास की गति से हम अछूते नहीं। किसी को मौका नहीं है कि समझ ले वह बन्द कोठरी में रह सकता है। इससे यह तो सही है कि हुकूमत होकर कोई राज्य सत्ता कायम नहीं रहेगी। उस सत्ता को सेवा बनना होगा। राजा इसीलिए राजा होगा कि वह सेवक हो, उस दायित्व को भूलेगा तो वह सचेत हो रहे कि राजमुकुट ही उसका अभिशाप हो सकता है। बड़े-बड़े मुकुटधारी आज कहां हैं? कुछ को तो मरना ही इसलिए पड़ा कि वे मुकुटधारी थे। जो कहीं वे सामान्य नागरिक होने या समय रहते अपने को सामान्य नागरिक मान सकते तो उनकी दुर्दशा न होती। राज-दण्ड यदि इसलिए कुछ है तो वह अभिमान की वस्तु नहीं भय की वस्तु है। राजा को इसीलिए विनम्र होना होगा कि वह राजा है। यदि तनिक उसे अभिमान आया तो विधाता के विधान में तो दया जैसी वस्तु है नहीं और अभिमान सदा टूटता है।

अर्थात् वह विचारधारा जो राज्य को मिटाकर प्रजा का कोई एक तन्त्र खड़ा करने की आवाज ऊंची करके बढ़ती है मूल में है। शायद वह एक राजा की जगह दूसरा राजा चाहती है। शायद वह क्या चाहती है, इसी का उसे पता नहीं है। इसलिए कहना होगा कि इस (विग्रह मूलक) परिभाषा में राजनीतिक उन्नति की बात सोचना गर जरूरी है। जहां तन्त्र है वहां नाम प्रजातन्त्र हो, पर बात असल तन्त्र की है। राजा को प्रजीडेन्ट कहने लग जाने से कुछ फर्क नहीं पड़ने वाला है। मुद्दे की बात यह है कि जिसके हाथ में तन्त्र की व्यवस्था आवे वह सेवा भावी हो।

इसीलिए हमारे भारत राष्ट्र की राजनीति में देशी राज्यों में प्रामाणिक रूप से जो प्रजा जागरण के आन्दोलन चले उनमें कहा गया कि हम वर्तमान अधिपति की छत्रछाया में ही अमुक अथवा यथाशक्ति सुधार चाहते हैं।

यही कारण है कि गांधीजी के मुंह से हमेशा राम राज्य की बात निकलती है किसी प्रकार के प्रजा-सत्तात्मक शासन विधान का नाम वह नहीं दोहराते। क्योंकि ये तो दाम हैं और प्रवंचना में डाल सकते हैं, जबकि रामराज्य की भावना वास्तविक है। श्रीराम राजा थे पर प्रभु थे और प्रजा के अनुचर थे।

हमारा पुराना विश्वास है कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। हम उस विश्वास को क्यों खो देना चाहें? हम अपने राजाओं से मांगेंगे कि वे हमारे इस विश्वास

को पुष्ट करें। यदि वे ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार नहीं करते तो जनता उन्हें सच्चे भाव में राजा किस प्रकार मान सकेगी ? उनके राज्य की और उनके नाम की नींव स्थिर हो सकती है तो प्रजा के प्रेम में ही। प्रजा का विश्वास यदि वे सम्पादन करेंगे तो कोई इतिहास उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा प्रजा के विश्वास भाजन बन कर प्रजातन्त्र आयेगा तब भी वे ही उसके अधिपति बनेंगे। क्या कभी कल्पना की जा सकती है कि अयोध्या वासियों को चुनाव का अवसर होता तो वे एक स्वर से श्री राम को ही सिंहासन पर न बिठाते ? कोई शक्ति श्री रामचन्द्र को उनके राजत्व से छुटकारा न दिला सकती। कारण वह पुरुषोत्तम थे। राजापन में उन्हें अनुरक्ति न थी वह तो एकाकी रह कर अधिक प्रसन्न रहते।

मैं मानता हूं कि राजा को मिटाकर प्रजा को खुशहाल बनाना चाहने वाली कल्पना राजनतिक महत्वाकांक्षा में से जन्म लेती है उसमें विशेष सार नहीं। इसी से मुख्यता से राजनतिक चेतना और उसी प्रेरणा से चलाये जाने वाले प्रजा के आन्दोलनों को गांधीजी समर्थन नहीं दे सके। लोगों को वह ठण्डापन मालूम हो सकता है पर वह तो सच्चापन था। आज राजा प्रजा का शाब्दिक द्वित्व नहीं मिटाना है। पर उनमें ही एकय लाना है राजा को प्रजा का और प्रजापक्ष के नेताओं को राजा का विश्वास सम्पादन करना है। एक दूसरे को चिढ़ा कर, अपमानित करके उपेक्षित रख कर सच्चा लोकहित साधन नहीं हो सकता। राजा को सेवक बनना पड़ेगा पर वह काम पहले स्वयं लोकनायक सच्चे अर्थों में सेवक बनकर कर सकते हैं। इसी से गांधीजी ने आन्दोलनों और आन्दोलकों को कहा कि ठण्डे बनो और रचनात्मक काम करो। ऊपर से देखने में उन्होंने उन आन्दोलनों की गति को धीमा किया पर सच पूछिये तो उन्होंने उसको गहरा करना चाहा। और सबसे बड़ा लाभ तो उस नीति का यह है कि उससे राजाओं की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। राजाओं पर विश्वास करके और जनता में उस विश्वास भावना को पैदा करके हम शासकों को मौका देते हैं कि वे उसकी पूर्ति तक उठें। अविश्वास से कोई बड़ा काम कभी नहीं हुआ। शासक लोग मिथ्या अभिमान में अपनी दमनशक्ति पर भरोसा रख कर प्रजापक्ष की अवहेलना करते हैं। तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। क्योंकि इससे वे स्वयं खोखले बनते हैं। उधर रचनात्मक काय से प्रजा में एकय बढ़ता और शक्ति जागती ही है।

हिंसा का दिवाला योरोप की लड़ाई में हम देख ही रहे हैं। इस लड़ाई के खात्मे के साथ ही सब समाप्त हो जाने वाला नहीं है। पीछे भी हार खाये पद

में वैर की चिनगारी सुलगती ही रहेगी। कौन जानता है कि आगे जाकर वह किसी और लड़ाई में नहीं फूटेगी। इससे साफ हो जाना चाहिए कि राजनीति में भी अहिंसा की नीति ही सही तौर पर हमारे झगड़ों का निबटारा कर सकेगी। देशी राज्यों के मामले में तो यह भी साफ है। अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं है बल्कि दुर्दमनीय कष्ट सहिष्णुता है और अहिंसा की शर्त पर ही सत्याग्रह होना है। उससे पहिले सत्याग्रह का सवाल ही नहीं उठता।

मैं मानता हूं कि कांग्रेस अथवा देशी राज्य प्रजा परिषद् या कि और उन संस्थाओं के आगे जो गद्दी के पीछे नहीं बल्कि सार के लिये लड़ना चाहती हैं अर्थात् जो राजनीतिक उन्नति को जनता के आत्मजागरण के अर्थ में लेती हैं एक ही उपाय है और वह है अहिंसात्मक जीवन नीति का सार्वजनिक प्रयोग।

जुलाई ४५

■ ■ ■

चीनी आक्रमण और हम

चीन के आक्रमण से भारत पर जो संकट आया है उसके बारे में मैं बोलने का अपने को अधिकारी नहीं मानता हूं। क्योंकि चीन और भारत ये शब्द हैं जो अंतिम विश्लेषण में मेरे-जैसे व्यक्ति के लिए ठहरते नहीं हैं। उनकी सार्थकता राजनीतिक है। बहुत-से लोग अमुक विधान के नीचे एक शासन में रहते सहते हैं उनकी इकट्ठी जमात को चीन नाम दे दिया जाता है। वैसे ही भारत भी एक राजनीतिक इकाई है। अधिकांश उनसे उन संस्कारों का बोध होता है।

मैं मानता हूं कि ये भारतवर्ष चीन और उसके बाद एशिया—यूरोप आदि शब्द या उसके नीचे उतर तो प्रांतों के नामवाची शब्द व्यवस्था की सुविधा में काम आते हैं। आज मैं महूवा चला गया तो मालूम हुआ इंदौर शहर यहां खत्म हो गया दूसरा जिला शुरू हो गया। अर्थात प्रांत की दृष्टि से तो अंतर नहीं रहा पर जिला बदल गया। उसी तरह भारत-चीन संज्ञाओं की सार्थकता एक सीमा तक है। उसके बाद वह सार्थकता नहीं रहती।

जो लोग ऊपर ऊंचा उड़ कर जाते हैं वहां से उनको ये चीन और भारत या इस तरह अलग अलग देश शायद ही दिखाई देते हों। और भी ऊपर जाएं तो सारी धरती एक गोलपिंड दिखाई देती होगी। मेरे लिए देश से प्रथम और अधिक व्यक्ति महत्त्व रखता है। व्यक्ति एक ऐसी प्रत्यक्ष इकाई है जो धारणा निर्भर नहीं है और जैसे महूवा आते हुए जिले बदल गये पर खेत-खेत एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं वैसे ये व्यक्ति आपसी के व्यवहार में जुड़ हुआ करते हैं।

यूरोप की एक यात्रा में मैं शाम को रेल में बैठा और अगले तीसरे पहर उतरा तो चार जगह सिक्के बदल गये। पासपोर्ट बीसा चेक किया गया। इस प्रकार की सिक्का तबदीली में ही रुपये में ढाई आने खोज गये। अब यह समझ में नहीं आता। मैं मानता हूं कि व्यवस्था के नाते कुछ खानेबंदी आवश्यक है, पर यह खानाबंदी एक हद तक ही महत्त्व का है।

कोई स्थिति ऐसी नहीं है, जिसमें झगड़ा न हो। झगड़े के बिना दंपति

भी रह नहीं सकते। अब हर रोज साथ रहना पड़ता है तो आपस में झगड़ा भी हो जाता है। फिर भी झगड़ा सामयिक है। नित्य पुरुषार्थ शांति है। जब तक तिब्बत बीच में था तो हिन्द चीन भाई भाई की बात ठीक लगती थी। पर अब तिब्बत बीच में से हट गया तो हिंदी चीनी भाई भाईपन में फरक आ गया।

मैं पीकिंग से शांघाई गया। पीकिंग में एक किताब किसी ने दी तो मैं विमान में उसी को पढ़ रहा था। वह किताब खत्म हुई तो शांघाई पर प्लेन उतरा। वह चाऊ एन लाई का भाषण था जो उन्होंने बुद्धिजीवियों को दिया था—कांग्रेस में। शांघाई में उतर तो तुरंत बाद ही एक सभा में जाना पड़ा जहां सब साहित्यिक जमा थे। शांघाई साहित्यिकों की दृष्टि से प्रमुख केन्द्र रहा है। यांत्रिक सभ्यता और चीन की सभ्यता का सम्मिश्रण वहां फूला-फला है। साहित्यिकों में से ३० ३५ वहां जमा थे। सभी बड़ी उम्र के जाने-माने प्रतिष्ठित साहित्यिक थे। मैंने कहा कि चाऊ एन लाई का व्याख्यान पढ़ रहा था कि इंसान एक है विश्व को एक करना है आदि। पर एक चेतावनी उसमें देखी कि फिर भी दोस्त-दुश्मन की पहचान रखनी होगी। ऐसा न हो कि दुश्मन को दुश्मन न पहचानें। दुश्मन कौन? तो वहां उत्तर था कि भाववादी (आइडियलिस्ट)।

मैंने उन्हें कहा कि मैं हिन्दी हूं और हम हिन्दी चीनी भाई भाई हैं। पर मैं तो भाववादी हूं। एक हिंदी आइडियलिस्ट आये तो आपके भाईचारे का क्या होगा? तो एक भाई उनकी तरफ से बोले कि यह तो एक सैद्धांतिक (थियारिटीकल शब्द) है इसमें और कोई गहरी बात नहीं है। व्यक्तिशः जिस से मैंने पूछा हरेक ने इन्हीं शब्दों में मुझे जवाब दिया। मैंने पूछा कि कल अगर भारत और चीन की राजनीति में रगड़ पैदा हो जाय तो हिन्दी-चीनी भाई भाई का क्या होगा? इसका वे कोई उत्तर न दे सके थे। सिवा इसके कि ऐसा कभी न होगा।

बड़ौदी (गुजरात) के सर्वोदय सम्मेलन में श्री रविशंकर महाराज बता रहे थे कि वह जब चीन गये तो उनसे पूछा गया कि क्या आपको चीन का इतिहास मालूम है। उन्होंने कहा कि नहीं। पूछा गया कि आपको भारत का इतिहास तो मालूम होगा। उन्होंने कहा कि हां कुछ तो मालूम है। वे बोले कि कोई हमला बाहर में जाकर कभी भारत ने नहीं किया है। चीन का भी इतिहास ऐसा ही है। इसी से भारत चीन भाई भाई रहेंगे।

चीन की सरकार आज भी मानती है और कहती है कि उसने पहले हमला नहीं किया। पर है तो यह स्पष्ट हमला। सारे इतिहास में चीन ने कहीं बाहर जा कर हमला नहीं किया तो यह हमला क्या निकला? बस चीन की

आबादी ७० करोड़ है और वह बढ़ रही है और आबादी के फैलाव के लिये उसको जगह नहीं है। मगर ऐसा हो तो निर्जन साइबेरिया बसने के लिये काफी खाली पड़ा है। अब तो तिब्बत भी चीन है—तिब्बत की आबादी घनी नहीं है। फिर भी वे भारत की ओर बढ़े—इस दुस्साहस के पीछे क्या मजबूरी थी? क्या नशा था? चीन के पास कुछ-न-कुछ तो हिम्मत रही होगी। सिर्फ आबादी का मसला वह नहीं था यह बात स्पष्ट है। कुछ चीज और थी। मेरा ख्याल है कि साम्यवाद चीन में आया उसके पहले चीन की सभ्यता में आवेश नहीं आया कि बाहर जाकर हमला करे। इस आवेश का निर्माण साम्यवाद के कारण हुआ।

इसके पीछे कोई चक्कर मालूम है। उनके सोचने के मुताबिक ज्यादातर दुनिया गफलत में है। सभ्यता सिखाने का मिशन उनका है। जैसे अंग्रेज भारत पर राज करते हुए कहते थे कि इसमें उनकी कोई स्वार्थ लिप्सा नहीं है, सभ्य बनाना है इसलिए वे आये हैं। इसी प्रकार की उद्धारक वृत्ति चीन में भी पैदा हुई हो सकती है कि दुनिया में क्रांति करनी है। यह भ्रम और घमंड उनमें भर गया हो सकता है कि दुनिया के निज़ाम को व्यवस्था को उनको बदलना है, चीन की छत्र-छाया में सारी एशिया में सुव्यवस्था ला देनी है।

रूस में सर्वप्रथम कम्युनिस्ट क्रांति हुई। वहां शुरू में यही चीज लोगों के दिमाग में भरी हुई थी कि रूस की क्रांति तब तक पूरी नहीं होगी जब तक दुनिया के सारे देशों में भी वह क्रांति न करेगा। ट्राटस्की मानता था कि रूस की क्रांति को राष्ट्रवादी न बना कर विश्व-क्रांति की इब्तदा बनाई जाये। पर उसको आदर्शवादी माना गया और क्रांति को रूस में समा कर व्यवस्थित करने की ओर वे बढ़े।

जैसे राजनीति में स्टालिन की सत्ता थी साहित्य में वहां जिनका नाम चलता था उनसे मिलने का मौका मुझे मिला। वह रूसी लेखक दुभाषिया मरियम बहन के साथ आये तो लगा कि किसी फैक्टरी के फोरमैन हाल—स्टूल पर बैठ गये। मुझे मालूम नहीं था कि वह कोई विशेष व्यक्ति है। लम्बी चौड़ी बातें हुईं—तीन घंटे तक। चीन की बात आ गई। बोले अपनी अनुभव से सीखता है। हम भी पहले बड़े जोश में थे धक्का देने की तबीयत थी। पर अब हमने अपने अनुभवों से सीख लिया है। चीन अभी सुनने के मूड में नहीं है। वे भी वही तीखा अनुभव प्राप्त करेंगे जिनमें से हम गुजर हैं। खुद ठोकर खाए बिना सीखते नहीं मालूम होते।

प्रारंभिक समय के जुनून में तो टाल्सटाय की किताबों की होली रूसी

क्रान्तिकारियों ने की थी। क्योंकि टालस्टाय नैतिक मूल्यों की बात करता था। पर आज टालस्टाय की जितनी किताबें छपती खपती हैं उतनी शायद किसी की नहीं। कारण यही कि टालस्टाय विनय सिखाता है संतोष सिखाता है संयम सिखाता है। शान्ति व नैतिक मूल्यों को ऐसा बना दिया था जैसे प्याऊ पर पानी। तलाक तब बहुत आसानी से मिल जाता था। पर आज तलाक मिलना कठिन है। यह रूस का हाल है। प्रारंभ में जहाँ नैतिकता का मज़ाक उड़ाया जाता था वहाँ पर अब उसको जमाने की कोशिश हो रही है।

आज चीन में उफान है। यह उन रूसी साहित्यकार से पता चला कि चीन में कच्ची जवानी भरी है कि जिससे दिमाग में उन्माद पैदा हो रही है।

नेहरू जी और विनोबा जी दोनों कहते हैं कि इसके पीछे केवल सीमा और ज़मीन का मसला नहीं है बल्कि एक बड़ी चीज़ है। शायद चीनी मानते हैं कि एक परम लक्ष्य उनके सामने है उसके लिए मरने और मारने में वे कोई हिचकिचाहट अनुभव नहीं करते। यह चीज़ जब बन जाती है तो उसको रोकना मुमकिन नहीं होता। वह अपने पतरे से रुके तो रुके। जब वह विश्व को प्रकाश देने का अपना काम मानता है तो वह क्या किसी के कहे रुके?

इस सीमा रेखा के पास की चीज़ पर विचार करना अनिवार्य है। यह विचार किये बिना हम हल नहीं निकाल सकेंगे। केवल फौजें इस समस्या को हल नहीं कर सकती। आज भारत में स्वाभिमान है उसका हर जवान अपनी जान देने को तैयार है। चीन उसे भारत की फौज का सफाया नहीं कर सकता। फौज से फौज का मोर्चा रुक सकता है। पर सवाल का हल इसमें से नहीं निकल सकता।

चीन एकाएक असम की आबादी तक आ कर रुक गया। उसने 'सीजफायर' बोल दिया। भारत के सामने एक पहेली आ गई। हमने युद्ध रोका नहीं है। हमारी शक्ति वहाँ तैयार है पर लड़ने का काम उनके पास नहीं है। चीन बढ़ता चला आ रहा था पर वह एकाएक रुक गया। क्यों? बात यह थी कि हथियार से जो लिया जाता है उस दुनिया के सामने रिसाना पड़ता है कि हमने अन्याय से नहीं लिया। मिलिटरी केस और मिलीटरी विक्टरी को भारत केस और भारत-विक्टरी बनाने की ज़रूरत रहती है। केवल मिलीटरी विक्टरी चलेगी नहीं। नैतिक बनाना अनिवार्य हो जाता है। अपना नैतिक आधार मज़बूत करने को उसने अपनी सेना वापस ले ली। यह प्रश्न का बहुत बड़ा पहलू है। भारत का केस भारत था। पंडित जी ने कहा कि हम तो विश्वास पर चलते थे इसी से हमने फौजी तैयारी नहीं रखी। प्रश्न का भारत रख ठीक

फायर के बाद उनके पक्ष म हो गया भारत का केस नतिक क्षेत्र में उन्होंने कमजोर कर दिया—यह वे मानते हैं। आज नेफा और लद्दाख म मिलिटरी मोर्चा चुप है पर डिप्लोमेटिक मोर्चे पर जोरों से काम चल रहा है।

अभी तो कोलम्बो कान्फ्रेन्स' बठी है। दोना देशो के लोग वहा गये हैं। भारत कह रहा है कि भारत का पक्ष नीति का है। आज भारत म सोना दिया जा रहा है नाम लिखाए जा रहे हैं यह ठीक है। पर इस सारी हाट-बार' की लड़ाई का उपयोग 'मानस फ्रन्ट पर इस रूप म होता है कि हम कमजोर नही है। जसे रूस और अमेरिका दोनों एटम बम बना रहे हैं पर दोनों कहते हैं कि बम रोके जान चाहिए। पर यदि दूसरा पहल करेगा तो ही करेंगे। यह दोनों एक दूसरे को कहते हैं। बम या एटामिक आर्मामिण्ट जो वे बना रहे हैं, वह दिखाने को कि चुनौती म हम किसी से उन्नीस नही हैं वे इनको डटरट' मानते है। अस्त्र-शस्त्र डर पैदा करने वाले है। अस्त्र-शस्त्र का कारगरपन मारने की भूमिका पर नही बल्कि 'डेटरन्ट की भूमिका पर है।

अस्त्र शस्त्र जिनसे आदमी मारता है उनकी अब अणुशक्ति के उदय के बाद कोई कीमत नही रह गई है। अस्त्र-शस्त्र का मूल्य अपने आप म शून्य हो गया है। सिफ मूल्य इतना ही है कि वह डर की रोक पदा कर सकता है। आज तो युद्ध की बात को लकर मरने और मारने के ऊपर उठ कर सोचने की आवश्यकता है।

आज सब कहते हैं कि अपने नेता पं० नेहरू के हाथो को मजबूत करो। पर आपको मालूम है कि शूटिंग म जो इनाम मिला वह दूसरे ही किसी को मिला था। तो उन दूसरे के हाथ क्यों न मजबूत करें? लेकिन हम नेहरू के हाथ इसलिए मजबूत करना चाहते हैं, क्योकि उनके हाथ देश के केस की नतिक भूमिका को अकाट्य और दृढ़ करने का काम करते हैं। सारी दुनिया के प्रमुखा को उन्होंने चिट्ठियां लिखी हैं। सहारक-शक्ति के काम पर हमारे जवान जा रहे हैं पर नेहरू जी देश की नैतिक-शक्ति को बढा रहे हैं।

यदि इन्दौर शहर पांच हजार जवानो की जिम्मेदारी और उनके परिवारो का जिम्मा ल ले तो इन्दौर का आत्माभिमान जाग जायेगा। पर अगर रूसी प्रावदा' मे पढ़ने को मिले कि रूस भारत के केस को ठीक समझता और मान्य करता है तो इन्दौर के साथ भारत के हर आदमी की छाती दुगुनी हो जायगी। क्योंकि उस लेख से देश की नैतिक शक्ति का लोहा मान लिया गया होगा। सन्य बल दैहिक-शक्ति है ससार की शक्ति है। किन्तु उस जीत में न्याय बल होगा नीति की शक्ति होगी। बहादुरी की पहचान यह है कि सैकड़ों

सामने हों तो भी तुम अकेले अपनी जान देने की तैयारी रखते हो। बहादुरी
दूसरों की जान लेने और अपनी जान बचाने की तयारी में नहीं है। बहादुरी
हमेशा अहिंसक होती है। अपनी जान देने की तैयारी को बहादुरी कहते हैं।

अगर भय नहीं रहता निडरता रहती है तो कोई हमला नहीं कर सकता।
अगर हमने डर को दूर भगा दिया—मरने का डर खत्म कर दिया तो आक्रांता
के आक्रमण करने की इच्छा बुझ जायेगी। नागरिक जीवन म कुछ लोग बुल्ली
टाइप के होते हैं। आप डरना छोड दीजिय तो बुल्लों की ताकत खत्म हो
जाती है। आप इसे आजमा कर देख लीजिये। जो डरा धमका कर काम करता
है उसस डरना छोड दीजिये तो वह पोच पड जायगा।

चीन के आक्रमण के सदर्भ में देखिय। वेतन प्राप्त करन वाला सिपाही
लडन जाता है। बीवी बच्चों की फिक्र उसे रहती है। उसकी हिम्मत इस बात
पर है कि मैं जीऊगा तो बीवी-बच्चों को पाल सकूगा। इसी प्रेम के द्वारा उस
में ताकत आती है लडने की। हम कमात हैं तिजोरिया भरत हैं और रक्षा के
लिये तनखा का चौकीदार रखत हैं। वह अपनी बीवी-बच्चा क लिये रात भर
जाग कर पहरा देता है और हम सोत हैं। हमारे मदिर हैं हमारे देवता हैं।
पर पुजारी को वेतन देकर रखते हैं और वह मदिर की सेवा करता है और
पुण्य हमको मिलता है। इसी प्रकार पेशेवर सिपाही के भरोसे नागरिक रहगा
तब एक नागरिक भयभीत और कायर बनेगा। बस पैसा-सोना देकर रक्षा करी
दना चाहेगा। हम म से हरेक सिपाही क्या न बने। हम वक्त पर सिपाही हैं
और शेष समय नागरिक है तो हम पर आंच नहीं आयेगी।

हम जनतंत्र का नाम लेते हैं—डिक्टेटरशिप नहीं चाहते हैं। पर आप ने
आस-पास देखा कि लोकतंत्र टूटा और मिलिटरी डिक्टेटरशिप आई। क्योंकि
सुरक्षा करने वाला ही राजा बन बैठता है। कोई देश एसा नहीं है जो मिलि
टरी डिक्टेटरशिप रखता हो और नागरिक लोकतंत्र का दावा भी न रखता हो।
नागरिक यदि पुलिस-फौज का प्रार्थी है तो उसकी नागरिकता खतरे म होती
है। आज के समाज में सिक्यूरिटी की सबसे बडी मांग है। हम लगता है कि
किसी तरह सिक्यूरिटी प्राप्त करें। और हर तरह सिक्यूरिटी हासिल करने के
लिय हर तरह का काम करन को तयार हैं। क्योंकि जान देने वाले आदमियों
को पैसा देकर तैनात किया जा सकता है तो उनके पीछ चतुर खुद अपनी जान
बचाने का काम करेगा। उसक लिए वह सोना दन को तयार है।

आप जितने भी व्हालेन्टियर और सोना भेज दें पर यदि स्वयं नागरिक
स्वार्थ म डूबा रहगा तो सिपाही भी स्वार्थ म लिप्त ही लडगा। वह जान देने

के मौके पर क्यों अड़ेगा उल्टे क्यों न भाग खड़ा होगा ? आपको मालूम है कि जमन कौम जो बड़ी बहादुर थी उसकी हिंसा पर श्रद्धा थी। पर बड़ी हिंसा के सामने वे सभी भागे। यदि अपनी अपनी जगह जिन्दगी को हथेली पर लें और समझें कि जान तो एक रोज जान ही वाली है पर यह जाये तो आन पर, किसी लक्ष्य पर जायेगी, तो उससे अपूर्व बल का उदय होगा।

हम किसी चीज के लिए जीना और उसी चीज के लिए मरना सीखें। आज चीन के हर आदमी को जैसे एक लाइफ-परपज प्राप्त हो गया है। वहां का आदमी अपनी जान देने को एक सपना पा गया है। हमारे पास 'नेशनल डिफेन्स' का एक सामयिक प्रयोजन अवश्य बना है। यदि उतना भर ही प्रयोजन रहेगा तो हम हारेंगे। पर भारत कभी हारेगा नहीं। क्योंकि देश की सरकार ने जो अपना श्रद्धा घोष रखा है वह है सत्यमेव जयते (सत्य ही जीतेगा)। यह श्रद्धा है तो हम जरूर जीतेंगे। पर यदि हम सत्य को जिताने या जिलाते नहीं अपनी जान बचाने में रहेंगे तो जान खाएंगे साथ ही आन भी खो बठेंगे।

हमारे सामने एक लक्ष्य होना चाहिए। जिसके लिये हम जिएं और जिसके लिए हम मरने को तयार रहें। साम्यवाद इसलिये जीतता है क्योंकि उनको वैज्ञानिक हिंसा में श्रद्धा है। 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से इतिहास बना है पाप पुण्य की धारणाएं बनी और थोपी हुई हैं। इतिहास और युग का तकाजा है कि पूंजीवाद गिरेगा और पालतेरियत जीतेगा। तू इस द्वंद्व को समझ उसको बढ़ा और इसमें जूझ और इसको सम्पन्न करने में निमित्त बन' ऐसी श्रद्धा साम्यवाद में है।

इसके समक्ष भाई प्रबलतर श्रद्धा जब तक नहीं होगी तब तक भारत चीनी विस्तारवाद को रोक नहीं सकेगा। जब तक हमारे पास जीवन को विसर्जित करने को कोई यज्ञपूत लक्ष्य न होगा तब तक हम बढ़ न सकेंगे। स्वराज्य के बाद जैसे यहां कोई जीवन सिद्धान्त ही नहीं रहा है। स्वराज्य के बाद सब कोई पसे और सत्ता पाने के पीछे पड़े हैं। हमारे जीवन में शिथिल्य है। जो तमन्ना पहले न्योछावर होने की थी वह खतम हो गई है। असली मर्ज यह है। उसका इलाज है कि फिर आहुति धर्म पा लें जिसको लेकर व्यक्ति जिये समूह जिये देश जिये। जीवन प्रयोजन मिल जाता है तो डिसइंटीग्रेशन समाप्त हो जाता है। आप अपनी आत्मा के साथ इन्टीग्रेट हूजिये तो आप सबको साथ इंटीग्रेट कर सकेंगे।

नागरिक मोर्चा खूब मजबूत है तो सनिक मोर्चे की जरूरत नहीं पड़ेगी। और यदि सनिक मोर्चे की जरूरत भी हो तो नागरिक मोर्चे से उसे मजबूती

मिलेगी।

जितने जवान जा रहे हैं इनके परिवारों का नैतिक उत्तरदायित्व हमारा है। केवल जवान ही नहीं बल्कि जो भी असहाय है और जिनकी मजबूरी उन की जिन्दगी में गांठ बन गई है और जिसे वे दिल में पोस रहे हैं उस असहायता को दूर करें तो देश में बड़ी शक्ति पैदा होगी।

आर्मामेण्ट्स की बात बड़ी पेचीदा है। आज तो हमारी आर्मामेण्ट की शक्ति पाकिस्तान के बराबर भी नहीं है। हमें तो नैतिक बल का ही आधार लेना होगा।

शस्त्रास्त्र के मोर्चे पर शक्ति खर्च होती है। पैदा होती है वह नागरिक मोर्चे पर। यह शक्ति आपस के हेलमेल से पैदा होगी। हाथ के पीछे हृदय दिमाग और आत्मा की ताकत बढ़नी चाहिए। हाथ अस्त्र तभी तक थामेंगे और चलाएंगे जब तक दिल साथ देगा। असल स्रोत सब शक्ति का वह है। देश के लिए वह है जनता की संकल्प-शक्ति। उसे जगाना है और उसके लिए स्वयं को आहुति बनना है।

दिसम्बर ६२ ■ ■ ■

गांधी अध्ययन केन्द्र, इन्दौर की गोष्ठी में हुए भाषण का सार।

स्वतन्त्रता और एकता

इधर यूरोप मे जो करीब दो महीने से घूमता रहा हू उससे मेरे लिये यह और भी साफ हो गया है कि एकता के लिए स्वतन्त्रता जरूरी है। मामूली तौर पर समझा जाता है कि ये दो चीजें एक दूसरे से उलटी होगी। अगर हर आदमी अपने मे स्वतन्त्र रहे तो दूसरे के साथ उस का मेल उतना ही कठिन हो जायेगा। यानी वह अपने को बहुत गिनेगा और दूसरे के लिए झुकना और दूसरे के साथ मिलाप करने के लिए आगे बढना उतना जरूरी और आसान उसे उसके लिए नही रहेगा। पर मेरा अनुभव दूसरा है। हम जब तक पराधीन हैं तब तक स्वतन्त्र और पृथक होने के लिए तडपते रहते हैं। उस समय हमे छोटे बड का भेद पदा हो जाता है और स्वास्थ्य पूरी तरह पनपने नही पाता। जो स्वस्थ नही हैं उसमे स्नेह कहा से पदा हो सकता है? स्वातन्त्र्य से स्वास्थ्य आता है और स्वस्थ अवस्था म ही स्नेह सम्भव हो सकता है। एकता आखिर स्नेह म से हा तो फलित होगी।

भारत अब जब स्वतन्त्र हो गया है तो उस के लिये दूसर देशो के साथ अपनापा पदा करना उतना कठिन नही है। अब उस म सघष की भावना नही है। वह हर तरह के समाचार के व्यापार के और सस्कृति और साहित्य के आदान-प्रदान से हर देश के साथ अपना सम्बन्ध और एक्य बनाने को उत्सुक है। यूरोप के देशो म कुछ एक पर दूसरे का दबाव अनुभव होता हुआ मैंने पाया। इस में से सघष उपजता है। अगर दबाव न रहे तो सम्भावना है कि उन म सद्भावना सहज रूप से व्याप्त हो जाय। राष्ट्र तो ठीक है जस कि व्यक्ति अपनी जगह ठीक है। लेकिन राष्ट्रवाद व्यक्तिवाद की तरह अस्वस्थ मनोदशा का द्योतक समझा जा सकता है। राष्ट्रवाद म एक तरह का आग्रह है और तनाव है। जस उसमे गर्भित है कि कोई दूसरा राष्ट्र है जिसस सम्बन्ध स्पर्द्धा और विरोध का है। मेरी धारणा है कि हालत जतलाती है कि उन देशो की स्वाधीनता सम्पूर्ण नही है। किसी प्रकार का दबाव उनकी चेतना को दबे हुए है।

कोई समूह अपने आप म तभी व्यक्तित्व पा सकता और बलिष्ठ हो सकता

बनता है और जीवन और जगत का समस्त अनुभव उनके लिए सामग्री का काम देता है। यह रचना पुस्तक के रूप में हो सकती है चित्र के संगीत के, आविष्कार के रूप में हो सकती है। इस पर किसी विशेष देश या जाति का ही अधिकार नहीं रह जाता। ज्ञान सार्वभौम है कला भी सार्वजनिक। किसी भी पद्धति से इस मानवानुभूति के फल को किसी घेरे में बन्द नहीं रखा जा सकता। कोई देश ऐसा नहीं है जिसमें लोग न पैदा हुए हों जिन्हें सारी दुनिया अपना मानती है। उनकी कल्पना उनकी भावना रुककर नहीं रह सकी। किसी भी बहाने उन्होंने मनुष्य से इन्कार नहीं किया। उस मनुष्य को लांघा नहीं। वे मनुष्य को पाने और उसके लिए अपने को विसर्जित करने में ही जुटे रहे। इस प्रयास में जो कुछ वे दे गये वह सारी मनुष्य जाति की धरोहर हो गया। आवश्यकता है कि हम उस को अपने में समेटे और रोके न रखें। भेद तो हम में है पर वे दूर होने के लिए है। भाषा का भेद है रहन सहन और रंग रूप का भेद है। पर भेद वे आत्मा के नहीं है, ऊपर की परिस्थिति कारण है और वहीं तक है। परिस्थितियों पर हम विजय पा सकते है बल्कि उन परिस्थितियों को ही हम अपनी प्रगति का साधन बना सकते हैं। परिस्थितियों की प्रतिकूलता कोई वस्तु नहीं होती। हम में रचनात्मक प्रेरणा हो तो हर परिस्थिति हमारे लिए साधन रूप हो जाती है। आवश्यकता है कि भाषाओं में परस्पर अधिक अनुवाद हो उनका आपसी आदान प्रदान बढ़े। तब हम देखेंगे कि जितना क्षेत्र व्यापक होता है उतना ही आत्मा का महत्व बढ़ता और ऐक्य सुगम होता है। क्योंकि शरीर तो सब के अलग-अलग हैं। और जब हम में एकता की भावना आती है तो वह स्वार्थ के नहीं आत्मा के आधार पर ही आ पाती है। अस्वस्थ शरीर में स्नेह की जगह अहंकार ज्यादा होता है। अहंकार अनबन पैदा करता और लड़ाता है। और जैसे-जैसे स्नेह हम में बढ़ता है, हम देखते है कि वैसे ही वैसे शरीर का आग्रह और स्वार्थ का मोह कम होता जाता है। आज हमारे सामने समस्या है कि विज्ञान के साधनों से अगरचे हम पास-पास आ गये हैं पर क्या यह एकता अन्दरूनी और गहरेपन की भी हो सकती है? व्यापार की और राजनीति की सतही एकता से साफ तौर पर काम नहीं चलता। उसे मन में भी गहरे उतारना है। यह काम चाहता है कि हम उन कृतियों को एक दूसरे के निकट पहुंचायें जो प्रेम की प्रेरणा में से सब काल और सब देशों में सृष्ट होती रही है। और जिनके रस में डूब कर हम इस क्षण भी सहानुभूति के बहाव में अपना अहंकार खो रहते हैं।

■ ■ ■

भारतीय राजनीति किधर

—आज की राजनीति में सुधार क्या जरूरी है ? है तो क्यों है ?

—आज की राजनीति से आपका मतलब क्या ठीक आज की ही यानी सन् ३७ की राजनीति से है। बात यह है कि कन्वेन्शन की पहली बैठक हो चुकी है। अभी आज दूसरी है। लेकिन उसमे जो होना है आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी पहले ही कर चुकी है। हिन्दुस्तान की सबसे बडी राजनैतिक जमात कांग्रेस ही है। सबसे बडी क्या एक तरह से कहा जा सकता है कि वह समूचे राष्ट्र की राजनैतिक प्रतिनिध्यात्मक संस्था है। इसलिए आज की राजनीति से मुख्यत कांग्रेस की राजनीति का मतलब समझ लू। मैं कह सकता हू कि परसों से प्रामाणिक रूप से राजनीति ने जो रुख पकड़ा है वह पहिले के रुख से अलहदा किया जा सकता है। गांधीजी ने जब अपने को कांग्रेस के सिर पर से हटा लिया तभी से वहां की राजनीति म एक नये परिच्छेद की भूमिका पड गई है। लेकिन गाधी ने जो दिया था उससे सहज छुटकारा न था गाधी कांग्रेस पर न रहे पर न रहे पर कांग्रेस और भी अधिक गाधी पर निर्भर हो रही है। उनकी स्पिरिट कांग्रेस की कार्य समिति की प्रेरणा है। पर जवाहरलाल अपनी तबियत म गांधी की तरह के व्यक्ति नही है। गाधी युद्ध म भी शान्त रहना है तब जवाहरलाल हर समय मानों मुकाबले के लिए सन्नद्ध से नजर आते हैं। झगडा बखेडा गाधी के स्वभाव म नही है। हा सत्याग्रह हो सकता है और वह इतना कठिन हो सकता है जितना क्या कोई इस्लाम की तलवार होगी। पर उस सत्याग्रह के युद्ध म भी न केवल ध्येय ही शान्त होगा प्रत्युत उस युद्ध की प्रवृत्ति भी शान्ति भरी होगी। लिहाज जब कांग्रेस के शीर्ष पर से हटे और गाधी आये तब से विद्रोह की जगह एक प्रकार की आध्यात्मिकता कांग्रेस ने अपनी प्रवृत्ति म स्वीकार की। जवाहरलाल और बोस पर गढ़ गये व्यक्ति थ। एक प्रकार से उन्हें गांधी ही ने बनाया था। पर गांधी भी उन्हें अपने अनुरूप नहीं बना सका। कांग्रेस किसी भी भांति गांधीजी से बाहर नही आ सकती थी। लेकिन कांग्रेस की परख हो गई थी और यह दिख चला था कि राष्ट्र की यह बडी इकट्ठी जमात कांग्रेस

चाह कर भी गाधी का साथ नही दे सकती। तभी सन् २१ के बाद बीच में स्वराज्य-पार्टी बनी थी और सन् ३२ के युद्ध के बाद फिर स्वराज्य पार्टी जैसी चीज बनी। यह पालियामेण्टरी पार्टी थी। सत्याग्रह के मोर्चे पर मोर्चे लेने के बाद भी अंग्रेजी पढ़े लिखे शहरी लोगों की जमात म से पालियामेंटरिमज्यम और कौन्स्टीटयूशनलिज्म उखड कर निर्मूल नही हो गये। लड़ाई की गर्मी जहा हो कम हुई वहा ही मदान मे अधिक कौंसिलें वह सूझने लगी। ऐसी हालत म गांधी ने कांग्रेस को पालियामेंटेरियज्म के रास्ते पर एक दो कदम चला कर उसे छोड दिया। अब तक की प्ररणा गाधी की प्रकृति की थी। मुल्क उसी के सहारे जीता रहा और बढता रहा और कोई दूसरी विश्वास की ताकत दीखती न थी लेकिन तभी जवाहरलाल जेल से आये। पालियामेंटरी पार्टी काग्रेस का एक अग थी। गाधी ने उसके लिए कुछ आदमियो की एक अधिकार प्राप्त कमेटी बना दी थी। मशा था कि व लोग पालियामेंटरी काम किये चले जाय क्योकि वे लोग और कामो म न खुद रस लेंगे न दूसरो को उसमें रस लेने देंगे। उस छोटे गुट को छोडकर बाकी और लोग बाहर के और और जरूरी कामो मे लगे रहें। गांधी की समूची वृत्ति जनता की ओर थी। पॉलिटिक्स के उनके निकट तभी और वही तक कुछ अथ थ जहां तक उसका जनता के हित से सम्बन्ध है। पालियामेंटरी काम से शौक रखने वाले मनुष्य को उन्होने एक तरह से छुट्टी-सी ही दे दी थी। अपने मदान से वह आजाद थे लेकिन नकेल कांग्रेस वकिंग कमेटी के मारफत जनता के हाथो मे थी। जवाहरलाल यह सब नही समझ सके उनको शक्ति जो चाहिए। पालियामेंटरी के काम म रस रखने वाले लोगो को नकेल थामने क काम स उन्होंने अपने को वकिंग कमेटी को और समूची कांग्रेस को भर लिया। जहा कौंसिल हमारी मनो वृत्ति मे बस कोना दाबे बैठी था वहां अब वह कौंसिल जवाहरलालजी की मदद से (यद्यपि बिलकुल उनकी मशा के विरुद्ध) हमारे समूचे मन मे असर कर बठ गई। यहां देखो कौंसिल का चुनाव है जहां देखो इलैक्शन। जवाहरलाल ने अपनी समूची गर्मी इसम डाल दी। वह चाहे कुछ भी समझ रहे हो लेकिन जनता के मना म उन्होंने कौंसिल का भीतर तक घुसा दिया। अब तक जनता आत्म विश्वास के बल पर अपने पैरो पर खड़ा होना सीख रही थी। यह सीखने में जितना समय लगना चाहिए उतना तो लगेगा ही। अपने हाथ का सहारा देकर बच्चे को थोडी देर खड़ा करलो तो करलो लेकिन स्वय खडे होने की शक्ति उससे भिन्न चीज है। जवाहरलाल ने पुकार तो जारी रखी—जनता जनता, लेकिन देश की निगाह के सामने रखी कौंसिल कौंसिल। मानो जनता के भारम

भारतीय राजनीति किधर

—आज की राजनीति में सुधार क्या जरूरी है ? है तो क्यों है ?

—आज की राजनीति से आपका मतलब क्या ठीक आज की ही यानी सन् ३७ की राजनीति से है। बात यह है कल कन्वेन्शन की पहली बैठक हो चुकी है। अभी आज दूसरी है। लेकिन उसमें जो होना है आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी पहले ही कर चुकी है। हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी राजनैतिक जमात कांग्रेस ही है। सबसे बड़ी क्या एक तरह से कहा जा सकता है कि वह समूचे राष्ट्र की राजनैतिक प्रतिनिध्यात्मक संस्था है। इसलिए आज की राजनीति से मुख्यतः कांग्रेस की राजनीति का मतलब समझ लूं। मैं कह सकता हूं कि परसों से प्रामाणिक रूप से राजनीति ने जो रुख पकड़ा है वह पहिले के रुख से अलहदा किया जा सकता है। गांधीजी ने जब अपने को कांग्रेस के सिर पर से हटा लिया तभी से वहां की राजनीति में एक नये परिच्छेद की भूमिका पड़ गई है। लेकिन गांधी ने जो किया था उसमें सहज छुटकारा न था। गांधी कांग्रेस पर न रहे पर न रहे पर कांग्रेस और भी अधिक गांधी पर निर्भर हो रही है। उनकी स्पिरिट कांग्रेस की काम समिति की प्रेरणा है। पर जवाहरलाल अपनी तबियत में गांधी की तरह के व्यक्ति नहीं है। गांधी युद्ध में भी शान्त रहता है तब जवाहरलाल हर समय मानों मुकाबले के लिए सन्नद्ध से नजर आते हैं। झगड़ा रगड़ा गांधी के स्वभाव में नहीं है। हां सत्याग्रह हो सकता है और वह इतना कठिन हो सकता है जितना क्या कोई इस्पात की तलवार होगी। पर उस सत्याग्रह के युद्ध में भी न केवल स्वयं ही शान्त होगा प्रत्युत उस युद्ध की प्रवृत्ति भी शान्तिमयी होगी। तिलक जब कांग्रेस के शीर्ष पर से हटे और गांधी आए तब से विग्रह सर की जगह एक प्रकार की आध्यात्मिकता कांग्रेस ने अपनी प्रकृति में स्वीकार की। जवाहरलाल और ढांचे पर गढ़े गए व्यक्ति थे। एक प्रकार से उन्हें गांधी ही ने बनाया था। पर गांधी भी उन्हें अपने अनुरूप नहीं बना सका। कांग्रेस किसी भी भांति गांधीजी से बाहर नहीं जा सकती थी। लेकिन कांग्रेस की परख हो गई थी और यह दिख चला था कि राष्ट्र की यह बड़ी इकट्ठी जमात कांग्रेस

चाह कर भी गांधी का साथ नहीं दे सकती। तभी सन् २१ के बाद बीच में स्वराज्य-पार्टी बनी थी और सन् ३२ के युद्ध के बाद फिर स्वराज्य पार्टी जैसी चीज बनी। यह पालियामेण्टरी पार्टी थी। सत्याग्रह के मोर्चे पर मोर्चे लेने के बाद भी अंग्रेजी पढ़ी लिखी शहरी लोगों की जमात में से पालियामेंटरियज्म और कॉन्स्टीटयूशनलिज्म उखड़ कर निर्मूल नहीं हो गये। लड़ाई की गर्मी जहां ही कम हुई तहां ही मैदान से अधिक कौंसिलें उन्हें सूझने लगी। ऐसा हालत में गांधी ने कांग्रेस को पालियामेंटेरियज्म के रास्ते पर एक-दो कदम चला कर उसे छोड़ दिया। अब तक की प्रेरणा गांधी की प्रकृति की थी। मुल्क उसी के सहारे जीता रहा और बढ़ता रहा और कोई दूसरी विश्वास की ताकत दीखती न थी लेकिन तभी जवाहरलाल जेल से आये। पालियामेंटरी पार्टी कांग्रेस का एक अंश थी। गांधी ने उसके लिए कुछ आदमियों की एक अधिकार प्राप्त कमेटी बना दी थी। मंशा था कि वे लोग पालियामेंटरी काम किये चले जायं क्योंकि वे लोग और कामों में न खुद रस लेंगे न दूसरों को उसमें रस लेने देंगे। उस छोटे गुट को छोड़कर बाकी और लोग बाहर के और और जरूरी कामों में लग रहें। गांधी की समूची वृत्ति जनता की ओर थी। पॉलिटिक्स के उनके निकट तभी और वहीं तक कुछ अर्थ थे जहां तक उसका जनता के हित से सम्बन्ध है। पालियामेंटरी काम से शौक रखने वाले मनुष्य को उन्होंने एक तरह से छुट्टी-सी ही दे दी थी। अपने मैदान में वह आजाद थे लेकिन नकेल कांग्रेस वर्किंग कमेटी के मारफत जनता के हाथों में थी। जवाहरलाल यह सब नहीं समझ सके उनको शक्ति जो चाहिए। पालियामेंटरी के काम में रस रखने वाले लोगों को नकेल थामने के काम से उन्होंने अपने को, वर्किंग कमेटी को और समूची कांग्रेस को भर दिया। जहां कौंसिल हमारी मनोवृत्ति में बस कोना दाबे बैठी थी वहां अब वह कौंसिल जवाहरलालजी की मन्द्र सि (यद्यपि बिलकुल उनकी मंशा के विरुद्ध) हमारे समूचे मन में प्रसर कर बैठ गई। जहां देखो कौंसिल का चुनाव है जहां देखो इलेक्शन। जवाहरलाल ने अपनी समूची गर्मी इसमें डाल दी। वह चाहे कुछ भी समझ रहे हों लेकिन जनता के मनों में उन्होंने कौंसिल को भीतर तक घुसा दिया। अब तक जनता आत्म विश्वास के बल पर अपने पैरों पर खड़ा होना सीख रही थी। यह सीखने में जितना समय लगना चाहिए उतना तो लगेगा ही। अपने हाथ का सहारा देकर बच्चे को थोड़ी देर खड़ा करलो तो करलो, लेकिन स्वयं खड़े होने की शक्ति उससे भिन्न चीज है। जवाहरलाल ने पुकार तो जारी रखी—जनता जनता लेकिन देश की निगाह के सामने रखी कौंसिल कौंसिल। मानो जनता के आरम्भ

विश्वास का काम कौंसिल के दरवाजे तक ही है। इस तरह गांधी का ठेठ विधायक कार्यक्रम लगभग एकदम भुला दिया गया। काम नहीं चाहिए क्रांति चाहिए। और क्रांति के नारे इतने लगे कि याद न रहा कि पेट भूखा है। और नारे जितने ही बुलन्द किये जायें पेट उतना ही और भूखा होगा। वैसे नारे सही हैं अगर वे भीतर की चीज हों। वही खोखले हो जाते हैं जब वे नारे कोरे राजनैतिक हैं अभी मैंने यहां के म्युनिसिपल चुनाव में तीन-तीन आने रोज की मजदूरी पर चिथड़े पहने हुए लोगों को 'इनक़लाब ज़िंदाबाद' के नारे लगाते देखा है। कल उन्हीं लोगों से तीन आने देकर ब्रिटिश राज्य ज़िंदाबाद के नारे आप आसानी से लगवा सकते हैं। सकते नहीं लगवाये जाते हैं। संकल्प एक वस्तु है नारा दूसरी वस्तु। इस भांति कौंसिल की जड़ें जो लोगों के मनों में से उतनी ही ढीली हो गई थीं जितनी रचनात्मक कार्यक्रम की जड़ें धरती में गहरी गई थीं वह कौंसिल की जड़ें फिर हरी हो आईं। आजकल का यह कन्वेंशन उसी मनोवृत्ति के बीच में हो रहा है। गांव और गांव का आदमी पीछे पड़ गया है। जनता जनता के नाम पर कौंसिल और उसकी मिनिस्ट्री हम शहरी लोगों को घर कर खड़ी है। मिनिस्ट्री महत्वपूर्ण प्रश्न है इसमें सन्देह नहीं। इस नये विधान के नीचे मिनिस्टर कांग्रेसी हैं या अकांग्रेसी इसका जितना सम्बन्ध स्वराज्य के प्रश्न से है। उससे कहीं गहरा और घना सम्बन्ध स्वराज्य के प्रश्न से ज्यादा मुसीबत-जदा एक किसान और मजदूर के प्रश्न से है। लेकिन यहां चीजों को जरा साफ निगाह से देखना चाहिए। मिनिस्ट्री के प्रश्न को महत्व कौंसिल के प्रश्न को महत्व देने से मिला है। और यह एक बड़े ताज्जुब की बात है कि उस कौंसिल के प्रश्न का महत्व सबसे अधिक उस व्यक्ति के व्यक्तित्व से मिला है जो विधान को बिना गाली के याद नहीं करता और जिसे लगन सिर्फ गरीब जनता की है।

स्वराज्य के प्रश्न का सम्बन्ध जनता से है। राजनीति से उतना नहीं है। अव्वल तो उसके बीच में आज के विधान वाली कौंसिल आती नहीं है लेकिन उस कौंसिल के मन की बात अगर कांग्रेस के मन से टाली ही नहीं जा सकती तो उस कौंसिल में जाने का उद्देश्य राजकारणात्मक नहीं होना चाहिए, 'जनतात्मक' होना चाहिए। 'जनतात्मक' शब्द का भाव समझिये सेवात्मक। क्रांति और स्वराज्य के नारे बुलन्द करने की जगह—कौंसिल पर कब्जा करना स्वराज्य की साधना नहीं है। कौंसिल के भीतर क्रांतिकारी कर्म से निर्दिष्ट की आने वाली मनोवृत्ति बे-मानी है। इस बात को बहुत गम्भीरता से अनुभव करने की आवश्यकता है। जवाहरलाल जी के कन्वेंशन के आरम्भिक भाषण

में उस अनुभव का अभाव है।

आपने जो पॉलिटिक्स म सुधार की बात की है वह सारी बात मेरे ख्याल से यहाँ आकर अटकती है। हमें अपने को जानना चाहिए जीवन एक विचित्र वस्तु है। शक्तियाँ और सिद्धान्त यहाँ कैसे काम करते हैं हमको समझना आवश्यक है। राजनीति अपने आप मे आखिरी चीज नही। मुझ ऐसा मालूम होता है कि किसानों को अस्तित्व सिर्फ काग्रेस को वोट देने के लिए नही है। हाँ, कांग्रेस की ओर से वोट लेने वालों का अस्तित्व उन किसानों के लिए ही हो यह समझ मे आने लायक बात है। आज मुझे जो भय है वह यही कि राजनीति की सार्थकता राजनीति ही में ढूढी जाती है। वह राजनीति स्वयं विस्तृत जीवन म जाकर नहा मिलती।

सुधार ठीक इसी जगह होना चाहिए। मानवीय जीवन राजनीतिक न हो। बल्कि राजनीतिक जीवन मानवीय हो। कोई वाद विशान राजनीति के ऊपर, हमारी वाणी के ऊपर बठ जाय इसम किसी की भलाई नही। मुझ नही दीखता इससे अग्रेजों का अधिपत्य उठ जायगा। उठ भी जाय तो जो चीज उसकी जगह लेगी वह स्वराज्य नहीं होगा। भी वोट विवेक की वोट है। वह भले कानून की किताब मे वोट के साथ भी लिखा हो इतने से पूरा नही हो जायगा। उसके लिए एक-एक वोटर को एक-एक स्वाश्रयी और स्वाभिमानी और स्नागरिक बनना होगा। राजनैतिक नारे जत्थे को और बडा जत्था बना दें। यह ठीक है। लेकिन उस जत्थे का एक एक आदमी भी अपने-आप मे व्यक्तित्वशील न बने तब तक सिद्धि नही समझ लेनी चाहिए।

सुधार यहा आवश्यक है कि राजनीति मजहब न बन जाय। आज भी इसका खतरा बढता ही हुआ देखता हू। कट्टर मुसलमान समझ मे आता है कट्टर हिन्दू समझ मे आता है। ये दोनों कट्टर आदमी आपस में लडें यह भी किसी कदर समझ में आ सकता है। लेकिन कोई लिबरल इतना कट्टर हो कि कांग्रेस को गाली दिये बिना उससे रहा न जाय और कांग्रेस भी इतना कट्टर हो कि वह राह चलते माडरेट पर व्यग कस यह बात बिल्कुल समझ म नहीं आती। वह राजनीति है नही जो किसी को मताध बनाती हो।

गांधी जी का युग मानवीय नीति थेप वज्ञानिक कमनीति का था। अब राजनीति को वज्ञानिक नीति कहा जाता है और कर्म की ओर उपेक्षा ही चाह ही और नतीजा यह होता है कि गर्मी तो उसस बढ़ती है वास्तव में ताक़त नही बढ़ती। मानवीय सबधों म कोई स्वच्छन्दता नहीं आती। उनमें सुधार होकर शोषण की जगह प्रेम का प्रवेश नही होता।

असली सवाल मानव और मानव के बीच में स्नेह सम्बन्ध स्थापित करने का है। अमीर और गरीब में प्रेम नहीं हो सकता। ब्राह्मण और शूद्र मे प्रेम नहीं हो सकता। तो इसी तरह कांग्रेसी और गैर-कांग्रेसी मे भी प्रेम नहीं हो सके तो कांग्रेस राज्य को स्वराज्य कैसे किस भांति माना जावे।

लेकिन मैं जानता हू ऊपर का उदाहरण ठीक नहीं है कांग्रेस एक व्यक्ति नहीं है किन्तु कहने का मतलब तो मेरा यह है कि कांग्रेस का या किसी जमायत का अपने से बाहर के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। तो उस तरह की जमायत से किसी असली किस्म की उन्नति मिलना दुश्वार मानना चाहिए। कांग्रेस की राजनीति अब भी दो प्रकार की मनोवृत्तियों की रगड़ झगड़ है। (Idealogy) शब्द उन तत्वो को बहुत बुरा प्रकट करता है जिसम दर असल सघष है। (Idealogy) तो कुछ सुलझे हुए जाने-बूझ विचार-पद्धति को कहेंगे। लेकिन असल म तो दो किस्म की तबियतें हैं दो मनोवृत्तियां जो रगड़ती और झगड़ती हैं। समाधान समन्वय में है। झगड़ने म तो झगड़ा ही है।

यह संस्कृति ताकत का भरोसा पकड़ती है। यह सब चीजों को उसी परिमाप में दलती है। वह जीवन को प्रबल की प्रमाणित मानती है। (The survival of the fittest) राजनीति का मद वहां शक्ति है। पहला सुधार ताकत पाना है दूसरा सुधार और ताकत पाना है। करो कुछ लेकिन ताकतवर बनो। सबसे बड़ी राजनीति यही है। इसीलिए जो ताकत हमारे बीच में सरकार की ताकत म मजबूत बनी बैठी है उसको धक्का ही दो। तब तक धक्का देने की नहीं सोचोगे तब तक तुम्हारा बल नहीं बढ़ेगा। बल के लिए विरोध चाहिए विरोध के लिए विरोधी चाहिए। और जो विरोधी है उससे कभी तो बातचीत और कैसी सा चर्चा और कैसा प्रेम-व्यवहार। वह जितना मरता है उतने हम जीते हैं।

दूसरी संस्कृति भिन्न है। उसको दमन ही कह लीजिये। उसमें युद्ध को अवकाश है। किन्तु युद्ध अपने में ध्येय कभी हो ही नहीं सकता। इसलिए युद्ध करते ही हैं तो प्रेम को सम्पूर्ण करने के लिए। अप्रेम है तो हम लड़ ही नहीं सकते। इसलिए जब तक हमारे मन म अप्रेम है तब तक हमारे लिए सार्वजनिक जीवन म भी स्थान नहीं होना चाहिए। अपने से बाहर हम प्रेम के प्रसार के लिए आ सकते हैं अप्रेम चुकाने नहीं।

लेकिन अप्रेम जगह जगह मजबूत बना बैठा है। शक्ति भी वहां ही है। तब अपने प्रसार के लिए निकली हुई प्रेम की शक्ति को जड़ता से युद्ध भी ठानना होता है। इसलिए नहीं कि जड़ माना गया पदार्थ या व्यक्ति मिट जाय बल्कि इसलिए कि उसकी जड़ता नष्ट हो जाय और वह अपने आप म चिन्मय बन जाय।

भव शक्ति। इस दर्शन का दावा है कि जो शक्ति अमोघ है वह तो यही है बाकी सब शक्तियां तो एक दिन टूट कर बिखर रहने लायक हैं। घुमड़ता हुआ आक्रोश शक्ति नहीं है। वह तो शायद अशक्ति ही है। वह आक्रोश जमकर जब सकल्प बना तब शक्ति बनता है। इसलिए शक्ति को साध्य मानकर तो चलना ही नहीं है। शक्ति तो आप ही आप भीतर से मिलती चली जायगी। उसकी चिन्ता खोटी चिन्ता है। चिन्ता तो असल मे सब की सब अपने भीतर के भ्रम का नाश करने में लगा देनी है। यह हुआ तो सब शक्ति मिली रखी है।

यह दो प्रकार की धाराएं आज हमारे कांग्रेस वर्किंग कमेटी म खुलकर द्वन्द्व मचा रही है। मैं उनको (Idealogy) नही कहूंगा। (Idealogy) धोखे का शब्द है। ऊपरी दृष्टि मे फासिज्म और सोशलिज्म दो नहीं एक हैं। सोशलिज्म कहते कहते कब फासिज्म मे उतर आना पड़ता है इसका पता भी नही चल पाता। इटली जर्मनी रूस इसके उदाहरण हैं। पहले दोनों मुल्क उन डिक्टेटरो के प्रभाव मे हैं। जो सोशलिज्म नाम पर चलने वाले उन उन मुल्कों के अन्य दलो से प्रबल साबित हुए और जिनके लिए यह अनिवार्य नही रहा कि वे अपने से बाहर किसी थ्योरी का टिकट अपने लिए लें। स्टालिन के साथ ऐसा नही हुआ और चलते 'इज़म' के साथ ही वह चलता रहा।

राजनीति 'इज़मों के सधि विग्रहो के आधार पर राष्ट्रीय प्रगतियों को चलाना पहली धारा और पहले दर्शन की पद्धति है। यहा समूह प्रधान है। व्यक्ति साधन है और गहरे जायें तो प्रधान समूह भी नही है। कुछ लोग ही प्रधान हैं। बाकी सब लोग साधन है। यहा व्यक्ति को समझाया नहीं जाता जोता दिखाया जाता है। जो सबस बड़ा आदमी हैं वह सब से बडा इसलिए है कि वह सब से बड़ा समर्थ है। दूसरी ओर जो प्रधान बनता है कि वह उतना साधारण और परायण भी बने। इसकी अपनी इच्छा कुछ नही है। शक्ति उसे नही चाहिए। शक्ति जब सौंपी ज उस पर दायित्व की भांति आती है तो वह उसके नीचे विनीत बनता है। वह उसके लिए पवित्र वस्तु है। उपभोग नही है जनता की धरोहर के रूप मे है और हां इसीलिए जितना वह सशक्त है उतना ही वह प्रार्थना की ओर झुकता है।

मैं मानता हू कि मानव और मानवता का विकास उसी ओर है। दर्प में नहीं है सम्पूर्ण म है। दर्प किसी का नही टिकता समर्पण से निम्न-से निम्न ऊचा होता है।

अगर हम इसी को मानव जाति की विकास नीति न मानें तो कौनसा सिद्धांत हमको अलग यह स्थिर करके दे सकता है कि 'अ' प्रेसीडेन्ट बने, 'ब'

न बने। प्रेसीडन्ट एक है। 'अ है तो ब' नहीं 'ब है तो अ' नहीं। लेकिन 'अ' 'ब' दोनों अपने को एक-दूसरे से बढ़कर समझते हैं तो क्या वे दोनों आपस में लड़कर फैसला करें ? लड़कर करें तो जीतने वाले के आगे तीसरा स और बढ़ा है। फिर उससे भी और लड़ो। चूंकि आदमी बना ऐसा है कि अपने को किसी से कम अक्लमन्द नहीं समझता। इसलिए किन्हीं दो आदमियों के बीच म से लड़ाई का सिलसिला ऐसे कभी खत्म नहीं हो सकता। पश्चिम की डेमोक्रेसीज सब असफल हुई और हो रही हैं। यह सब इसीलिए तो (Survival of the Fittest) हो तो वह आज हम क्यों पाते हैं कि इसी दुनिया में (Fittest) के बराबर (More fit) भी है और उसके साथ (Mere fit) भी है। तीनों हैं और उन तीनों में से किसी एक का भी जीवन सम्भव नहीं बनेगा। अगर शेष दोनों को नष्ट कर दिया जाय।

तो सब चीजों के आगे सब वादों और सब प्रगतियां के आगे मानव जाति के विकास का यह नीति सिद्धांत कि बड़ा वही है कि जो छोटे-से-छोटे के समक्ष अपने को गिनता है। जो किसी को आतंकित नहीं करता और सब को आनन्दित करता है। जो शक्ति से झुकता नहीं स्वयं झुकता है। जो चाहता सब की कृपा है और देता सबको अभय है। जिसके आगे यह नीति सिद्धांत न हो वह सही नहीं है। वह राजनीति हो संस्था हो कि व्यक्ति हो चाहे जो भी हो।

कनॅगन और उसके पहले भी इ० कमेटी के भाषण मैंने सुने बोलने वाले नेता थे। लेकिन जो गलत है वह नेता में भी गलत है और उन भाषणों में बहुत कुछ था जो सम्भावनाओं के सम्बन्ध में हमें आश्वस्त नहीं करता। लोग आपस में लस्टम-पस्टम मिले तो चल रहे हैं लेकिन मिलने की इच्छा उन में क्षीण होती जा रही है। आपस में धक्का-मुक्की करने की तबियत उभरती जा रही है। यही (Instinct) है जो कानून को जन्म देता है और पुलिस के सिपाही और जेलखाने के सीखचों को जन्म देता है। इस (Instinct) को मरदानगी का जामा अब चाहे पहना दिया जा सकता है। लेकिन यथार्थता से आँखें मीचकर हम उस यथार्थता से बच नहीं सकते। अन्दर का पशुत्व होना ही चाहिये जो इस (Instinct) को काबू में रखे। नहीं तो अहंकार जिसके पास नहीं है। राक्षसों के बारे में कहानियां कही जाती हैं कि काटकर उनके जितने टुकड़े किये जाते थे उतने ही और बन खड़े होते थे। अहंकार-अहंकार के बीच युद्ध ठनने लगेगा तो वही हाल होगा। ऐसे ही अहंकार कट कर और उभरता है। जिसे आज मैंने कुचला है अगर दो दिन दस दिन महीना बरस सभी बाद जब वे दम पायेंगे तो मुझे कुचले बिना क्यों रहेगा ? इसलिए मिलने की इच्छा किन्हीं दो

के बीच मे किसी स्टेज पर कम हुई कि वही से जीवन धर्म-युद्ध कम और पशु युद्ध अधिक हो सकता है। मानव पशु हो पर मानव मानव है और उसका विकास यह है कि वह सम्पूर्णत मानव हो और तनिक भी पशु न रहे।

शुरू राजनीति की बात से किया था। कहोगे कि हम आदर्श की बात पर आ उठे। लेकिन जिसको आदर्श कहो और जिसको राजनीति समझते हो उसमे ३६-वाला ३ और ६ का सम्बन्ध नही है अगर वे दोनो परस्परापेक्षित नहीं हो सकते हैं तो दोनों व्यर्थ हैं। और जब राजनीति के सुधार की बात है तब बेशक आदर्श के स्मरण की आवश्यकता होगी।

जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कोई नीति कोई सिद्धांत कोई बात जरूरत से अधिक यान्त्रिक बनी कि उसी क्षण से यह हिसाब हो जाती है। उसमें उगने की शक्ति बढ़ने की शक्ति सग्रह निग्रह की शक्ति चाहिए जो मशीन व पुरजे में नही रहती। मशीन की शक्ति अपरिमित है आदमी की परिमित। लेकिन मशीन के पेट में अपरिमित शक्ति को पाने के लिए आदमियो का इधन झोंका जायेगा तो देवता रोयेंगे दानव हसेंगे। हमें नही चाहिए मशीन की वसी अपरिमित शक्ति। मशीन में विज्ञान है तो रहो लेकिन जाने दो उस तरह का सारा विज्ञान। पर यह भ्रम है कि मशीन की शीघ्राहुति के जाने से विज्ञान चहीं जा सकता है। विज्ञान चला जा सकता है। तो विज्ञान का तो सार सस्कृतियों में सग्रहीत होता है। पर जाता भी है तो जाओ। मनुष्यता स्वस्थ और स्वच्छ हो तो कीमत में सारी मशीनें झोंक दी जायें तो कोई दद की बात नही।

लेकिन हम दूर न जायें और याद रखें इतना ही कि वैधानिकता मानवता के शोषण के लिए नही है उसके पोषण के लिए है। इसलिए राजनीति का नियामक तत्व मानव प्रेम यदि नही है तो राजनीति रुग्णा है उसकी चिकित्सा होनी चाहिए और मेरी धारणा है कि राजनीति म रोग के लक्षण इधर प्रकट होने लगे हैं। रोग तेजी से बढ़ना चाहता है। लकिन उसके बढने में खतरा है। वह खतरा योरप पर घटाटोप की तरह छा रहा ही है। सारी दुनिया उसके नीचे सहमी है। मानवता को सोचना होगा कि कैसे क्या उसके रोग की छूत से अपनी और उसका रक्षण करें। यह क्या समझा जाय कि भारत का भविष्य इसीलिए है कि और मुल्को म किये गये असफल प्रयोगों को वह दुहराय। भारत गुनाम रहा है और है। तो इससे उसके भविष्य की धारणा क्या कम उज्वल की जाय और वह भली भाति हो सकता है कि हिंदुस्तान के हाथों एक नया पराक्रम हो और मानवता के सामने एक नई दिशा खुले।

अप्रैल ३०

■ ■ ■

भारतीयता को खतरा

—भारतीयता को खतरा किस दिशा से है और उसका क्या उपाय है?

—सबसे बड़ा खतरा अपनी ही ओर से है। यानी अगर हम अपना निष्ठा खो देंगे तो कोई हमारी कुछ सहायता नहीं कर सकेगा। निष्ठा हमारी हिल चुकी है और उस तरह हम दिवालियेपन की ओर जा रहे हैं।

पश्चिम से जो 'उन्नति' शब्द आया है उसने हमें चक्कर में डाल दिया है। हम उन्नत होना चाहते हैं यानी नकल में उन पश्चिम के देशों के पीछे भागना चाहते हैं। यह बहुत बड़ा खतरा है। इस लोभ और तृष्णा में फंस कर भारत अपने घर की संभाल नहीं करेगा तो घर में सब कुछ रहते वह कंगाल बन जायगा। समय था और है कि अंग्रेजीयत और अंग्रेजी का मोह हम छोड़ देते। समय रहते पर यह न हो सका तो कहना होगा कि गांधी का आना और जाना बेकार हुआ। अंग्रेजी व अंग्रेजियत ने हमारी मति को हर लिया है।

—आपने कहा कि सबसे बड़ा खतरा अपनी ओर से है। निष्ठा हमारी हिल चुकी है तो इस निष्ठा को जमाने व खतरे को दूर करने के क्या उपाय हैं?

—हम अपनी धरती की ओर धरती में लगकर रहने वाली जनता की ओर देखें। अभी हमारा मन यानी बुद्धि पश्चिम की दिमागीपन में उलझी है। आगे उसकी बाहरी सफलता पर लग गई है। आज हम देखें और बुद्धि को अपनी ओर मोड़ें तो जान पड़ेगा कि दुनिया में चल रही होड़ में पड़ना हमारे लिए जरूरी नहीं है। तब हम अपने अन्तर से शक्ति प्राप्त करेंगे और अपने अभावों को भर सकेंगे।

आज खाना विदेशों से हम तब पाएं तब हमारा पेट भरे। यह हालत प्रबन्ध अव्यवस्था के कारण ही हो सकती है। धरती हमारे पास कम नहीं है और उस पर काम करने के लिए आदमी भी कम नहीं हैं। फिर अन्न की कमी न कोई मयस्सर दोष ही कारण हो सकता है। वह दोष यह है कि मन हमारा हमारे पास नहीं है वह बड़ी-बड़ी स्कीमों में है। यानी तृष्णाओं और स्वप्नों में

कम गया है। वह विलायतीपन के पास बंधक रखा है। अनाज और कपड़ा दोनों हमें इस तरह अपने लिए प्राप्त कर लेना है कि अतिरिक्त मानव-शक्ति उसमें खप न हो। केन्द्रित उत्पादन वह उपाय नहीं है। इसलिए औद्योगीकरण सही राह नहीं है। उससे पहले वितरण की और फिर सम-वितरण की समस्या पैदा होती है। वह हल ही नहीं हो पाती और सरकार की अपरिमित शक्ति को चुका डालती है। विकेन्द्रित उत्पादन याने (Village Economy) के सहारे हमें चलना होगा। वितरण की समस्या न खड़ी होगी। क्योंकि उत्पादन और उपयोग के बीच इतना फासला ही न होगा। उपभोक्ता ही लगभग उत्पादक होगा और इस तरह एक बृहत् चक्कर बच जायगा।

पर यह होना आसान नहीं है। क्योंकि मन-बुद्धि दूसरे तरह के ही गणित तक में हम फंसा बठे हैं। वह तक आदमी और आदमी के बीच में वही मशीन को ले आता है। उससे लेखा ज्यों-का-त्यों रहता है फिर भी कुनबा डूब जाता है। केवल पदार्थ का हिसाब आदमी की समस्या को निपटा नहीं सकता। परिणाम यह है कि उस आर्थिक हिसाब को लेकर कमेटियों पर कमेटियां बठती हैं और एक के बाद दूसरी योजनाएं आती है। फिर भी संकट उत्कट होता जाता है।

इसके लिए सबसे पहले हमे अपनी श्रद्धा को समालना होगा। तय कर लेना होगा कि हम ट्रूमन की या स्टालिन की राह चलना चाहते हैं या गांधी की राह पर। गांधी भारतीय आत्मा के प्रतीक थे। गांधी की राह में भारत का त्राण है। एक बार कम कर यह निर्णय करलें और फिर हर परिणाम का सामना करने को कटिबद्ध हो जाय तो देखेंगे कि अश्रद्धा या मानसिक दुबलता के कारण जिन कठिनाइयों का हौआ बना कर उस राह आने से हम झिझकते थे वे उतनी घोर नहीं रह जाती हैं और देखते-देखते वे पार हो जाती हैं। अभी तो पश्चिम से प्रभावित हमारी बुद्धि उस श्रद्धा में अपने को सहसा खोने के लिए तैयार न होगी लेकिन दूसरा उपाय नहीं। कौन नहीं जानता है कि भुगते बिना सीखा नहीं जाता है। लेकिन क्या हम अभी काफी भुगत नहीं रहे हैं?

गांधीजी की राह हम लेना है तो एक बात हम फौरन पहचान लेंगे। वह यह कि उन्नति अधिक खर्च करने या कर सकने में नहीं है। दो सौ रुपया मासिक से पांच सौ रुपया और पांच सौ से एक हजार और दो हजार मासिक खर्च करने वाले व्यक्ति का जीवन मान उतना ही ऊंचा है यह वहम है। आदमी जितना ऊंचा है आवश्यकताएं उसकी उतनी ही न्यून हैं। इसलिए भारत का सर्वश्रेष्ठ पुरुष न धनिक है न सत्ताधीश वह तो साधु है। इस तरह जो जितना रोगी निर्बल अपढ़ और हीन है उसको उतनी ही अधिक वस्तु की सुविधा

चाहिए। याने महल और बगले। पहले ऐसे लोगों के लिए हों जो स्वस्थ और समर्थ हैं वे ऐसे सुभीतो से परे हैं। उनका मामूली मकान और मामूली रहन सहन में आपत्ति नही हो सकती। उनको कम पदार्थ मे अधिक सुख निकालने की कला आनी चाहिए। आडम्बर और झूठी इज्जत की आवश्यकता उन्हें नहीं होनी चाहिए। उनको चलाने वाली प्रेरणा प्रेम और सेवा है तो दूसरी व्यर्थ बातों मे लोभ होने की उन्हें आवश्यकता नही। जो अहकार से चलते हैं वे ही दूसरे से बढ-चढ दीखना और रहना चाहते हैं। अर्थात् उन्नति और ऊचाई सम्पत्ति म नहीं पवित्रता म है। जीवन का मान बौद्धिक नही नैतिक है।

जब तक मूल दृष्टि मे यह क्रान्ति नही आ जाती हमारी महगाई और दीनता दूर नही हो सकती। पसीने की मेहनत से आने वाला अनाज तब तक पढी-लिखी दिमागी एय्यारी के पेट में जाता रहेगा और मेहनत भूखी-की भूखी रहेगी।

अवश्य यह एक बडी क्रान्ति की बात है। शायद इससे बडा क्रान्ति दूसरी हो नही सकती। पर उस क्रम पर बढने वाले जीवन की बात सोचने से भी जैसे डर लगता है। अपरिग्रह भाव पर उतरना और रहना सचमुच खेल-तमाशे की बात नही। उसम अपन उस अहकार का तिल तिल मारना होता है कि जिसको बढा चढा कर हम हाकिम और शासक बनते हैं। पर शासक और हाकिम ज्यादा बर्दाश्त नही किये जायगे। आवश्यक होगा कि व उत्तरोत्तर सेवक बनें। केवल सेवा का नाम न लें बल्कि उसके सिवा कोई दूसरी प्रेरणा अपने पास न रखें। महत्वाकाक्षाओ को जिनको उन्नति का माप माना जाता है अपने अन्दर से खतम कर डालें। प्राप्त कर्तव्यो की पूर्ति म अपनी परिपूर्णता देखें।

हम अपन दर्शन म याने दृष्टि म यह क्रान्ति ला सकें तो आग का अर्थ आप-ही आप साफ दीखने लग जायगा। पर आवश्यक यह है कि जिस मिथ्या दर्शन म हम आज चल रहे हैं उससे छुट्टी पायें और उसे छुट्टी दें।

—यह तो हुई राजनीति व आर्थिक प्रश्न की बात। पर अनिवार्यत सांस्कृतिक जीवन की विशुद्धता अथवा उसमें व्यक्त प्रामाणिकता की पृष्ठभूमि हमारे नैतिक जीवन की मजबूती व स्थिरता के लिए आवश्यक है—उस सबध में कौनसा नया कार्यक्रम आप सोचते हैं?

आत्म शुद्धि का काम नित्य नैमित्तिक व्यवहार के कामों से अर्थात् उत्पादन और क्रय विक्रय आदि से अलग करने वाला काम नही है। आत्मशुद्धि क लिए सब म जाना होगा जहा धातु का स्पर्श भी निषिद्ध होगा और ससार के लिए इस तरह बाजार चलाना होगा कि प्रेम के सिवा दूसरी बात न सूझे—सो इस

तरह के विभक्त व खण्डित जीवन की चर्चा यहां नहीं है। असल में दोनों का एकीकरण साधना है। संस्कृति उसके सिवा क्या है? सांसारिक व्यवहार को स्वार्थ और भोग की प्रेरणा के बजाय निष्काम सेवा की भावना से चलाएं यही तो संस्कारिता है। प्रीतिभाव जगाने के लिए प्रार्थना और उपासना उपाय हैं। उसी प्रीतिभाव की वाङ्मिक अभिव्यक्ति साहित्य है कार्मिक अभिव्यक्ति लोक सेवा। कुल मिलाकर हम उसी को संस्कृति का नाम देते हैं।

आज भारत को आर्थिक चिन्ता है। उसका मतलब है आयात निर्यात का लेखा-जोखा। आयात कम करना है, निर्यात बढ़ाना है। हम कच्चा माल बाहर भेजते हैं और एवज में बड़ी मशीनें मंगाना चाहते हैं। लेकिन एक पक्का माल भी हमारे पास था जिसको हम बाहर भेज सकते थे। उस निर्यात की तरफ हमारा ध्यान नहीं है। यह हमारी आत्मश्रद्धा के अभाव के कारण है। मैं मानता हूं कि आज विदेशों में उस माल की मांग है। उस माल के हम अब भी साहूकार हैं। वह धन धरती के भीतर खानों में गड़ा पड़ा है, यह भी नहीं माल बहुत कुछ तैयार हमारे यहां पड़ा है। हम क्यों उसका निर्यात करने की नहीं सोचते हैं? वह बड़ी कीमती चीज है और निश्चय ही अमरीका के बहुत से डालर हमारे देश में खींच लायगी। वह चीज हमारी संस्कृति है। गांधी तो बेशक नहीं है पर वह धरती है जिसने गांधी उपजाया। उसकी आत्मा है जिसका प्रकाश हम ढूंढने पर अपने यहां जहां-तहां पा सकते हैं। उसे हम क्यों बाहर नहीं भेज सकते हैं? ऐसे लोगों की आज भी भारत में कमी नहीं है जो सौ फीसदी श्रद्धा के बल पर रहते हैं पैसे के सहारे की उन्हें आवश्यकता नहीं। ऐसे श्रद्धा के धनी अनेकानेक सन्त-साधु हमारे पास हैं जिनकी वाणी संकलित की जा सकती है और बाहर भेजी जा सकती है। हमारे अखबार रात दिन जाने क्या कूड़ा कात ढोते और छापते फिरते हैं। अमरीका इंगलैंड से ढेर-का-ढेर छपा कागज हमारे पास चला आता है और हमसे पैसे ले जाता है साथ में हमीं से हमारी आत्मा फुसला ले जाता है। इस दोहरी मार के नीचे भारत बिचारा बेबस पस्त है। क्यों नहीं उसकी आत्मश्रद्धा जगाकर उसके प्रकाश को बाहर संसार में भेजा जाता? लेकिन वह नहीं हो रहा है। उधार पर हम जीते हैं और जैसे जीवन यापन का एक वही उपाय हम दीखता है। अंग्रेजी की किताब विलायत में निकलते देर नहीं होती कि यहां नगर-नगर में आ फैलती है। अंग्रेजी न हो तो यहां के प्रान्त एक-दूसरे की खबर भी नहीं रख सकते। क्या नहीं अन्तर-प्रान्तीय रूप से प्रान्तीय साहित्यों का परस्पर अनुवाद होना कि इस तरह भारतीय संस्कृति की प्रतिरूप हमारे पास भारतीय साहित्य की पूंजी तैयार हो

जाय। युनेस्को की ओर से डालर के कूपन देशों को बटते हैं और ये देश अपने को कृतार्थ मानते हैं। भारत क्या इस क्षेत्र में ले ही सकता है दे कुछ नहीं सकता ? मैं समझता हूं कि हमारे काम का यह सांस्कृतिक पहलू है और इसमें तुरन्त हमको लगना चाहिए। उधार पर रहना छोड़कर अपने आत्मबल के आश्रय रहना चाहिए। राजनीति को अपनी धरती से यन सीखना चाहिए और पश्चिम के दंगों की ओर से टकटकी हटानी चाहिए।

■ ■ ■

अक्तूबर ४०

भारत का मौलिक मार्ग

राजनीतिक काम करने वालो के बीच होने का अवसर कभी-कभी आ जाया करता है। मैंने देखा है कि ऐसे समय बठकें जम कर बठी है। और बातचीत गरमा-गरम हो आई है। पालिटिक्ल कांशसनेस' को ऐसे जमावों में कमी भी नही देखी बल्कि प्रचुरता ही देखी है। सरकारी या काग्रसी ओहदेदारों की आलोचना ऐसे मौको पर तीखो हो आई है।

आज तक यह समझा और कहा जाता था कि जनता म राजनीतिक चेतना को जगाने की जरूरत है। उसे अपने अधिकारो का पता नही है। वह काफी आलोचक नहीं है। धम से वह चिपटी है और राजनीति म वह पिछडी है। वह दीन है दलित है जबकि धरती पर आख खोलकर चलने वाली कौमें ताकतें पाती गई और तरक्की करती गई हैं।

इसलिए अंग्रेजी पराधीनता से चोट खाकर और अग्रेजी शिक्षा और अग्रजी राजनाति से प्रबुद्ध होकर सियासत समझने वाले देश के सेवकों ने कस्बों और गावो में जा जा कर राजनीतिक चेतना को सुलगाया। परिणाम मुल्क अब करवट लेकर उठ बठा है। पराधीन अब वह रह नही सकता। अब उसे सघष की माग है। हो जाय एक बार खुलकर लडाई। अहिंसक वह भले हो पर लडाई एक हो जानी चाहिए। मुल्क उद्यत है उतावला है पालिटिक्ली कांशस' है इत्यादि। और इस राजनीतिक सचेतनता का प्रमाण हरेक जिले में मौजूद है। किसी चुनाव की सरगर्मी को देखिये। और तो और सिर फुटौवल तक आप देख सकते हैं। जगह एक है उम्मीदवार अनेक हैं। यह क्या राजनतिक चेतना का अचूक प्रमाण नही है?

लेकिन भारत म जब इस कदर राजनीतिक प्राण भर गया है तब गाधीजी के खून म यह सर्दी क्या दिखाई दती है? जब दखिये झुकने की और सम झौते की बातें। राजकोट रियासत म राजा के साथ प्रजा कसी शान से लड रही थी। दूसरी रियासतो म राजनतिक चैतन्य का कसा उभरता उभार था। रियासतें क्या उन जन आन्दोलनो के वेग को झेल सकती थीं? पर गाधीजी के

हाथ में जब आई उन्होंने ठण्डे छींटे ही डाले। यहां तक कि आंदोलन को लग भग भुला दिया। राजकोट में सहसा प्राप्त होने वाला उनका प्रकाश क्या है? क्या यह एकदम हथियार डाल रहना नहीं है? क्या संघर्ष के रास्ते से डरकर निवेदन और प्रार्थना के उपायों को अपनाने का ही यह आग्रह नहीं है?

और उनका यह नया कार्यक्रम क्या बड़ी पुराना नहीं है? कहा जाता है कि कांग्रेस कमेटियां चरखा चालाए हो जाय। राजनीतिक चेतना को जगाने और बढ़ाने की जगह यह चरखे से इसे दबाने और बुझाने की ही बात क्या नहीं की जा रही है? चरखा कातिये और चरखा कातिये राजनीति भूल जाइये और चरखा चलाइए। स्वराज्य है तो चरखे में है। मत बोलिये मत मीटिंग कीजिए मत थिंक कीजिये मत वह सब काम कीजिए जो राजनीतिक गर्मी पैदा करने वाले समझे जाते हैं। और कीजिये क्या कि चरखा चलाइए।

गांधी जी की यह बात यह रुख एकाएक समझ में नहीं आता। मालूम होता है कि यह सब किये धरे को चौपट करना ही तो नहीं है। इन बीस वर्षों में हम राजनीतिक चेतना और ज्ञान को दूर और पास फैलाने में लग रहे हैं। ऐसा साहित्य लिखा और बांटा है और अर्थ-नीति की भाषा को और इनसाफ की चर्चा की है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की पेचीदगियों का खोलकर बताया है। चुनाव की लड़ाइयां लड़ी हैं जिनसे जनता में भाग पैदा हुई है और उसे पॉलिटिकल ट्रेनिंग मिला है। बल्कि ऐसा जाय तो अब वक्त था कि राष्ट्रीय सेना खड़ी की जाती और तलवार के साथ लड़ाई छेड़ दी जाती। ऐसे तन के मौके पर क्या यह गांधी जी के अहिंसा और चरखा आ जाया करते हैं! मुल्क में प्राणों का वेग उभार पर है। उस वक्त रिवोल्यूशन का नारा तो उठाया नहीं जाता है चरखे की पुरानी बात कही जाती है! बोलिये उसे नेतृत्व का दिवाला न कहें तो क्या कहें?

अब तक की राजनीतिक राजनीति में जो लोग साँस लेते रहे हैं वैसी ही अहमियत जिनकी बन गई है और जो उसको पलकर उसी में अपनी जगह देखते हैं उन्हें गांधी जी की बात पर और नेतृत्व पर ऊपर से अजी झुंझलाहट होना स्वाभाविक है। गांधी जी के लिहाज में या और किसी कारण वह अपनी झुंझलाहट न भी प्रकट करें पर मन-मन में असंतुष्ट होने का कारण उन्हें अवश्य है।

पर सच यह है कि गांधीजी में राजनीति को एक नई दिशा दिखता है। यह राजनीति राजनीतिक परम्परा वाली नहीं है। वह जीवन से विघटित नहीं है और वह शास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है तो इसलिए कि उसमें अधिक तत्पर

प्रतमुखी और मानवीय है। उसम मुल्कों के विविध विधानों में दक्षता पाने के बजाय पड़ौसी के प्रति अपने कर्तव्य को समझना और जानना अधिक महत्व रखता है। यानी राजनीतिक चेतना (Political Cousness) कोरी नहीं है बल्कि नागरिक दायित्व की चेतना (Civic Cousness) की उसमें मांग है। इतिहास म और वर्तमान मे हम देखते तो हैं कि अपने रास्ते चलकर राजनीति मानवता को नरसहार में ही सदा पटक देती आई है। उसकी जड़ अहकार है और उसका फल साम्राज्य लिप्सा है।

भावुकता के द्वारा ही हम यदि राजनीति को न पकड़ें तो मालूम होगा कि सच्ची राजनीतिक चेतना नागरिक दायित्व चेतना है। जो नागरिक कर्तव्य के धरातल पर घूमवत् हो जाती है ऐसी राजनीतिक गरमागरमी अन्त मे विधायक नहीं हुआ करती है बल्कि विधायक हो जाती है। किसी राष्ट्र का जब बचपन हो और उसका स्वाधीनता का आन्दोलन निरे शशव मे हो तभी तक भावुक आवेश के लिए जगह हो सकती है। समझदारी के साथ तो उस गरम को ठण्डा सकल्प बन जाना चाहिए और राजनीति को शाब्दिक की जगह अधिकाधिक सचमुच होते चलना चाहिए।

मुझे प्रतीत होता है कि जब कांग्रेस जनो का ध्यान गांधीजी सब प्रकार के राजनीतिक मतवादो से हटाकर चरखे पर केन्द्रित कर देना चाहते हैं तब वह राजनीतिक चेतना म नागरिक-दायित्व (सिविकसेंस) का सार भर देना चाहते हैं। अन्यथा अन्दर से खोखली रहकर राजनीतिक चेतना अनिष्ट साधन ही कर सकती है।

वह राजनीति जो अधिकार पाने या छीनने या बढाने पर ही निगाह रखती है अन्त में आपसी लड़ाई को और शक्ति की पूजा को ही जन्म दे सकती है। यह बात योरप के उदाहरण से स्पष्ट हो जाना चाहिए। इसलिए सच्ची और विधायक राजनीति वही समझी जानी चाहिए जो आदमी और आदमी के सम्बन्धों को सम और स्वच्छ बनाने की दिशा म सीधा प्रयत्न और प्रभाव दिखाती है। अर्थात् जो प्रत्यक्षत नैतिक है।

अगर यह सच है कि किन्हीं दो पड़ोसियों में हित विग्रह की जगह हितैक्य का सम्बन्ध सच्चा और सुखकर सम्बन्ध है तो राजनीति का लक्ष्य यही हो सकता है कि वैसे आपसी सम्बन्धों को सम्भव होने और पनपने दे और मानव सम्बन्धों में आई हुई विषमता को न्यूनसे न्यूनतर करे। अगर शोषण समाप्त होना है तो हमारे समाज के ढाचे को तदनुरूप बदलते जाना होगा और जीवन को सादा होना होगा। पचीदा और असख्य धाराओं वाला राजनीति-शास्त्र

हाथ म जब भाई उन्होंने ठण्ड छीटे ही डाले। यहा तक कि
भग बुझा लिया। राजकोट म सहसा प्राप्त होने वाला उन
क्या यह एकदम हथियार डाल रहना नही है? क्या सधा
निवेदन और प्रार्थना के उपायो को अपनाने का ही यह
और उनका यह नया कार्यक्रम क्या वही पुराना न
कि काग्रेस कमेटियां चरखा शालाए हो जाय। राजनीति
और चतान की जगह यह चरखा से इसे दवाने और बु
नहीं की जा रही है? चरखा कातिये और चरखा क
जाइये और चरखा चलाइये। स्वराज्य है तो चरखा म
मीटिंग कीजिये मत पिकेट कीजिये मत वह सब काम
गर्मी पदा करने वाले समझे जाते हैं। प्रार कीजिये क्या
गांधी जी की यह बात यह रुख एकाएक समझ
होता है कि यह सब किये धरे को चौपट करना ही तो
म हम राजनीतिक चेतना और ज्ञान को दूर और पास
वैसा साहित्य लिखा और बाटा है और अर्थ-नीति की
की चर्चा की है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की पेचीदगियो
चुनाव की लड़ाइयां लड़ी हैं जिनसे जनता म भाग पा
टिकल ट्रेनिंग मिला है। बल्कि देखा जाय तो अब वक्त
की जाती और तलवार के साथ लड़ाई छेड़ दी जाती।
क्या यह गांधी जी के अहिंसा और चरखा का जाया
का वर्ग उभार पर है। एस वक्त रिवोल्यूशन का नारा
है चरखे की जनानी बात कही जाती है! सोचिये उ
मर्द तो क्या मर्द?

अब तक की राजनीतिक राजनीति म जो लोग स
उद्देश्यित जिनकी बन गई है और जो इसम पलकर उ
हैं उन्हें गांधी जी की बात पर और नेतृत्व पर ऊब
होना स्वाभाविक है। गांधी जी के लिहाज म या और
अभ्यास न भी प्रकट करें पर मन-मन म अनास्था
अवश्य है।

पर सच यह है कि गांधीजी म राजनीति की एक
वह राजनीति राजनीतिक परम्परा गामी नहीं है। क
है और वह शास्त्रीय और क्रमिक नहीं है तो इसलिए

स्वत्व, सम्पत्ति और सत्ता . १

आये दिन अखबारों में जो गरमा-गरम खबरें हम पढ़ते हैं उनसे साफ जाहिर है कि हम युद्ध की तरफ जा रहे हैं। इससे आँख मीचना सम्भव नहीं है। यों ख्याल में और सपने में हर कोई बच सकता है लेकिन वह बचाव थोथा है।

युद्ध की तरफ हम जा तो रहे हैं पर क्या जान-बूझकर जा रहे हैं? इसका भी उत्तर निश्चित है कि नहीं, युद्ध कोई नहीं चाहता, युद्ध से सब डरते हैं। बस भर सब उसे टालना चाहते हैं, तयारी मगर करते हैं तो हमले की नहीं, सिर्फ रक्षा की करते हैं। कोशिश सबकी शांति की है, मगर गति युद्ध की है। ऐसा मालूम होता है कि इसमें हम बेबस हैं। जिधर जा रहे हैं अपने बावजूद जा रहे हैं, कोई मजबूरी है, बाध्यता है, जो कोई और राह हमारे लिए नहीं रहने देती।

विचार यही करना है कि वह बेबसी क्या है, कैसे उस काटा जा सकता है? युद्ध युद्ध को खतम करने के लिए होता है। लड़नेवालों से पूछ लीजिए, लड़ाई मिटाने के लिए ही वे लड़ते हैं। पर अनुभव बताता है कि लड़ाई ऐसे खतम नहीं होती, बल्कि अगली के बीज बो जाती है। फिर भी शांति की चाह में हम जो सदा लड़ने तुल पड़ते हैं सो क्यों? इसके कारण गहरे हैं—इतिहास में भी और स्वभाव में भी।

लड़ाई जहाँ और जब होती है वहाँ और तब वह अनिवार्य ही हो आती है। उस जगह उसे रोकना सम्भव नहीं होता। मगर वह बनती तब और वहाँ नहीं है। जसे बादल जो पानी यहाँ बरसाते हैं वे सात कण-कण करके कहीं दूर से हैं, इसी तरह लड़ाई बनती वहाँ नहीं, जहाँ लड़ी जाती है। लड़ी मदान में जाती है और लड़ते सिपाही हैं, पर बनती वह नित्यप्रति के नागरिक जीवन में हमारे द्वारा ही है। हम यह सोचें कि अस्त्र-शस्त्र को नष्ट कर देने से लड़ाई मिटेगी (जसा कि निःशस्त्रीकरणवादी सोच लेते हैं) तो यह वसा ही होगा जैसा यह समझना कि फलों को नोंच फकने से उनका पदा होना आगे बन्द हो जाएगा। जड़ों के आधार पर वृक्ष होता है और वृक्ष में फल लगते हैं। फल के लिए वृक्ष से भी लड़ना काफी नहीं है, क्योंकि वह जड़ के अधीन है। सोचना

मानवता की सीमा नहीं है। वह तो हमारी आतरिक संदोषता का सबूत है। उस शास्त्र की विचक्षणता जीवन की सफलता नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान का पण्डित सच्चे मन से कातने वाले कतिन से बढ़कर राष्ट्र-सेवक नहीं है। दो घण्टे सोच देना दो घण्टा चर्खा कातने से बढ़कर राजनीति नहीं है। अगर हम राजनीति को बहुतेरी अमूर्तताओं से मुक्त करके जीवन की सम्पताओं से जोड़ना सीखेंगे तो देख सकेंगे कि चर्खे की बात सुनने में दिमाग वालों को तुच्छ-सी लगे पर परिणाम में वह वैसी तुच्छ कदापि नहीं है। भारत का पिछला २० वर्ष का जीवित इतिहास हमारी आंखों के आगे है और अगर हिंदुस्तान आत्म विश्वास से काम ले सके और उधार की राजनीति को ही समूची राजनीति मान बैठने की गलती न करे बल्कि अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुकूल मौलिक रहे तो बिल्कुल सम्भव है कि उसके और उसके चर्खे के उदाहरण से दुनिया की राजनीति एक सच्चा सबक सीखे।

नवम्बर ४०

स्वत्व, सम्पत्ति और सत्ता : १

आये दिन अखबारों में जो गरमा-गरम खबरें हम पढते हैं उनसे साफ जाहिर है कि हम युद्ध की तरफ जा रहे हैं। इससे आख मीचना सम्भव नही है। यों ख्याल म और सपने मे दूर कोई बच सकता है लेकिन वह बचाव थोथा है।

युद्ध की तरफ हम जा तो रहे हैं पर क्या जान-बूझकर जा रहे हैं? इसका भी उत्तर निश्चित है कि नही युद्ध कोई नहीं चाहता युद्ध से सब डरते हैं। बस भर सब उसे टालना चाहते हैं तयारी मगर करते है तो हमले की नही सिफ रक्षा की करते हैं। कोशिश सबकी शाति की है मगर गति युद्ध की है। ऐसा मालूम होता है कि इसमें हम बेबस हैं। जिधर जा रहे है अपने बावजूद जा रहे हैं काई मजबूरी है बाध्यता है जो कोई और राह हमारे लिए नही रहने देती।

विचार यही करना है कि वह बेबसी क्या है, कसे उसे काटा जा सकता है? युद्ध युद्ध को खतम करने के लिए होता है। लडनेवालों से पूछ देखिए लडाई मिटाने के लिए ही वे लडते हैं। पर अनुभव बताता है कि लडाई ऐसे खतम नही होती बल्कि अगली के बीज बो जाती है। फिर भी शाति की चाह म हम जो सदा लडने तुल पडते हैं सो क्यों? इसके कारण गहरे हैं—इतिहास में भी और स्वभाव में भी।

लडाई जहा और जब होती है वहां और तब वह अनिवाय ही हो आती है। उस जगह उसे रोकना सम्भव नही होता। मगर वह बनती तब और वहा नही है। जसे बादल जो पानी यहा बरसाते हैं वे लाते कण-कण करके कही दूर से हैं इसी तरह लडाई बनती वहा नहीं जहां लडी जाती है। लडी मदान म जाती है और लडते सिपाही हैं पर बनती वह नित्यप्रति के नागरिक जीवन म हमारे द्वारा ही है। हम यह सोचें कि अस्त्र-शस्त्र को नष्ट कर देने से लडाई मिटेगी (जसा कि निःशस्त्रीकरणवादी सोच लेते हैं) तो यह वसा ही होगा जैसा यह समझना कि फलों को नाश फेंकने से उनका पदा होना आग बन्द हो जाएगा। जडों के आधार पर वृक्ष होता है और वृक्ष म फल लगत हैं। फल के लिए वृक्ष से भी लडना काफी नहीं है क्योंकि वह जड के अधीन है। सोचना

जड़ के बारे में होगा और इलाज का भी वहीं पहुंचना होगा।

फल में तो युद्ध दीख ही रहा है। वृक्ष है हमारा सामाजिक और नागरिक जीवन और इसके मूल में है हमारा स्वत्व और सम्पत्ति का भाव और तद्‌गत व्यवस्था।

इतिहास में जाने की आवश्यकता नहीं है। हम जानते हैं कि आदमी जानवर की तरह स्वतंत्र नहीं है, इसीसे वह आदमी है। इसीसे जहां वह रहता है उसे जंगल नहीं कहते, नगर कहते हैं, समाज कहते हैं। यानी आदमी वह है जिसे स्व ही सब-कुछ नहीं है, जिसे पर का भी ध्यान है, इसलिए जिसे परस्पर जीना सीखना होता है। इसी आपसीपन के विकास में आदमी का विकास है, इसीमें उसकी संस्कृति और उसकी सभ्यता है।

स्व को लेकर तो हम जनमते ही हैं। उस स्वत्व के आधार पर हम सम्पत्ति की रचना करते हैं, यानी स्वत्व का विस्तार करते हैं। इस विस्तार में दूसरे स्वत्व शामिल होते हैं। स्व का विस्तार पर को अपनाने के द्वारा होता है। ऐसे विवाह होता है और परिवार बनता है—सम्पत्ति की नींव पड़ती है। 'यह मेरा है' यानी मैं इसके लिए जिम्मेदार हूं। मेरी स्त्री, मेरा बच्चा, मेरा पति, मेरा बाप—ये सब नाते-रिश्ते यह जतलाने के लिए पैदा हुए कि हम एक-दूसरे के लिए जिम्मेदार हैं, एक-दूसरे के दायित्व में आपस में बंधे हैं। आदमी मेहनत करके जितना जो लाता है पारिवारिकों में बांटकर खाता और भोगता है। यह हुई उसकी कमाई और उसमें में जो बचा वह हुई उसकी सम्पत्ति।

परिवार हमारे समाज की इकाई है। इस इकाई का स्वधर्म है कि वह सम्पत्ति बनाए और रखे। अन्यथा परिवार हो नहीं सकता, जी नहीं सकता। केवल एक एक के पास अपना स्वत्व हो तो सम्पत्ति नाम की चीज पैदा नहीं होती है, पैदा ही वह परिवार और पारिवारिकता के साथ होती है।

हम इस आधार पर रहते और बढ़ते चले आए हैं। पर थोड़ी दूर जाकर हमने देखा कि परिवार से और परिवार के लिए सम्पत्ति होने से ही काम नहीं चलता। परिवार दूसरा भी है, और सम्पत्ति बनाने का क्षेत्र उस दूसरे से सीमित है। कुछ दूर पर सम्पत्ति दूसरे की शुरू हो जाती है और वहां उसकी अपनी सीमा आ जाती है। सीमा किसी को अच्छी नहीं लगती। ऐसी अवस्था में तीसरी चीज आदमी ने अपने बीच में पैदा की और वह थी सत्ता। सत्ता यानी आपसीपन की वह शक्ति जिसके सहारे सम्पत्ति का परस्पर नियमन रहे और सबके स्वत्व समत रहें। यह सत्ता कुछ नतिकसी चीज थी। जब सम्पत्ति सुनिश्चित है और परिवार सुनिश्चित है, सत्ता उस भांति सुनिश्चित नहीं थी। वह एक पंचायत भाव था, एक तरह का अपने भीतर से उठा नियमा मतिक नेतृत्व।

इसम क्षमता थी, पर इसका अपना अलग कलेवर न था। तब लोग मेहनत करते थे अपने अपने परिवारों के निमित्त से उपाजन करते थे और उस वृत्त में सम्पत्ति का रक्षण और उपभोग करते थे। सत्ता के पास अपनी सम्पत्ति न थी केवल नियमन की शक्ति थी। सत्ता का मतलब था सम्मिलित भाव जिसका एक या एकाधिक व्यक्ति प्रतीक था। कहना चाहिए कि स्टट तब एक भाव था, उसने अपना शरीर नहीं प्राप्त किया था।

तबसे मानव-समाज फलता आया है और उसके रहन-सहन की इकाइयां उतनी छोटी नहीं रह गई हैं। जटिलता भी बढ़ी है। लाखों-लाख आदमी बहुत पास-पास घिरकर या मंजिलों में एक-दूसरे के सिर पर रहने को मजबूर हुए हैं। शहर खड़े हुए हैं जिनमें ऊपर आसमान की तरफ टगकर आदमी को रहना सीखना पड़ा है। जानें कितनी मंजिलों के स्काई-स्क्रेपर अमरीका में सिर ताने हुए हैं। यह सब इस कारिन्स से कि केन्द्र के पास से-पास लोग खिंचे और सटे रहें। फलकर रहने में जो केन्द्र से दूर जा पड़ता है वह घाटे में रहता है। इस तरह के रहन-सहन के निर्वाह के लिये विज्ञान को और उद्योग को भी बड़ी तरक्की करनी पड़ी है। अवकाश सिमटा है तो समय को भी सिमटना पड़ा है। जीवन में गहरी केन्द्रितता और द्रुतता आ गई है।

इस विकास के अनुरूप सभी बातों में परिवर्तन हुआ है। सम्पत्ति का भाव वस्तु से हट गया है वह क्रेडिट-नोटों में केन्द्रित हो गया है। अब सम्पत्ति का रूप 'चेक-बुक' है या दस्तावेज। धन कागजी है उन कागजों के बिना आदमी अपने को निधन मानता है। वस्तु श्रम से पैदा होती है और भोग में भी वस्तु ही आती है पर श्रम जिसके पास है उसके पास अभाव है और जिसके पास वस्तु सब तरह की है और प्रचुर मात्रा में है वह कुछ भी करता नहीं दीखता। घर में पानी आ जाता है रोशनी आ जाती है गैस आ जाती है और सब सुभीते हो जाते हैं, और इसमें से किसी के लिये आदमी को मेहनत नहीं करनी पड़ती सिर्फ खर्च करना पड़ता है। खर्च जिसका करना पड़ता है वह सरकारी करेन्सी का कागज या सिक्का है। इसका मतलब कि सारी सम्पत्ति का रूप 'क्रेडिट' है और वह सरकार के हाथ में और यत्र में केन्द्रित है।

अब हम जिस जगह तक पहुंचते आ रहे हैं वहां सम्पत्ति सत्ता से भिन्न नहीं है सत्ता ही सम्पत्ति है।

फिर इसके पीछे एक तर्क है। एक पूरा तत्त्व-दर्शन उसके पीछे है। वह तर्क और दर्शन बताता है कि सम्पत्ति के निजी होने से गड़बड़ होती है। पारिवारिक भी वह नहीं समझी जा सकती क्योंकि परिवार का स्थापित स्वार्थ हो

जाता है उससे पूंजीवाद उत्पन्न होता है। कुछ परिवार मिल जाते और पूंजी इकट्ठी करके श्रम का और श्रमिक का शोषण करने लगते हैं। एस बड़ी विषमता पैदा होती है। कहीं खाने तक को नहीं रहता कहीं सड़ता और बिगड़ता रहता है। ऐसे समाज में घटाव पैदा होता है और दुख बढ़ता जाता है। सम्पन्न कुछ ही मालूम होते हैं अधिक दीन हीन बने रहते हैं। इसलिये निजी सम्पत्ति को ही मिटना चाहिए। सम्पत्ति जितनी है सारे समाज की रहे और सबको यथावश्यक मिले। ऐसे आपा धापी नहीं रहेगी और समाज खुशहाल होगा। शोषण नहीं होगा अन्याय नहीं होगा और दुख भी नहीं होगा।

इस तत्व-ज्ञान ने गहरा विश्लेषण किया और रोग का निदान जा पकड़ा पूंजी और श्रम के विग्रह में। उसने बताया कि पूंजी के मूल में श्रम है इसलिये पूंजी के बल रहने वाला श्रम का शोषक है। अतः सत्ता सीधी श्रम और श्रमिक के हाथ में हो तो सब ठीक हो जायगा जो एगजिस्टेन्स का सिद्धान्त स्वीकार करलें तो आज के इस युग में दोनों विचारधारा एक दूसरे से इतनी अधिक प्रभावित हो जायेंगी कि दोनों तत्वतः एक-दूसरे के अनुकूल बन जायेंगी।

परन्तु वास्तविकता यह है कि आज दोनों विचारधाराओं को एक-दूसरे पर जरा भी विश्वास नहीं है। दोनों की धारणा है कि यदि वे दूसरे पक्ष को कुचल नहीं देंगे तो दूसरा पक्ष कालान्तर में उनका विनाश कर देगा।

कहने को तो यह कहा जाता है कि आज का विश्व बहुत छोटा हो गया है। परन्तु व्यवहार में यह देखकर आश्चर्य होता है कि आज भी संसार के विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे के बारे में कितनी अशुद्ध और गलतफहमियों से भरी धारणाएं बनाए हुए हैं। विश्व के साम्यवादी राष्ट्रों की जन संख्या आज ८० करोड़ से भी ऊपर है पर संयुक्त राष्ट्र अमरीका का एक औसत नागरिक आज भी यह विश्वास करता है कि संसार भर में से साम्यवादी विचारधारा का नाश कर दिया जा सकता है और वह भी समझा-बुझाकर नहीं अपितु शस्त्रों के भय या प्रयोग से। उधर चीन और रूस में अमरीका और उसके साथी राष्ट्रों के सम्बन्ध में बहुत ही भ्रान्त धारणाएं विद्यमान हैं। वहां समझा जाता है कि सम्पूर्ण अमरीका और सम्पूर्ण ब्रिटेन मजदूरों की कट्टरपंथी विचारधारा का अनुयायी है।

विश्व की इन उलझनकारी परिस्थितियों में मानव-जाति के लिये बचाव का एक मार्ग ही बाकी है और वह मार्ग है सहविद्यमानता के सिद्धान्त को स्वीकार करना। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान में इसी सिद्धान्त की रक्षा के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई थी। पर संसार के राष्ट्र जिस शीघ्रता और जिस

आसानी से संयुक्त राष्ट्रों के मानवीय अधिकारों के घोषणा-पत्र को भूल गये हैं यह देखकर अचम्भा होता है।

मानव-जाति का लम्बा इतिहास इस सचाई का साक्षी है कि कभी किसी राष्ट्र के विचार जबरदस्ती नहीं बदले जा सके। जब कभी किसी राष्ट्र या जाति को दबाने या डराने का प्रयत्न किया गया तब-तब विद्रोह और क्रान्ति का जन्म हुआ। मगर आज भी संसार के उन्नत कहे जाने वाले राष्ट्र एक-दूसरे को दबाने और डराने का प्रयत्न कर रहे हैं। हजारों वर्ष हुए हमारे देश के महापुरुष महात्मा बुद्ध ने कहा था कि 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्' अर्थात् अक्रोध से क्रोध पर विजय प्राप्त करो और दुष्ट को अपनी साधुता से जीतो। इसी बात को हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इस रूप में कहा कि हिंसा पर केवल अहिंसा और असत्य पर केवल सत्य द्वारा ही विजय प्राप्त की जा सकती है। इस बात के सिवा दूसरी राह ही नहीं है। एक हिंसा दूसरी हिंसा को जन्म देती है और इस तरह हिंसा का यह सिलसिला कभी समाप्त ही नहीं होता।

भारत के प्रधान मंत्री ने हाल ही में विश्व भर का ध्यान सह-विद्यमानता की ओर खींचने का प्रयत्न किया है। आवश्यकता इस बात की है कि संसार के प्रजातन्त्रवादी राष्ट्र इस सिद्धान्त की महत्ता को स्वीकार करें और इसे क्रियात्मक रूप दें। पश्चिमी प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रों का सही नेतृत्व करने की शक्ति आज भी केवल इंग्लैण्ड में है। यह सन्तोष का विषय है कि हाल में ही इंग्लैण्ड की मजदूर पार्टी के नेताओं का शिष्टमंडल रूस और चीन होकर लौटा है। उसकी राय में भी सह-विद्यमानता का सिद्धान्त ही आज के मानव-समाज को विनाश से बचा सकता है। आज वह समय आ गया है जब ब्रिटेन के नेतृत्व में सभी पश्चिमी राष्ट्र सह-विद्यमानता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लें और इस संबंध में भी अमरीका अपने को उसी तरह अकेला अनुभव करे, जिस तरह उसने जिनीवा कान्फ्रेंस के अवसर पर किया था। मानव-जाति को आसन्न संकट से बचाने का एकमात्र यही उपाय है।

अक्टूबर, ५४

■ ■ ■

स्वत्व, सम्पत्ति और सत्ता • २

प्रतीत होता है चूक वहां हुई जहां सत्ता को हमने सम्पत्ति मूलक बनने दिया। सम्पत्ति होगी तो नीति वहां नहा रहेगी। नीति अविरोधात्मक शक्ति है सम्पत्ति की शक्ति विग्रहात्मक है। इसलिए जब सत्ता सम्पदा के साथ तत्सम हुई तब नैतिकता वहां से तिरोहित हो गई और पाशविकता ही उसका बल बन गई। ऐसे सत्ता सत्य की नहीं रही मानो वह अधिकाधिक असत्य के दुर्ग के रूप में दिखाई देने लगी। ऐसे कूटनीति का उदय हुआ राजनीति जिसका अर्थ हुआ अनीति।

इसका निराकरण कैसे हो ? उपाय यही होता है कि हम अपने बीच ऐसी सत्ता की सृष्टि निर्माण और नियोजन करें जो सम्पत्ति मूलक न होकर नीति मूलक हो। दूसरे शब्दों में वह अपरिग्रही हो संग्रही न हो। ऐसा होने पर साख शुद्ध होगी न्त्रेडिट शुद्ध होगा मुद्रा श्रम की विरोधी न होगी बल्कि श्रम की प्रतीक होगी। उस हालत में धन और श्रम में शोषण का सम्बन्ध न रह पायगा। वह सम्बन्ध सहयोग का और पूर्ति का होगा।

स्पष्ट है कि यदि हमने सत्ता को सम्पत्ति से शुद्ध रखना विचारा तो हमारी अर्थ रचना और समाज रचना एकदम दूसरी ही हो रहेगी। उसका प्रतिस्पर्द्धी करण अनायास ही कम हो चलेगा। लोग सट-सटे नहीं एक-दूसरे को अवकाश देते हुए रहना पसन्द करेंगे। मानो वे परस्पर खुले रहेंगे और उस खुलेपन में सद्भाव का संचार सहज रह सकेगा। अभी तो घिर घुटकर वह सद्भाव दमित बन जाता है और मानव-सम्बन्ध स्वच्छ और हार्दिक न रहकर राग-द्वेषपूर्ण हो जाते हैं। अर्थ रचना और श्रम रचना तब विकेन्द्रित होगी और व्यक्ति जी से काम करेगा निराश पर नहीं करेगा। ऐसे स्वाधीनचेता होने के साथ वह सहज सामाजिक होता जायगा। पाप वृत्ति घटेगी क्योंकि सामाजिकता बढ़ेगी। कर्तव्य बलात् न होकर सहज होगा और अपने-अपने स्वभाव को सिद्ध करने और तदनुसार बरतने और विकास करने का सब के पास चाव और अवकाश होगा। स्पर्धा की जगह समन्वय सहयोग का पनपेगा और विविधता तब हमारे लिए प्रीति

और सौन्दय का निमित्त होगी कष्ट का कारण न होगी। समता तब समस्या न होगी क्योंकि दूसरे की समृद्धि मे हमे आनन्द प्राप्त होने लगेगा।

यह बिलकुल ही दूसरी जीवन-पद्धति है। इसमे व्यक्ति से हरण कर सम्पत्ति के स्वत्व को स्टेट की शरण देने का सवाल नही आता। स्टेट मे जब सम्पत्ति मूलक स्वत्व एव सत्ता का भाव पदा होता और बढने दिया जाता है तो वह अनिवार्यता से युद्ध की ललकार का रूप ले उठता है। स्टट तब सेठ बनती है और अपनी सम्पत्ति की रक्षा और बढवारी के लिए नाना उपाय रचती है। रक्षा के लिए फौज और अस्त्र शस्त्र बढवारी के लिए प्रबल प्रचार और मण्डी के लिए राज्य का विस्तार। मानो व्यक्ति का धम अपरिग्रह इसलिए हो कि सारा सग्रह स्टट के हाथ आ सके।

आज के हमारे भारतीय जीवन म इस दुहरी नतिकता का दुष्परिणाम साफ देखने मे आता है। गाधीजी ने बताया अपरिग्रह लेकिन उस अपरिग्रह को मानते हुए भी सस्था के नाम पर परिग्रह सही समझा गया। परिणाम यह कि बड-बड फड तज और चैतन्य उपजाने की जगह जडता और परावलम्बिता पदा करने लगे। सत्य यदि है तो अखण्ड है और नीति भी अद्वितीय है। अन्यथा दोहरी नीति से तो आदमी चलकर फटता और मरता ही रहा है। उस पद्धति से कोई खुलता नही मथन और कसता और उलझता ही जाता है।

मार्क्स दशन न विश्लेषण तो काफी दूर तक सही किया लेकिन 'डिक्टेटर शिप आव द प्रोलितारियत उसके लिए कुछ वही चीज हो गया जो श्रद्धालु के लिए स्वग हो जाता है। वहा भावना से काम लिया गया, तक का साथ छूट गया। हम जान लें कि स्टट जब तक वह सम्पत्ति मूलक है कभी भी समाज से तत्सम नहीं हो सकती। तब वह हुकूमत है और एक वग या दल के ही हाथ हुकूमत रह सकती है। एक हाकिम तभी हो सकता है जब अनेक उसके तले महकूम हो। शासन यदि नैतिक से अधिक है, तो स्पष्ट है कि वह आत्मीय नही शासकीय शासन है जिसके नीचे प्रजाजन शासित है। इस तरह सम्पत्ति वाचक रहकर सत्ता ऐसी नही हो सकती कि जिसमे दो वग न हो, एक जो अपने को राजा समझे दूसरा जो अपने को प्रजा अनुभव करे। लाख लोकतत्र का हम नाम लें और चुनाव का परिणाम चाहे सौ फीसदी ही दिखाई दे पर श्रेणी भेद और दुराव और दौरात्म्य सम्पत्ति मूलक राज्य मे रहने ही वाला है।

तो यह समस्या कि सम्पत्ति का स्वत्व कहा रहे यह कह देकर समाप्त नही होता कि वह व्यक्ति म न रहे। सच पूछिये तो समस्या वहा से आरम्भ होती है। स्वत्व व्यक्ति म बन्द नही है इसकी पहचान से तो आदमी शुरू ही

स्वत्व, सम्पत्ति और सत्ता २

प्रतीत होता है, चूक वहां हुई जहां सत्ता को हमने सम्पत्ति-मूलक बनने दिया। सम्पत्ति होगी तो नीति वहां नहीं रहेगी। नीति अविरोधात्मक शक्ति है, सम्पत्ति की शक्ति विग्रहात्मक है। इसलिए जब सत्ता सम्पदा के साथ तत्सम हुई तब नैतिकता वहां से तिरोहित हो गई और पाशविकता ही उसका बल बन गई। ऐसे सत्ता सत्य की नहीं रही, मानो वह अधिकाधिक असत्य में दुर्ग के रूप में दिखाई देने लगी। ऐसे कूटनीति का अर्थ हुआ राजनीति, जिसका अर्थ हुआ अवनीति।

इसका निराकरण कैसे हो? उपाय यही होता है कि हम अपने बीच ऐसी सत्ता की सृष्टि, निर्माण और नियोजन करें जो सम्पत्ति-मूलक न होकर नीति-मूलक हो। दूसरे शब्दों में वह अपरिग्रही हो, संग्रही न हो। ऐसा होने पर साख शुद्ध होगी, क्रेडिट शुद्ध होगा, मुद्रा श्रम की विरोधी न होगी, बल्कि श्रम की प्रतीक होगी। उस हालत में धन और श्रम में शोषण का सम्बन्ध न रह पायगा। यह सम्बन्ध सहयोग का और पूर्ति का होगा।

स्पष्ट है कि यदि हमने सत्ता को सम्पत्ति से शुद्ध रखना विचारा तो हमारी अर्थ रचना और समाज रचना एकदम दूसरी ही हो रहेगी। उसका अतिकेन्द्रीकरण अनायास ही कम हो चलेगा। लोग सट सट नहीं, एक-दूसरे को अवकाश देते हुए रहना पसन्द करेंगे। मानो वे परस्पर खुले रहेंगे और उस खुलेपन में सद्भाव का संचार सहज रह सकेगा। अभी तो घिर घुटकर वह सद्भाव अभाव बन जाता है और मानव-सम्बन्ध स्वच्छ और हार्दिक न रहकर राग-द्वेषपूर्ण हो जाते हैं। अर्थ रचना और श्रम रचना तब विकेन्द्रित होगी और व्यक्ति भी काम करेगा, किराये पर नहीं करेगा। उसे स्वाधीनचेता होने के साथ वह सहज स्वाभाविक होता जायगा। पाप वृत्ति घटेगी क्योंकि सामाजिकता बढ़ेगी। कर्तव्य बलात् न होकर सहज होगा और अपने अपने स्वभाव को सिद्ध करने और तदनुसार बरतने और विकास करने का सब को काम चाव और अवकाश होगा। स्पर्धा की जगह सम्बन्ध सहयोग का बनेगा और विविधता तब हमारे लिए प्रीति

और सौन्दय का निमित्त होगी कष्ट का कारण न होगी। समता तब समस्या न होगी क्योंकि दूसरे की समृद्धि म हमे आनन्द प्राप्त होने लगेगा।

यह बिलकुल ही दूसरी जीवन-पद्धति है। इसमें व्यक्ति से हरण कर सम्पत्ति के स्वत्व को स्टेट की शरण देने का सवाल नहीं आता। स्टेट म जब सम्पत्ति मूलक स्वत्व एव सत्ता का भाव पदा होता और बढने दिया जाता है तो वह अनिवायता से युद्ध की ललकार का रूप ले उठता है। स्टेट तब सेठ बनती है और अपनी सम्पत्ति की रक्षा और बढ़वारी के लिए नाना उपाय रचता है। रक्षा के लिए फौज और अस्त्र-शस्त्र बढवारी के लिए प्रबल प्रचार और मण्डी के लिए राज्य का विस्तार। मानो व्यक्ति का धम अपरिग्रह इसलिए हो कि सारा सग्रह स्टेट के हाथ आ सके।

आज के हमारे भारतीय जीवन म इस दुहरी नतिकता का दुष्परिणाम साफ देखने मे आता है। गाधीजी ने बताया अपरिग्रह लेकिन उस अपरिग्रह को मानते हुए भी सस्था के नाम पर परिग्रह सही समझा गया। परिणाम यह कि बडे-बडे पड तेज और चैतन्य उपजाने की जगह जडता और परावलम्बिता पदा करने लग। सत्य यदि है तो अखण्ड है और नीति भी अद्वितीय है। अन्यथा दोहरी नीति मे तो आदमी चलकर फटता और मरता ही रहा है। उस पद्धति से कोई खुलता नही, बधन और कसता और उलझता ही जाता है।

मावस ऐन्गल्स ने विश्लेषण तो काफी दूर तक सही किया लेकिन डिक्टेटर-शिप आव द प्रोलितारियत' उसके लिए कुछ वही चीज हो गया जो श्रद्धालु के लिए स्वग हो जाता है। वहाँ भावना से काम लिया गया, तक का साथ छूट गया। हम जान लें कि स्टेट जब तक वह सम्पत्ति-मूलक है कभी भी समाज से तत्सम नहीं हो सकती। तब वह हुकूमत है और एक वग या दल के ही हाथ हुकूमत रह सकती है। एक हाकिम तभी हो सकता है जब अनेक उसके तले महकूम हों। शासन यदि नैतिक से भिन्न है, तो स्पष्ट है कि वह आत्मीय नहीं शासकीय शासन है जिसके नीचे प्रजाजन शासित हैं। इस तरह सम्पत्ति वाचक रहकर सत्ता ऐसी नही हो सकती कि जिसम दो वग न हो एक जो अपने को राजा समझ दूसरा जो अपने को प्रजा अनुभव करे। लाख लोकतन्त्र का हम नाम लें और चुनाव का परिणाम चाहे सो फीसदी ही दिखाई दे पर श्रेणी भेद और दुराव और दौरात्म्य सम्पत्ति मूलक राज्य म रहने ही वाला है।

सो यह समस्या कि सम्पत्ति का स्वत्व कहां रहे यह कह देकर समाप्त नहीं होती कि वह व्यक्ति म न रहे। सच पूछिये तो समस्या यहां से आरम्भ होती है। स्वत्व व्यक्ति म बन्द नहीं है इसको पहचान से तो आदमी गुरु ही

स्वत्व, सम्पत्ति और सत्ता • २

प्रतीत होता है चूक वहां हुई जहां सत्ता को हमने सम्पत्ति मूलक बनने दिया। सम्पत्ति होगी तो नीति वहां नहीं रहेगी। नीति अविरोधात्मक शक्ति है, सम्पत्ति की शक्ति विग्रहात्मक है। इसलिए जब सत्ता सम्पदा के साथ तत्सम हुई तब नैतिकता वहां से तिरोहित हो गई और पाशविकता ही उसका बल बन गई। ऐसे सत्ता सत्य की नहीं रही मानो वह अधिकाधिक असत्य के दुर्ग के रूप में दिखाई देने लगी। ऐसे कूटनीति का अर्थ हुआ राजनीति जिसका अर्थ हुआ अनीति।

इसका निराकरण कैसे हो? उपाय यही होता है कि हम अपने बीच ऐसी सत्ता की सृष्टि निर्माण और नियोजन करें जो सम्पत्ति मूलक न होकर नीति मूलक हो। दूसरे शब्दों में वह अपरिग्रही हो संग्रही न हो। ऐसा होने पर साख शुद्ध होगी क्रेडिट शुद्ध होगा मुद्रा श्रम की विरोधी न होगी बल्कि श्रम की प्रतीक होगी। उस हालत में धन और श्रम में शोषण का सम्बन्ध न रह पायगा। वह सम्बन्ध सहयोग का और पूर्ति का होगा।

स्पष्ट है कि यदि हमने सत्ता को सम्पत्ति से शुद्ध रखना विचारा तो हमारी अर्थ रचना और समाज रचना एकदम दूसरी ही हो रहेगी। उसका अतिकेन्द्रीकरण अनायास ही कम हो चलेगा। लोग सट-सटे नहीं एक-दूसरे को अवकाश देते हुए रहना पसन्द करेंगे। यानी वे परस्पर खुले रहेंगे और उस खुलेपन में सद्भाव का संचार सहज रह सकेगा। अभी तो घिर घुटकर वह सद्भाव दमित बन जाता है और मानव-सम्बन्ध स्वच्छ और हार्दिक न रहकर राग-द्वेषपूर्ण हो जाते हैं। अर्थ रचना और कर्म रचना तब विकेन्द्रित होगी और व्यक्ति जो से काम करेगा विराम पर नहीं करेगा। ऐसे स्वाधीनचेता होने के साथ वह सहज सामान्य होता जायगा। पाप वृत्ति घटेगी क्योंकि सामाजिकता बढ़ेगी। कर्तव्य बलात् न होकर सहज होगा और अपने-अपने स्वभाव को सिद्ध करने और तदनुसार बरतने और विकास करने का सब के पास भाव और अवकाश होगा। स्पर्धा की जगह सम्बन्ध सहयोग का पनपेगा और विविधता तब हमारे लिए प्रीति

खड़ा रहे और वैसा ही एक दस्ता अपना बिच-बन्दूक इस तरफ ताने रहे। यह हालत बदल या सुधर ही नहीं सकती जब तक कि सत्ता राष्ट्रसत्ता या राष्ट्र राज्य सम्पत्तिमूलक समझा जाता रहेगा। ध्यान रहे कि राष्ट्रों की सीमा रेखा पर दो खेत आपस में एक ओर ऐसे जुड़े हो सकते हैं कि उनके मालिक किसानों को रोज एक-दूसरे से काम पड़ता हो लेकिन अपने अपने राष्ट्रों के नाम पर दोनों को एक-दूसरे के लिए गैर यहाँ तक कि दुश्मन बनना पड़ सकता है। इस अस्वाभाविक और अप्राकृतिक स्थिति का ही आज की सम्पत्ति मूलक राष्ट्र सत्ताएं सबसे बड़ा सत्य बताकर आत्मरक्षा की दुहाई पर युद्ध रचा करती हैं। हैं। प्रजाएं कभी नहीं लड़ती कभी नहीं लड़ना चाहती। राजकीय स्वार्थ लड़ते हैं और देश के नाम पर वे ही प्रजाजनों को लड़ाते हैं। प्रजाकीय राज्य यानी सच्चे प्रजातंत्र या लोकतंत्र का रूप ऐसी सत्ता का होगा जो उत्तरोत्तर नीति मूलक है इसलिए कम-से-कम कलवर-बद्ध है। सत्ताओं का रूप जब ऐसा होगा तब उनमें टक्कर या रगड़ न होगी जैसे दो दीपकों के प्रकाश में और उनकी सीमाओं में रगड़ नहीं होती है।

एक भारी भ्रम हम पर सवार है। सब जानते हैं कि हमें राज्यहीन समाज पर पहुंचना है। फिर भी जाने किस विडम्बना से हम उस समाज पर पहुंचने के लिए राज्य को स्वयं में सम्पन्निवान और सब समय यहां तक कि व्यक्ति केन्द्रित बनाने में असुविधा नहीं देखते। आज तो जैसे संगठित राष्ट्रसत्ता स्वयं प्रतिष्ठ मूल्य बन गई है। मानों मानवता एक न हो और उसकी अखण्डता सर्वोपरि सत्य न हो।

आवश्यक है कि ऐसे पुरुष रहें जो उस अखण्ड मानवता के मूल्य को किसी भी कीमत पर नष्ट न होने दें। अच्छा है कि यह वर्ग इतना बल प्राप्त करे कि राष्ट्र-सत्ताएं उससे स्वतन्त्र होकर प्रमत्त और निरंकुश न बन सकें। इससे भी अच्छा यह हो कि कोई राष्ट्र उस सनातन मूल्य को ही हाथ में लेकर अपनी सत्ता का ऐसा निर्माण करे कि वह सम्पत्ति मूलक न होकर नीति-मूलक हो। दूसरे शब्दों में उसकी शक्ति आत्मिक हो और यह दूसरे देशों से शस्त्रास्त्र के बल पर स्वार्थ-विग्रह की भाषा में बात न करे बल्कि सहानुभूति और समग्र हित की भूमिका पर आत्मीय भाव से बात करे। ऐसी सत्ता सत्ताधीन न होगी वह अविरोधी होगी और इसी कारण उसकी साख अनिवार्य हो रहेगी।

गांधीजी को हमने राष्ट्रपिता माना है। वह यदि पिता थे तो ऐसे ही राष्ट्र के थे—मानो उस राष्ट्र के जिसकी सत्ता सम्पत्ति से अधिक नीति में आधार रखने वाली होगा और जिसकी शक्ति भय में नहीं प्रीति में होगा। वह राष्ट्र

करता है। दुनिया में कहीं भी देखिये आदमी का अपना स्वत्व स्वतन्त्र स्वतन्त्र और अबाधित नहीं है। फिर सम्पत्ति का स्वत्व कहाँ माना जाय ? शब्द चल रहे हैं 'सोशलाइजेशन' और 'नेशनलाइजेशन'। यानी समाजीकरण और राष्ट्रीयकरण। राष्ट्रीयकरण का मतलब साफ है कि उसका स्वत्व और अधिकार राष्ट्रीय सरकार के पास हो। समाजीकरण का क्या आशय है स्पष्ट हो यह स्पष्ट नहीं है। अन्त में उसकी अर्थ निष्पत्ति भी यही होती है कि वह राष्ट्रीय सरकार के अधीन हो जाय। व्यवहार में इस तरह समाजीकरण राष्ट्रीयकरण का रूप लेता है क्योंकि सरकार का यन्त्र दल के हाथ में ही हो सकता है।

इस सब विचार का परिणाम यह निकलता है कि यदि हम युद्ध से छुट्टी पानी है तो राष्ट्र-सत्ता को सम्पत्तिमूलक न रहकर नीतिमूलक बनना होगा। ऐसा तभी सम्भव है जबकि राष्ट्रों की अर्थ रचना और तन्त्र रचना नीचे से ही सम्पत्तिमूलक न हो नीति मूलक हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा अर्थ तन्त्र आतंकेन्द्रित न होगा। वहाँ की समाज-व्यवस्था और जीवन-व्यवस्था ऐसी न होगी कि व्यक्ति मन में प्रीति और हाथ में उद्यम रखकर भी अपने को असहाय अनुभव करे और सरकार की कृपा कोर पर एक श्रमहीन पुरुष सब सम्पन्न बन जाय। उस राष्ट्र के जीवन का मूल श्रम में होगा और शक्ति भी सेना में नहीं श्रद्धा में होगी। शहर और गाँव में वहाँ विरोध न होगा शहर साहूकार और गाँव ताबेदार न बन पायगा। उस ढंग की संस्कृति और सभ्यता भी चमक-दमक और जोर-शोर की न होगी बल्कि गम्भीर भव्य और स्निग्ध होगी। सम्पत्ति वहाँ किस की होगी यह प्रश्न हो तो साफ है कि वह केवल उपयोग की होगी। सम्पत्ति में लोगों का अपरिग्रह भाव होगा। कोई यदि सम्पत्ति को अपनायगा तो वह केवल कर्तव्य भाव से ही अपना सकेगा। उस पर छीन झपट बलात्कारी होने की आवश्यकता न रहेगी।

साफ है कि एक ऐसा राष्ट्र किसी के लिए भय का कारण न होगा। किन्तु उतना ही साफ यह भी है कि उस राष्ट्र को स्वयं किसी का भय न होगा।

आज की समस्या राष्ट्रवाद में से बनी है और युद्ध भी बहुत-कुछ राष्ट्रवाद में से उत्पन्न होता है। राष्ट्र असल में क्या है ? एक जगह काँटों का तार बाँध लिया और कहा कि इधर हमारा राष्ट्र है और उधर तुम्हारा राष्ट्र है। यह लकीर कोई पहले से जमीन पर बनी नहीं होती उपर से हम ही वहाँ रोक और बाड़ खड़ी कर लेते हैं। राष्ट्र की कल्पना जब तक इस तरह बाड़ बन्द बनी रहेगी और राष्ट्रसत्ता की धारणा भी उन्हीं हदबंदियों पर निर्भर रहेगी तब तक अनिवार्य है कि एक फौजी दस्ता मिच-बन्दूकें उस तरफ ताने इधर

खड़ा रहे और वैसा ही एक दस्ता अपनी किच-बन्दूकें इस तरफ साने रहे। यह हालत बदल या सुधर ही नहीं सकती जब तक कि सत्ता राष्ट्रसत्ता या राष्ट्र राज्य सम्पत्तिमूलक समझा जाता रहेगा। ध्यान रहे कि राष्ट्रों की सीमा रेखा पर दो खेत आपस में एक ओर ऐसे जुड़े हो सकते हैं कि उनके मालिक किसानों को रोज एक दूसरे से काम पड़ता हो लेकिन अपने अपने राष्ट्रों के नाम पर दोनों को एक-दूसरे के लिए पर यहाँ तक कि दुश्मन बनना पड़ सकता है। इस अस्वाभाविक और अप्राकृतिक स्थिति को ही आज का सम्पत्ति मूलक राष्ट्र सत्ताएं सबसे बड़ा सत्य बताकर आत्मरक्षा की दुहाई पर युद्ध रचा करती हैं। हैं। प्रजाएं कभी नहीं लड़ती कभी नहीं लड़ना चाहती। राजकीय स्वार्थ लड़ते हैं और देश के नाम पर वे ही प्रजाजनों को मराते हैं। प्रजाकीय राज्य यानी सच्चे प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र का रूप ऐसी सत्ता का होगा जो उत्तरोत्तर नीति मूलक है इसलिए कम-से-कम बलवर-बद्ध है। सत्ताओं का रूप जब ऐसा होगा तब उनमें टक्कर या रगड़ न होगी जैसे दो दीपकों के प्रकाश में और उनकी सीमाओं में रगड़ नहीं होती है।

एक भारी भ्रम हम पर सवार है। सब जानते हैं कि हम राज्यहीन समाज पर पहुंचना है। फिर भी जाने किस विडम्बना से हम उस समाज पर पहुंचने के लिए राज्य को स्वयं में सम्पत्तिवान और सब-समर्थ यहां तक कि व्यक्ति केन्द्रित बनाते जाने में असंगतता नहीं देखते। आज तो जैसे संगठित राष्ट्रसत्ता स्वयं प्रतिष्ठ मूल्य बन गई है। मानों मानवता एक न हो और उसकी अखंडता सर्वोपरि सत्य न हो।

आवश्यक है कि ऐसे पुरुष रहें जो उस अखण्ड मानवता के मूल्य को किसी भी कीमत पर नष्ट न होने दें। अच्छा है कि यह वर्ग इतना बल प्राप्त करे कि राष्ट्र सत्ताएं उससे स्वतन्त्र होकर प्रमत्त और निरंकुश न बन सकें। इससे भी अच्छा यह हो कि कोई राष्ट्र उस सनातन मूल्य को ही हाथ में लेकर अपनी सत्ता का ऐसा निर्माण करे कि वह सम्पत्ति मूलक न होकर नीति-मूलक हो। दूसरे शब्दों में उसकी शक्ति आत्मिक हो और वह दूसरे देशों से शस्त्रास्त्र के बल पर स्वार्थ-विग्रह की भाषा में बात न करे बल्कि सहानुभूति और समग्र हित की भूमिका पर आत्मीय भाव से बात करे। ऐसी सत्ता सेनाश्रित न होगी वह अविरोधी होगी और इसी कारण उसकी बात अनिवार्य हो रहेगी।

गांधीजी को हमने राष्ट्रपिता माना है। वह यदि पिता थे तो ऐसे ही राष्ट्र के थे—यानी उस राष्ट्र के जिसकी सत्ता सम्पत्ति से अधिक नीति में आधार रखने वाली होगी और जिसकी शक्ति भय में नहीं प्रीति में होगी। वह राष्ट्र

करता है। दुनिया में कहीं भी देखिये आदमी का अपना स्वत्व सवतन्त्र स्वतन्त्र और अबाधित नहीं है। फिर सम्पत्ति का स्वत्व कहां माना जाय? शब्द चल रहे हैं 'सोशलाइजेशन' और 'नेशनलाइजेशन'। यानी समाजीकरण और राष्ट्रीयकरण। राष्ट्रीयकरण का मतलब साफ है कि उसका स्वत्व और अधिकार राष्ट्रीय सरकार के पास हो। समाजीकरण का क्या आशय है स्पष्ट ही यह स्पष्ट नहीं है। अन्त में उसकी अर्थ निष्पत्ति भी यही होती है कि वह राष्ट्रीय सरकार के अधीन हो जाय। व्यवहार में इस तरह समाजीकरण शासनीकरण का रूप लेता है क्योंकि सरकार का यन्त्र दल के हाथ में ही हो सकता है।

इस सब विचार का परिणाम यह निकलता है कि यदि हम युद्ध से छुट्टी पानी है तो राष्ट्र-सत्ता को सम्पत्तिमूलक न रहकर नीतिमूलक बनना होगा। ऐसा तभी सम्भव है जबकि राष्ट्रों की अर्थ रचना और तन्त्र रचना नीचे से ही सम्पत्तिमूलक न हो नीति मूलक हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा अर्थ तन्त्र आतंकेन्द्रित न होगा। वहां की समाज-व्यवस्था और जीवन-व्यवस्था ऐसी न होगी कि व्यक्ति मन में प्रीति और हाथ में उद्यम रखकर भी अपने को असहाय अनुभव करे और सरकार की कृपा कोर पर एक श्रमहीन पुरुष सब सम्पन्न बन जाय। उस राष्ट्र के जीवन का मूल श्रम में होगा और शक्ति भी सेना में नहीं श्रद्धा में होगी। शहर और गांव में वहां विरोध न होगा शहर साहूकार और गांव तावेदार न बन पायगा। उस देश की संस्कृति और सभ्यता भी चमक-दमक और जोर शोर की न होगी बल्कि गम्भीर भव्य और स्निग्ध होगी। सम्पत्ति वहां किस की होगी यह प्रश्न हो तो साफ है कि वह केवल उपयोग की होगी। सम्पत्ति में लोगों का अपरिग्रह भाव होगा। कोई यदि सम्पत्ति को अपनायगा तो वह केवल कर्तव्य भाव से ही अपना सकेगा। उस पर छीन झपट बलावदी होने की आवश्यकता न रहेगी।

साफ है कि एक ऐसा राष्ट्र किसी के लिए भय का कारण न होगा। किन्तु उतना ही साफ यह भी है कि उस राष्ट्र को स्वयं किसी का भय न होगा।

आज की समस्या राष्ट्रवाद में से बनी है और युद्ध भी बहुत-कुछ राष्ट्रवादों में से उत्पन्न होता है। राष्ट्र असल में क्या है? एक जगह कांटों का तार बांध दिया और कहा कि इधर हमारा राष्ट्र है और उधर तुम्हारा राष्ट्र है। वह लकीर कोई पहले से जमीन पर बनी नहीं होती ऊपर से हम ही वहां रोक और बाड़ खड़ी कर लेते हैं। राष्ट्र की कल्पना जब तक इस तरह बाड़-बन्द बनी रहेगी और राष्ट्रसत्ता की धारणा भी उन्हीं हदबन्दियों पर टिककर खड़ी होगी तब तक अनिवार्य है कि एक फौजी रखना जिसकी बन्दूकें उस तरफ तानें इधर

खडा रहे और वसा ही एक दस्ता अपनी निच-बन्दूकें इस तरफ ताने रहे। यह हालत बदल या सुधर ही नही सकती जब तक कि सत्ता राष्ट्रसत्ता या राष्ट्र राज्य सम्पत्तिमूलक समझा जाता रहेगा। ध्यान रहे कि राष्ट्रों की सीमा रखा पर दो खत आपस म एम और ऐसे जुड़ हो सकते है कि उनक मालिक किसानों को रोज एक-दूसरे से काम पडता हो लेकिन अपने अपने राष्ट्रो के नाम पर दोनों को एक-दूसरे के लिए ग र यहां तक कि दुश्मन बनना पड सकता है। इस अस्वाभाविक और अप्राकृतिक स्थिति को ही आज की सम्पत्ति मूलक राष्ट्र सत्ताए सबस बडा सत्य बताकर आत्मरक्षा की दुहाई पर युद्ध रचा करती हैं। है। प्रजाए कभी नही लडती कभी नही लडना चाहती। राजकीय स्वाथ लडते हैं और देन क नाम पर वे ही प्रजाजनो को लडान है। प्रजाकीय राज्य यानी सच्चे प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र का रूप ऐसी सत्ता का होगा जो उत्तरोत्तर नीति मूलक है इसलिए कम-से-कम कनवर-बद्ध है। सत्ताओ का रूप जब ऐसा होगा तब उनमे टक्कर या रगड न होगी जस दो दीपको के प्रकाश म और उनकी सीमाओं म रगड नही होती है।

एक भारी भ्रम हम पर सवार है। सब जानत हैं कि हम राज्यहीन समाज पर पहुचना है। फिर भी जान किस विडम्बना स हम उस समाज पर पहुचने के लिए राज्य को स्वय में सम्पत्तिवान और सब समथ यहां तक कि व्यक्ति केन्द्रित बनाने जान म अयुक्तता नही न्खत। आज ता जसे सगठित राष्ट्रसत्ता स्वय प्रतिष्ठ मूल्य बन गई ह। माना मानवता एक न हो और उसकी अखडता सर्वोपरि सत्य न हो।

आवश्यक है कि ऐसे पुरुष रहें जो उस अखण्ड मानवता के मूल्य को किसी भी कीमत पर नष्ट न होने दें। अच्छा है नि यह वग इतना बल प्राप्त कर कि राष्ट्र-सत्ताए उससे स्वतन्त्र होकर प्रमत्त और निरकुश न बन सकें। इससे भी अच्छा यह हो कि कोई राष्ट्र उस सनातन मूल्य को ही हाथ म लेकर अपनी सत्ता का एसा निर्माण कर कि वह सम्पत्ति मूलक न होकर नीति मूलक हो। दूसरे शब्द म उसकी शक्ति आत्मिक हो और वह दूसर रा्ो स शस्त्रास्त्र के बल पर स्वाथ-विग्रह की भाषा म बात न करे बल्कि सहानुभूति और समय हित की भूमिका पर आत्मीय भाव स बात करे। ऐसी सत्ता सेनाश्रित न होगी यह अविरोधी होगी और इसी कारण उसकी यात अनिवाय हो रहगी।

गाधीजी को हमने राष्ट्रपिता माना है। वह यदि पिता थ तो एस ही राष्ट्र के थे—यानी उस राष्ट्र के जिसकी सत्ता सम्पत्ति स अधिक नीति म आधार रखने वाली होगी और जिसकी शक्ति भय म नही प्रीति म होगी। वह राष्ट्र

पुरुष थे किन्तु उससे अधिक वह आत्म-पुरुष थे। उस अर्थ में वह दुनिया के थे। उन्हें आशा थी कि उनका देश यह भारत वह राष्ट्र बनेगा जो पुरानी वस्तु सत्ता की जगह नई अध्यात्म-सत्ता की परम्परा आरम्भ करेगा और जिसका राष्ट्रवाद सही और पूरे अर्थों में मानवतावाद पर आधारित होगा।

यह आशा क्या झूठ होगी? पर उसे सच करने के लिए जड़-मूल से क्रांति की आवश्यकता है। क्या हम उसके लिए उद्यत हैं, उद्यत होंगे? काम कठिन है पर असल में करने लायक वही है।

अक्तूबर, ५४

• • •

विसर्जन की शक्ति

विनोबा ने अपने इस आश्रम को विसर्जन नाम दिया। विनोबा की अद्वितीयता ही इसे न समझ लीजिये न भाषा का कोरा चमत्कार मानिये। विसर्जन में से सचमुच विशेष सर्जन होता है। सबसे बड़ा और नया सर्जन विज्ञान ने जो किया है वह है अणु का भंजन। अणु को माना जाता था कि वह वस्तु की इकाई है और अटूट है। आइंस्टाइन ने बताया कि वस्तु का ठोसपन असल में कोई शक्ति का ही नाम है। ठोसपन छोड़कर मैटर अपना विसर्जन करता है तो चिन्मय बन जाता है। वस्तु जब स्वयं शून्य होती है अर्थात् अपने को विसर्जित कर देती है तब शक्ति बन कर प्रगट होती है।

सोये पड़े चित्त—पिण्ड को ही मैटर कहिये। उसके छोटे-से छोटे अणु को विज्ञान ने पाया, पकड़ा और फिर तोड़ डाला। इसी में से अणुशक्ति का उदय हुआ और अणुबम बन गया। अणुत्व विसर्जित होने से महाशक्ति प्रगट हो आई। यह कहलाया फिज़न बम। फिर उसके बाद फ्यूजन बम बना। पहले में अणु वियुक्त होता है, दूसरे में उसके बाद प्रक्रिया संयुक्त होने की है। इस संयुक्तीकरण अर्थात् फ्यूजन में जो शक्ति प्रगट होती है वह पहले से सैकड़ों गुना हो जाता है। पदार्थ यों जड़ और निष्क्रिय दिखाई देता है। हम उससे या उसकी आसक्ति से, जितना चिपटते हैं उतने हम भी जड़ और बेकार होते हैं। यदि चिपटें नहीं, अपने को बचायें नहीं बल्कि विसर्जित करने की तैयारी रखें तो महाशक्ति पैदा कर सकते हैं। इसकी मिसाल गांधी हैं। सामान्य से भी कम सम्पन्न स्थिति से चले और अवतार की ऊंचाई पर पहुंच गये। आखिर उस विराटता के विकास की प्रक्रिया क्या थी? देश के वह एकछत्र नेता बन गये। बस उनके नेतृत्व के निर्माण का क्या रहस्य था? मामूली तौर पर भी छोटी-सी लीडरशिप के लिये बड़ी जद्दोजहद करना पड़ती है। पर गांधी की स्वयं शून्य बनने की साधना रही। उन्होंने कुछ और बनना हो नहीं चाहा। अपने को विसर्जित करने में लगे रहे। फल यह कि शून्य बनते बनते विराट बन गये। गांधी की ताकत ऐसी बनी कि उनका व्यक्तित्व भारत की अस्मिता को ही नहीं वरन् मानवता

की समग्रता को मूल्य करने वाला माना गया। इसके मूल में विसर्जन मंत्र के सिवा भला क्या रहस्य हो सकता है?

जो आदमी अपने को ऊंचा रखता और दूसरे को उस निमित्त अपना साधन मानता है, वह उन्नति करता दीखता हो, लेकिन हिंसा ही करता है। यानी वह उन्नति टिकनेवाली नहीं होती है। न उसमें कभी चैन मिल पाता है। स्वयं को साध्य और अन्य को साधन बनाते हैं तो अशांति बढ़ती है। लेकिन जहां दूसरे सब व्यक्ति साध्य होते हैं और मैं उनके हितनिमित्त साधन बनता हूं, तो यह अपने को विसर्जित करने की भावना अहिंसा है। इसमें तो उपयोगी होना है और प्रभाव उस पर निर्भर नहीं है। शक्ति का स्रोत विसर्जन में है। स्व को पुष्ट करनेवाला कर्म बंधनकारक होगा, उस स्व को विसर्जित करने वाला मुक्ति दायक बनेगा।

इतने गहरे विचार के आधार पर यह संस्था बनी है। पर आप कहते हैं कि संस्था को अभी यश नहीं मिला है। क्यों यश नहीं मिला है? महामंत्र मिल गया है, तो फिर उसका महाफल क्यों नहीं मिला? भौतिक क्षेत्र में यह मंत्र चमत्कार दिखा रहा है तो नैतिक क्षेत्र में चमत्कार का उद्घाटन क्यों नहीं दीखता? निश्चय रखना चाहिये कि त्रुटि कहीं प्रयोग में ही होगी। या जो साधन रूप हम हैं सो हममें, अन्यथा सिद्धान्त निरपवाद सिद्ध है। सारे इतिहास में उसकी महिमा और विभूति दिखाई देती है। आत्म विसर्जन जिन्होंने किया है वे मानों अमर बन गये हैं, मृत्यु का वरण किया, ऐसे लोग ही इतिहास में जिन्दा हैं। जिन्होंने अपने को मृत्यु से बचाना चाहा वे जीते जी मरे से बने रहे। ऐसे भी लोग हुए हैं जो लाखों मौत के घाट उतारने में कारण बने। इतिहास उन्हें याद करता है, लेकिन कीर्ति के तौर पर उनका भी इसलिए नाम बढ़कर मौत के साथ आखिर गल जा लेता है। फिर भी समय की धूल में वे सब दब जाते हैं। जिए और जाने रहे वे जो जान में खिले नहीं और मृत्यु का भय नहीं माना है। वे जो विसर्जन को साथ लेकर चले हैं। ईसू सूली पर चढ़े तब लगता था कि मानने वाला कोई पास भी न टिकेगा। लेकिन ईसा क्या मर गये? मरने का ढंग दारुण था। लेकिन उसमें क्या होता है! बल्कि शायद उस ढंग के [illegible] में ईसा का विसर्जन और भी समर्थ और उस नाम में [illegible] कि इतिहास [illegible]। शासन साम्राज्य समाप्त हो गया और उसकी जगह [illegible] साम्राज्य न था। आज जाकर जब यह सब बना [illegible] विसर्जन [illegible] साम्राज्य हो गया तब उसका [illegible] समाप्त हो रही।

गाधी जी न जो माधा वह यही था । वह उस मन्त्र के प्रयोक्ता और प्रतीक बने । हम अधिकांश उनम से यह मन्त्र प्राप्त नहीं करते । हम तो उन्हें अपने राष्ट्र का नेता त्राता मान कर पूजते हैं । उनके उपकार स्मरण हैं और उतना ही उनको मानते हैं जितना उन्होंने देश और हमारा काम साध दिया ।

असल म शक्ति मे कम विकास ही रहा है । आग मे धुआ बहुत निकलता है तो उसम ज्वाला उतनी नहीं हो पाती । इतिहास शक्ति और शस्त्र के रूपो मे विकास का इतिहास भी है । मनुष्य की शक्ति पंजे और दाढ़ की नहीं थी वह शरीर की नहीं हो सकती थी । शरीर से हर तरह से, पशु स वह कम था । तब बुद्धि के रूप म उसम शक्ति उदय म आई और आदिम आयुध बने । यहा स चलते चलते आज वे शास्त्रास्त्र बने है जो अब आणविक तक होने आ गये हैं । इन सबम मे शक्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई है । रूप जितना सूक्ष्म होगा फल उतना अमोघ होगा । इसी विकास म बढ़ते बढ़ते हम देखेगे कि शक्ति अपने अधिष्ठान के लिये हिंसा को छोड़ रही है और अहिंसा को अपना रही है ।

असल म शक्ति हिंसा है ही नहीं । शक्ति सब अहिंसा की है । नहीं तो शेर क्या डर के मारे पहाड़ो मे छिपा रहता जबकि आदमी शान से शहर बना कर रहता है ! इसलिए यह पशु भ्रम है कि शक्ति हिंसा म है । शक्ति का सब स्रोत ईश्वर म है सत्य में अहिंसा में है । अहिंसा को समझाना पड़े इसकी आवश्यकता नहीं आनी चाहिये । आग के गुण को समझाने की जरूरत नहीं रहती । अहिंसा का समझाना इसलिए पड़ता है कि वह शब्द म है प्रत्यक्ष प्रयोग म नहीं है । अहिंसा सक्रिय होती प्रत्यक्ष वि-सजन मे फलित होती तो यश स्वयं आप के पास खिंचा चला आता ।

गांधीजी ने कहा न था कि अहिंसक एक भी काफी हो सकता है । उस एक से भी जगत को आश्वासन मिलेगा । सच पूछिये तो आज आश्वासन हमारे देश मे नहीं है । धर्म का स्वरूप भी बड़े भय से त्राण करता है । सत्य के आचार की तो ठीक है उच्चार भी भय दूर करता है । यदि आपका शब्द भाव और कर्म म उतरकर प्रत्यक्ष बनता है तो उस किसी दूसरे सहारे की जरूरत नहीं रह जाती है । क्या आत्म-प्रत्यय दाव को कहीं दूसरी जगह डालने जायगा ?

मैं मानता हू कि यदि देश के पास उसका सत्य जगा होता हमारी व्यवस्था म और मानव-सम्बन्धो के ताने-बाने म से एकता सारा हुआ प्रगट होता तो हम फौजों का आश्रय देखने की जरूरत नहीं पड़ती । हथियार उतने ही ताकत रखते हैं जितना उनके पीछे संकल्प का बल होता है और संकल्प का बल अटूट हो सकता है ।

मूल की बात यह है कि विसर्जन अपना करेंगे तो सर्जन अपने आप होगा। प्रगति जितनी होती है चित् की प्रेरणा में से होती है। इस तरह विसर्जन में से इतना सर्जन होगा कि उसकी कल्पना नहीं हो सकती। बीज धरती में गलता और मिटता है तो क्या उसे पता होता है कि वृक्ष आयगा और वृक्ष पर फल आयेंगे? पर फट कर बीज अंकुर होता अंकुर वृक्ष होता है और वर्षों-वर्ष वह फल देता रहता है।

हम अनासक्त माध्यम कटलटिक एजेंट के रूप में काम करें। अधिकार न चाहें। अमुक प्रवृत्ति के हम संयोजक बन जायें यह भावना भी यदि होती है तो आत्म-श्रद्धा की जगह वस्तु-श्रद्धा हुई माननी चाहिए। सरकार इसी आधार पर चलती है। तभी आत्म श्रद्धा के बजाय उसमें धन की श्रद्धा बढ़ने लग जाती है।

यदि आप में श्रद्धा पैदा हो जाये श्रम-श्रद्धा जाग जाये तो कितना अच्छा हो। परन्तु आज तो रचनात्मक कार्यक्रम के लिए सरकार की अपेक्षा रखता है। धन सरकार के पास से लेना चाहते हैं। पर वहां धन पैदा तो होता नहीं जनता के श्रम में से ही खींचकर आता है। यदि हम सरकार की थैली पर निगाह न रखेंगे अपना धन पैदा करेंगे तो सरकार पर बोझ बनने के बजाय समय पर उसके लिए सहारा भी बन सकेंगे और वैसी आवश्यकता हुई तो यथावश्यक अकुंश का उपयोग भी दे सकेंगे।

दूसरी जगह अर्जन की श्रद्धा है। सब अपने अपने लिए उपार्जन करने में लगे हैं। उसकी भ्रांति शोषण और भ्रष्टाचार फलाती है। आपके पास विसर्जन की श्रद्धा है तो सचमुच संकट दूर हो सकेगा। तब धन पैदा होगा और इसकी मदद सरकार को भी पहुंचेगी। सरकार के पास धन की और सोने की कमी नहीं है। पर उसमें जो लोगों के स्वार्थ का विसर्जन गया है उतनी ही शक्ति माननी चाहिए। सरकार कानून से भी धन ले सकती थी। पर कानून से मिलन वाल द्रव्य में वह शक्ति नहीं हो सकता।

अहिंसक शक्ति सरकार की शक्ति को कम नहीं करेगी बढ़ायगी ही। सरकार की शक्ति बढ़ने का मतलब होना चाहिए जनता का समय और स्वार्थ सम्बी होन जाना। राजा का सामर्थ्य स्वयं प्रजा ही तो है। जहां राज की समृद्धि का मतलब प्रजा का ह्रास होने लगता है तो वह राज्य फिर टिकता नहीं है। बिजली का प्रकाश दीपक के प्रकाश को कम्मा नहीं उसमें सहायक बनता है। यदि सचमुच हम के पास अहिंसक शक्ति हो अपने को विसर्जन करने वालों की कमी न रह जाय तो सारी हवा ही बदल जायगी। देश जो कभी-कभी

अपने को फटा और असहाय अनुभव कर आता है वह जुड़ जायगा और दूसरे देशों तक के लिए आश्वासन का सबल बन सकेगा।

आपके वि-सर्जन के मन्त्र से देश में बलिदानी जन उदय में आयंगे जो जीवन देंगे और संकट काटेंगे, ऐसी मैं आशा करना चाहता हूं।

दिसम्बर, '६२

□ ■ □

विसर्जन आश्रम इन्दौर में कार्यकर्ताओं को दिये गये उद्बोधन का सार.

अहिंसा का पुनरुज्जीवन

धर्म के शब्दों के बारे में एक बड़ी कठिनाई यह है कि उनका सम्बन्ध सर्वथा अन्तरंगता से होता है। इससे जब धर्म की तुला पर कर्म को तोलते हैं और यह कार्य बहुत आवश्यक है तब साफ-साफ परिणाम हाथ नहीं आता। सदा ही दुविधा बनी रहती है और मालूम होता है कि किसी कर्म का मान धर्म की अपेक्षा से निश्चित करना प्रायः असम्भव है।

कर्म स्वभावज है। इसी तरह धर्म भी वस्तु-स्वभाव है। इन दोनों के बिना जीवन चलता नहीं। लेकिन विचारक लोगों को विचार करते हुए यहां तक पहुंचना पड़ता है कि कर्म ही धर्म की बाधा है। यही शब्दावली कर्म-संवर और कर्म-निर्जरा में धर्म का आरम्भ बताती है। यहां कर्म-बन्ध है और मोक्ष कर्म के सम्पूर्ण क्षय की अवस्था का नाम है। जैन दर्शन का सारा ढांचा ही इस पर खड़ा है। वहां कर्म पाप का समानार्थवाची बन जाता है। पुण्य-कर्म भी वहां है अन्त में उसे मोक्ष में बाधक बताया है। कर्म से सर्वथा मुक्त आत्मा की अवस्था सिद्धावस्था है और कर्म पुद्गल है। पुद्गल के संयोग और सम्पर्क के कारण ही भवबन्ध और संसार चक्र है। अतः कर्मनाश में ही मोक्ष है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कुरुक्षेत्र में कर्तव्य अकर्तव्य का प्रश्न उठने पर अन्त में अकर्म के महत्त्व पर बल दिया गया है।

यही उलझन निवृत्ति प्रवृत्ति की चर्चा में विवाद और बुद्धि भेद का विषय बनी है।

उलझन यह शब्द-मीमांसा से कटने वाली नहीं है। शब्द तट तक पहुंच सकते हैं। जीवन की अभ्यन्तरता को वे नहीं पा सकते। इससे विवाद और शास्त्रार्थ जबकि विज्ञान का गुण है तब साधक के लिये दोष है। क्योंकि विवाद में अन्त नहीं मिलता है। और दर्शन के द्वन्द्व में से जो फल उठता है उसमें सब धूमिल हो जाता है। अधिकांश उसमें अगुण आ मिलता है।

बात सीधी-सी यह है कि अन्तरंगता का भूषण कोई बाहरी मान या प्रमाण बन नहीं पाता। बनाते हैं तब फिर कृत्रिम और अविश्वसनीय पड़ जाता है।

यह गड़बड़ बुद्धिवादी को इतना परेशान करती है कि वह अन्त में सब धर्म और अध्यात्म से छुट्टी पा लेना चाहता है और जीवन-शोध के लिये भी विज्ञान की शरण लेता है। विज्ञान में कुछ स्वतःसिद्ध मानने का आग्रह नहीं है और प्रयोग के लिये वहां सदा अवकाश है। इसलिये समझदार लोग जिन्हें शब्द से अधिक सार से मतलब है विज्ञान की अधिक सुनते हैं और उसी का सहारा लेते हैं। मनोविज्ञान जीवनविज्ञान, समाजविज्ञान आदि-आदि। ये श्रद्धा अनावश्यक कहते हैं और जिज्ञासा को पर्याप्त मानते हैं। फिर जितनी दूर तक प्रयोग और तक उन्हें ले जाये वहीं तक वे सन्तुष्ट रहते हैं। अज्ञेय के प्रति कोई निश्चित धारणा या वृत्ति बनाने से वे बचते हैं और विजिगीषा को लेकर वे बस तटस्थ हो रहते हैं।

ऐसी अवस्था में धर्म के शब्दों को यदि टिकना है बल्कि प्राण-वन्त और ज्वलन्त बनना है, तो आवश्यक है कि उनमें तत्त्वार्थ नहीं प्रत्युत जीवन का रक्त, प्राण का सार डाला जाय। अन्यथा वह शब्द इतने कोरे और फालतू बन जायेंगे कि समझदारों के बीच उनका उच्चारण विडम्बना जैसा जान पड़ेगा।

धर्म के शब्द प्रायः नकारान्त हैं। यथार्थ में नकारादि हैं। जैसे अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह। ये शब्द 'अ'—पूर्व इसलिये हैं कि वे बाहरीपन से विमुख हैं। किन्तु विमुखता में ही उनका सार नहीं है। जैसे बाहरी पदार्थ से आंख मीच लेने या पीठ फेर लेने में अपरिग्रह नहीं है। चोरी न करना भर अस्तेय नहीं है। न हिंसा का अभाव अहिंसा है। फिर अस्तेय क्या है? अहिंसा क्या है? यह प्रश्न बनता है।

जिसको अस्तेय और अहिंसा और अपरिग्रह की लगन नहीं है, वह उन शब्दों की कितनी ही बाल की खाल निकाले उसको सार नहीं मिलेगा। पत्त के भीतर पत्त मिलते जायेंगे। उनके भीतर और पत्त। शरीर को चीरते-फाड़ते जाइये। आत्मा कहीं मिलने वाली नहीं है। ज्ञान का यही हाल है। धर्म ज्ञान का और विनेपकर। श्रद्धा के बिना ज्ञान सम्यक् हो नहीं सकता। क्योंकि उपलब्धि जिसकी श्रद्धा में है वह इन्द्रियों की पकड़ में आ नहीं पाता। इसलिये मति और श्रुति के ज्ञान से वस्तु का अवत्व्य बचा ही रह जाता है।

अब यहां अहिंसा को लें।

देह है तब तक कर्म है। तब तक हिंसा भी है। अधिक-से-अधिक हम यह कर सकते हैं कि शरीर को हिलने डुलने न दें। इन्द्रियों को रोक लें। आंख देखे नहीं और दूसरी इन्द्रियां भी अपना काम करें नहीं। मान लीजिये कि कान को भी हम इतना साध लेते हैं कि बाहर शब्द सुन न पाये। सर्वथा ध्यानस्थ

और समाधिस्थ हो जाते हैं। पर जब तक मर पूरी तरह नहीं जाते तब तक अन्दर धड़कन तो रहने वाली है, श्वास तो चलता ही रहेगा। बारीकी से देखें तो कहना कठिन है कि इतने में भी किंचित् हिंसा समाई नहीं है। यानी जीवन का स्वीकार हिंसा का भी स्वीकार है।

इस स्वीकृति की वेदना में से ही अहिंसा का धर्म अनिवार्य और अमोघ बनता है। अर्थात् अपनी अहिंसा से सन्तोष नहीं लिया जा सकता। अहिंसा की बात ही यह है कि व्यक्ति व्यथित रहे कि मुझसे अब भी हिंसा हो रही है।

सन्त ने सदा स्वीकार किया है कि उन-सा कुटिल खलकामी कोई न होगा। कहा जा सकता है कि जो ऐसा अनुभव करता है सन्त वही है। असन्त लोग अपने बारे में कातर नहीं होते। वे अपने को मानते हैं और विनय की जगह उन्हें स्वाभिमान प्रिय होता है।

अहिंसा का भी मूल सार यह है कि व्यक्ति में अपनी हिंसा की पहचान और उसका पश्चात्ताप बढ़ता जाय और उसी अनुपात में अपनी अहिंसा की त्रुटि उसे उत्तरोत्तर अधिक अनुभव होती और चुभती जाय।

इस तरह देखेंगे तो अहिंसा किसी भी कर्म के साथ जड़ित नहीं दिखाई देगी। दीन को दान दिया, इसमें अहिंसा नहीं दीखेगी। रोगी की परिचर्या की, इसमें भी अहिंसा नहीं जान पड़ेगी। कृत्य के साथ उसका सम्बन्ध ही दीखना बन्द हो जायगा। दस दिन एकासन किया, पांच दिन निराहार व्रत रखा, इतना समय साधु-सेवा में लगाया, आदि-आदि बातों में से अहिंसा और धर्म के पालन की सान्त्वना न मिलेगी। असल में धार्मिक व्यक्ति को अपने से सन्तोष कभी मिलना ही नहीं चाहिए। धर्म का मूल्य अर्थात् अहिंसा का मूल्य आत्मव्यथा है जिसमें से निरन्तर आत्म विसर्जन की प्रेरणा मिलती रहती है। इसमें से अनन्त क्षमा, अनुकम्पा की उत्पत्ति व्यक्ति को होती है। इसी आध्यात्मिक अवस्था का लगभग बाहरी आकिंचन्य है। जिसे दूसरे दुःख उठाना कहते हैं उसी में उसे सुख अनुभव होता है और समझा जाने वाला सुख उसे काटता है। इस मनोदशा का तर्क सहसा हम हाथ नहीं आता। मामूली तौर पर जिसे प्रतिक्रिया कहते हैं, अर्थात् स्वरति का ह्रास विरति, यहीं हम वहां देखने लग जाते हैं। समझते हैं कि दुनिया में ये खट्टे और रूखे भाव हैं। उन्हें शायद इसी रस की आवश्यकता है। कार्य-कारण में मिलने वाला यह यहीं प्रथम रस है।

मैं यह नहीं कहूंगा कि मूल में यह प्रतिक्रिया साधु लोगों में मिलती नहीं है। बल्कि यह भी माना जा सकता है कि अधिकांश में लिंग रूप की साधुता मूलतः प्रतिक्रियात्मक है। पर धर्म भावना जहां ज्वलन्त है उसका उस प्रतिक्रिया

क बा~ से तनिक भी हृदयगम नही किया जा सकता। जिसमे अजस्र कारुण्य, सहानुभूति पर संवेदन और नितान्त उत्सग प्राप्त होता है उस प्रेरणा के उत्स से बडी उपलब्धि इस ससार मे कोई नही है। इसी को भक्ति और तितिक्षा कहते हैं।

मानस चतना की इस अवस्था मे से जो निकलता है सहज अहिंसात्मक होता है। भाजन तो भाजन है। साधु में वह धम को पोषण देता है। असाधु म वही पाप को बल देता है। इस तरह स्पष्ट होगा कि अहिंसा का सम्बन्ध कृत्य के बजाय आत्म से है। अहिंसक कम जैसा स्वत कुछ होता नही। अहिंसक हो सकता व्यक्ति है। अहिंसक का कम अहिंसक होगा। व्यक्ति के अहिंसक होने का मतलब उसका उत्सगशील होना सवथा विसर्जित होना अनुकम्पा और कारुण्य स भरपूर होना और अपने प्रति आलोचक बने रहना है।

यो देख तो अहिंसा के प्रचार का क्षत्र हम स्वय बनत है। अपने से बाहर अपने से निरपक्ष जिसका प्रचार हो सकता है, वह अहिंसावाद भले हो अहिंसा नही है। आग अपना प्रचार नही कर सकती। कारण जिसे वह छूती उसे ज्वाला बना देती है। इस आत्मसात् करने की प्रक्रिया द्वारा वह अपने को फलाती है। आग क ~ मे जैसे ज्वाला और चिनगारी नही है वसे ही अहिंसा के बाद म भी अहिंसा नही रह जाती।

गाधी के ज्वन्त व्यक्तित्व के स्पश का भोग इस देश न पाया। वह अनुभव अब भी उसकी रगों म है। उस स्पश से मिट्टी के आदमी ने अनुभव किया कि वह कुन्दन बन गया है। गांधी की अहिंसा चरखे म प्रकट हुई। सत्याग्रह में उसने चमत्कार दिखाया और दूसरे रचनात्मक कार्यों म उसने अपना प्रकाश दिया। चरखा अब भी है बल्कि पहले से खा~ी की उपज अब ज्यादा है। सत्याग्रह भी अनक सुनने म आते है। रचनात्मक काम की सस्थाए भी गाधीजी के जीवन-काल स गिनती मे अब द~ नही होगी। यह सब काम अधिक है क्योंकि पण्ड अधिक है। सरकारी रुपया है निधियो का रुपया है। पर फिर मन्दता क्यो है? क्यों है कि आज हर आदमी अपने स और अपन स्वाथ से चिपटता दीखता है अपनी आहुति द डालने की बात उसे कल्पना म भी नहीं सुहाती।

क्यो ऐसा है इसका एक ही उत्तर है। वह यह कि सत्य कृत्य म नहीं है। बाह्य अहिंसा नही है। काम-काज के विस्तार म से आत्मोपलब्धि नही है।

धम स्वय कम नही होता। लेकिन कम से वह तटस्थ भी नही रह सकता। आत्मा जो विदेह है शरीर जिसे नही है उसे प्रत कहत है। कम मे

जो व्यक्त नहीं है वह धर्म प्रेत के समान है। लेकिन धर्म है तो धर्म उस ज्वलन्त हो जाना चाहिए। तब वह संसार को बढ़ाने का नहीं उसको काटने का साधन बनता है, यानी समस्याएं उससे कटती हैं। जैसे कि धर्महीन कर्म से वे उपजती और बढ़ती जाती हैं।

आज की स्थिति संकट की है। अहिंसा और धर्म का विश्वास खोया जा रहा है। दोष केवल उनका माना जायगा जो अपने को अहिंसा और धर्म में विश्वास रखने वाले मानते हैं। विश्वास सच्चा हो और पूरा हो तो हो नहीं सकता है कि वह छुए और फले नहीं। पर है यह कि आध्यात्मिक नैतिक बन कर रह गया है और नैतिक कोरा वाचिक बनता जा रहा है। इस तरह स्थिति पर से धर्म का नियमन और शासन एकदम उठ गया है। जो चैतन्य स्वभाव है वह धर्म मानो जड हो आया है। स्थिति और परिस्थिति का भार मानो उस पर भारी पड़ रहा है। मैं उस चिनगारी को नहीं समझ सकता जिस पर कोयला का बोझ भारी होता है। अगर सच ही चिनगारी है तो कोयला कितना भारी हो कितना ही काला हो चिनगारी उसको दहका और दमका कर ही रहेगी। अगर वह दहक और दमक आज दिखाई नहीं देती तो सिवाय इसके क्या कहा जा सकता है कि आग का दम भरनेवालों के पास सच में एक चिनगारी तक नहीं है।

और इस स्थिति के सामने के लिए मुझे आवश्यक मालूम होता है कि शब्द में और शास्त्र से सत्य को मुक्त किया जाय और आत्म की व्यथा और साधना में से शब्द के अन्तरंग को उज्ज्वल और सार्थक करके फिर उनको पुनर्जीवित और प्रचण्ड किया जाय।

अहिंसा शब्द ऐसा ही शब्द है। आज वह बेजान और ठण्डा है। कारण उसमें बलिदान नहीं पनपता है। जीवन का अर्पण उसके प्रति नहीं है। धर्म को शास्त्र ने ग्रस्त कर रखा है। यानी जीवन का वहां से शासन होता। शास्त्र का सामर्थ्य यदि धर्म में है तो आज की स्थिति के प्रश्नों पर क्या वह प्रवृत्त नहीं होता? लोक जीवन के प्रश्न अगर धर्म की ओर से समाधान नहीं पायेंगे तो धर्म की ओर धर्म के शास्त्र की साख घटनी ही जाने वाली है। शास्त्र से और किताब से धर्म जीने वाला नहीं है। वास्तव धार्मिक के जीवन से ही जीया है और जीयगा। धार्मिक से स्वतन्त्र धर्म है कहां?

● ● ●

अहिंसा और सामाजिक समस्या

अहिंसा ऊँचा सिद्धान्त है यह तो सभी मानते है। प्रश्न और संशय तब होता है जब अहिंसा से सामाजिक और राजनीतिक संकटों के हल का यत्न किया जाता है। अहिंसा से आत्मा को लाभ होता हो यह तो समझ में आता है पर अत्याचार का प्रतीकार और इलाज कैसे बन सकता है यह सहसा समझ में नहीं आता।

अहिंसा का चलन जिस रूप में दीखता है उसे मानने वाले जिस परिपाटी में उसे मानते और पालते हैं उससे अहिंसा एक निषेधात्मक वस्तु रह जाती है। हिंसा न-करना ही वहाँ अहिंसा है। अर्थात न-करना वहाँ प्रधान हो जाता है। यह समझ में कैसे आय कि न-करने से स्थिति संभल सकती और संकट कट सकता है। स्थिति की माग सदा है कि कुछ हो कुछ किया जाय। न करने से उलझन कटती नहीं है ज्यों की त्यों बनी रह जाती है। अर्थात् अहिंसा स्थिति और परिस्थिति को सदा अछूता छोड़ती है। शासन या समाज का परिवतन ऐसे उसके वश की बात नहीं रह जाती।

अहिंसा के सम्बन्ध में यह अभियोग नितान्त निराधार नहीं है। बल के साथ उसका योग कम ही देखा जाता है। यदि बल उसमें है भी तो वह स्व रत है तप त्याग में तुष्ट रहता है। वस्तु स्थिती के प्रति उसका पराक्रम प्रगट नहीं होता है।

अहिंसा यदि सृजनात्मक नहीं समीक्षात्मक हो तो यह उसका नकारात्मक परिणाम अवश्यभावी है। चेतना के सृजनात्मक उत्साह पर तब समीक्षात्मक सवार हो जाता है और तो उसम से कम की हानि होती और निष्क्रियता निश्चेष्टता फलित होती है। जीवन का कोई व्यापार ऐसा नहीं बचता है जिसमें हिंसा नहीं देखी जा सकती। इसलिए ऐसी निरी समीक्षात्मक अहिंसा हिंसा के निषेध में ही अपनी पवित्रता और पूर्णता देखती खोजती हुई कम विमुख बनकर रह जाती है। वह सिद्धान्तवादी और आदर्शवादी अहिंसा है जो आलोचना का अधिकार अपनाती है, जीवन सम्बन्धी दायित्व अपने ऊपर नहीं स्वीकार करती है। वह

व्यक्ति या अमुक दल के लिए अपने सम्बन्ध में एक नैतिक उच्चाभिमान का अवसर देकर समाज में विषमता पैदा करती है। कुछ उस चेष्टा में कम विरक्त अहिंसक साधु बनते हैं, शेष कमरत हिंसक संसारी बने रहने को रह जाते हैं। इस प्रकार मानव समाज विरागी रागी श्रेष्ठ-निकृष्ट उत्तम अधम आदि श्रेणियों में बट जाता है। परस्पर संयुक्त होने में नहीं आता। अर्थात् अहिंसा की उपरोक्त धारणा अन्त में वर्ग चेतना और वर्गविग्रह को समाप्त नहीं कर सकती। मूल सामाजिक समस्या उससे और कसती ही है।

किन्तु अहिंसा की सृजनात्मक धारणा भी है वह जीवन्त धर्म है। वह निकार निषेध-मूलक नहीं है। वह अहिंसा व्यवहार को काटती नहीं सम्पन्न करती है। वह जीवन विमुख और कर्म-विमुख नहीं हो पाती। इतना ही नहीं, वह जीवन को वेग देती और कर्म को विराट करती है। हिंसा न-करना उसकी मर्यादा नहीं वरन् उसका प्रथम चरण भर है। शेष उसमें करने को बहुत होता है। इस अहिंसा में स्व के प्रति निर्मम रहकर पर के प्रति आत्मीयता और आत्मयता साधनी पड़ती है। यह अहिंसा स्वरूप रह नहीं सकती। समाजोन्मुख उसे होना ही पड़ता है। ऐसे वह धर्म से कातर नहीं बनती बल्कि तत्पर और पदारूढ होती है। इस अहिंसा में अपनी प्रेरणाओं को हम अपने भीतर उस गहरे तल से लाना और उस तक ले जाना होता है जिसको अवचेतन कहते हैं। उस पटल को भेदकर चैतन्य को गहरे सींचा जाता है। इसमें से मनुष्य की सम्पूर्ण चेतना का परिष्कार होता है। उसमें स्वार्थ की क्रमशः आहुति होती रहती है और जो बाधायें और वासनायें चैतन्य को अपने में रोकती हैं क्रमशः एक-एक कर गिरती जाती हैं। उस अहिंसा के कारण फिर व्यक्ति समाज से पृथक रह कर विग्रह का नहीं बल्कि समस्त होकर संग्रह का अंग बनता है। वह अपने लिए सुख सोचने की जरूरत से मुक्त हो जाता है। वह औरों का दुख लेने में स्वयं सुख अनुभव करता है। फिर उस सुख को अपने अन्तरंग प्रेम अथवा अहिंसा के स्पर्श से उसी का सुख बना दूसरे तक भेजने का कामिया पा जाता है।

हमारे सामाजिक प्रश्न मूलतः इस अभिमान में से बनते हैं कि मैं प्रधान [illegible] अन्य गौण है। मैं सही हूँ अन्य गलत है। मैं न्यायपर हूँ अन्य अपराधी है। यह अहमहिंसा का गांठ सामाजिक रोगों के मूल में है। वर्ग और वाद दल और धर्म आदि के नाम पर यह गांठ कम कर और मजबूत बना ली जाती है। सृजनात्मक अहिंसा उसी गांठ को ढीली और ढीली करती है। उसके परिणाम में हमने देखा है और यह देख सकेंगे कि मैं केवल अहिंसा सामाजिक समस्याओं

को समाधान दे सकी और दे सकती है बल्कि यह भी कि उस अहिंसा के प्रति उदासीन और निरपेक्ष रहकर मानव समस्याओं का निबटाने और सुलझाने की चेष्टा अकारथ जाती है। बल्कि वसे निरे ऐहिक (सेक्युलर) प्रयत्न से दूसरे तरह की उलझनें बनती है।

सितम्बर '५०

□ □ □

खादी और उसके फलितार्थ

खादी का केन्द्र चरखा है और चरखा अहिंसक समाज रचना का आधार है।

पिछले दिनों सब जानते हैं गांधी सेवा संघ लगभग समाप्त कर दिया गया था। उसका अब पहला रूप नहीं रह गया है। गांधीजी अहिंसा को वैज्ञानिक चाहते हैं। जितनी और प्रवृत्तियां चल रही हैं यानी खादी और दूसरे ग्रामोद्योग। लोग परखें और देखें कि उनमें वास्तव में अहिंसा की कितनी सिद्धि होती है। लगभग अब संघ वैसा शोधकों का संघ है। इसका अर्थ है कि बाहरी प्रवृत्तियों में से जिस अंश में अहिंसा का सार प्राप्त हो उतना ही उन्हें सार्थक माना जा सकता है।

खादी का इतिहास है। खादी विकासशील वस्तु है। सन् २१ से अब सन् ४१ तक उसकी परिभाषा एक जगह स्थिर नहीं रही है वह बराबर बढ़ती आई है। जीवित वस्तु ही तो विकासमय है। अर्थात् खादी निरा कपड़ा नहीं है। वह तो प्रतीक है।

उसे निरा कपड़ा मानकर जिस अर्थशास्त्र के नियमों से साबित कर दिया गया था कि खादी नहीं चलेगी खादी उसके बावजूद चली। न सिर्फ बावजूद बल्कि इच्छापूर्वक उससे उलटी दिशा अपनाकर चली। अन्त में आज देखा जा सकता है कि उस अर्थशास्त्र के ही नियम औंधे थे और खादी-तत्त्व सच्चा मान योग्य है।

मिलवाले अर्थशास्त्र में खादी का उलटापन क्या है? वह उलटापन यह है कि पूंजीवादी अर्थशास्त्र में मनुष्य के परिश्रम की कीमत सबसे पीछे और कम है। खादी में मनुष्य के उसी उत्पादक-श्रम की कीमत सबसे आगे ही होगी। खादी का काम करने वालों ने अपनी कठिनाइयां रखीं। कहा अभी खादी फिर बिकेगी कम? अभी ही यह काफी महंगी है। उसका स्टाक पर स्टाक जमा कर रखने में तो कुछ न होगा। ऐसे एक कठिन ही मजदूरी बढ़ाने के सोच में क्या उन सबको बेकार कर देने का खतरा उठा लिया जाय। पर गांधी जी

कार्यकर्ताओं की अनास्था के साथ तक करते रहे और अपनी बात पर अटल रहे। अब शायद तीन आने कत्तिन की मजदूरी के समझौते तक कार्यकर्ता आ गये हैं।

पर क्या गांधीजी का जी भर गया है? जब तक कातनेवाली या कातनेवाले को दिनभर की खरी मेहनत के एवज में आठ आने जरूरी तौर पर न मिल जाये तब तक क्या उन्हें चैन होगा? रुपये की खादी में बारह से सोलह आने उत्पादक श्रमिकों को पड़े यह चरखे के सिद्धांत की कोशिश है। आज की खादी यह बात पूरी नहीं करता। इसलिए उसे उस दिशा में विकास करते रहना है।

खादी को लोग तरह-तरह के कारणों से पहनते हैं। लेकिन सच पूछिये तो वह एक नई जीवन नीति का प्रतीक है। गांधी जयन्ती में आप पांच सौ हजार रुपये की हुण्डी अथवा खादी खरीद लें यह तो अच्छा ही है पर उससे कहीं अधिक अच्छा होगा कि आपको एक पैसे की भी खादी खरीदनी न पड़े। घर में चरखा चले और जरूरत जितनी खादी अपने सूत में से या उसके ऐवज में आप पा सकें।

खादी को चरखे से दूर न ले जाय। कहीं वह एक स्वतन्त्र व्यवसाय न बन जाय। उसमें इष्ट है धन का विकेन्द्रीकरण। इससे सच पूछिये तो बड़े-बड़े भण्डार और बड़ी-बड़ी दफ्तर दुकानें खादी की शोभा को बढ़ाने वाले नहीं हैं। सो भी किया क्या जाय? लखपती हुण्डी खरीद सकता है पर वह बेचारा चरखा कैसे काते? उनकी और हमारी इस बेचारगी के कारण ही खादी का विलायती माल के ढंगों पर बेचना पड़ रहा है। पर लखपतियों में और नासमझ समझदारों में जब समझ आयगी तो मालूम होगा कि रुपये के जरिये हुण्डी और हुण्डी के जरिये खादी लेना धर्म का सकण्ड हैण्ड बना कर लेना है।

वर्तमान शासन विधान या समाज विधान की बुराई आदमी का शोषण है। धर्म इस विधान के नीचे घुस जाता है और चालाकी फूलती है। आदमी अंक बन जाता है। वह सुख-दुख महसूस करने वाला सजीव प्राणी नहीं रह जाता। उसकी कोई निजता नहीं सत्व नहीं वह एक जिस के मानिन्द है। इस तरह लाखों-लाख की गिनती में आदमी चन्द लोगों की मुट्ठी में होकर उनकी कूटनीति के शिकार होते हैं। वे चन्द फिर पार्टी नेता हों या मुल्कों के शासक हों। राजनीति इस तरह आदमियों पर और आदमियत पर जुआ लादकर अपने सत्ता मेला करती है। लाखों को मरवाती है ताकि मुट्ठी भर की सत्ता जमी रहे।

यह काम किसी राजनीति अथवा राजनीतिक चेतना के बस का नहीं है कि वह इस मूल शोषण से लड़ सके और उसका नाश कर सके। क्योंकि उसमें

खादी और उसके फलितार्थ

खादी का केन्द्र चरखा है और चरखा अहिंसक समाज रचना का आधार है।

पिछले दिनों सब जानते हैं गांधी सेवा संघ लगभग समाप्त कर दिया गया था। उसका अब पहला रूप नहीं रह गया है। गांधीजी अहिंसा को वैज्ञानिक चाहते हैं। जितनी और प्रवृत्तियां चल रही हैं यानी खादी और दूसरे ग्रामोद्योग। लोग परखें और देखें कि उनमें वास्तव में अहिंसा की कितनी सिद्धि होती है। लगभग अब संघ खोज करने का संघ है। इसका अर्थ है कि बाहरी प्रवृत्तियों में से जिस अंश में अहिंसा का सार प्राप्त हो उतना ही उन्हें सार्थक माना जा सकता है।

खादी का इतिहास है। खादी विकासशील वस्तु है। सन् २१ से अब सन् ४१ तक उसकी परिभाषा एक जगह स्थिर नहीं रही है वह बराबर बढ़ती आई है। जीवित वस्तु ही तो विकासमय है। अर्थात् खादी निरा कपड़ा नहीं है। वह तो प्रतीक है।

उसे निरा कपड़ा मानकर जिन अर्थशास्त्र के नियमों से साबित कर दिया गया था कि खादी नहीं चलेगी खादी उसके बावजूद चली। न सिर्फ बावजूद बल्कि इच्छापूर्वक उससे उलटी दिशा अपनाकर चली। अन्त में आज देखा जा सकता है कि उस अर्थशास्त्र के ही नियम औंधे थे और खादी-तत्व सच्चा मान नीय है।

[मिसवान अर्थशास्त्र में खादी का उत्पादन क्या है? वह उत्पादन यह है कि पूंजीवादी अर्थशास्त्र में मनुष्य के परिश्रम की कीमत सबसे पीछे और कम है। खादी में मनुष्य के उसी उत्पादक श्रम की कीमत सबसे आगे ही होगी। खादी का काम करने वालों ने अपनी कठिनाइयां रखीं। महंगी अभी खादी फिर बिकेगी कैसे? अभी ही वह काफी महंगी है। उसका स्टाक पर स्टाक जमा कर रखने में तो कुछ न होगा। ऐसे एक कातिन की मजदूरी बढ़ाने के लोभ में क्या उन सबको बेकार कर देने का खतरा उठा लिया जाय। पर गांधी जी

कार्यकर्ताओं की अनास्था के साथ तक करते रहे और अपनी बात पर अटल रहे। अब शायद तीन आने कत्तिन की मजदूरी के समझौते तक कार्यकर्त्ता आ गये हैं।

पर क्या गांधीजी का जी भर गया है ? जब तक कातनेवाली या कातनेवाले को दिनभर की खरी मेहनत के एवज में आठ आने जरूरी तौर पर न मिल जायें तब तक क्या उन्हें चैन होगा ? रुपये की खादी में सोलह के सोलह आने उत्पादक श्रमिकों को पड़ें, यह चरखे के सिद्धांत की कोशिश है। आज की खादी यह बात पूरी नहीं करती। इसलिए उसे उस दिशा में विकास करते रहना है।

खादी को लोग तरह-तरह के कारणों से पहनते हैं। लेकिन सच पूछिये तो वह एक नई जीवन नीति का प्रतीक है। गांधी जयन्ती में आप पांच सौ हजार रुपये की हुण्डी अथवा खादी खरीद लें यह तो अच्छा ही है पर उससे कहीं अधिक अच्छा होगा कि आपको एक पैसे की भी खादी खरीदनी न पड़े। घर में चरखा चले और जरूरत जितनी खादी अपने सूत में से या उसके ऐवज में आप पा सकें।

खादी को चरखे से दूर न ले जाय। कहीं वह एक स्वतन्त्र व्यवसाय न बन जाय। उसमें इष्ट है धन का विकेन्द्रीकरण। इससे सच पूछिये तो बड़े-बड़े भण्डार और बड़ी-बड़ी दफ्तर दुकानें खादी की शोभा को बढ़ाने वाले नहीं हैं। तो भी किया क्या जाय ? लखपती हुण्डी खरीद सकता है पर वह बेचारा चरखा कब काते ? उसकी और हमारी इस बेचारगी के कारण ही खादी को विलायती माल के ढंग पर बेचना पड़ रहा है। पर लखपतियों में और नासमझ समझदारों में जब समझ आयगी तो मालूम होगा कि रुपये के जरिये हुण्डी और हुण्डी के जरिये खादी लेना श्रम को सकण्ड हैण्ड बना कर लेना है।

वर्तमान शासन विधान या समाज विधान की बुराई आदमी का शोषण है। श्रम इस विधान के नीचे घुस जाता है और चालाकी फूलती है। आदमी अंक बन जाता है। वह सुख-दुख महसूस करने वाला सजीव प्राणी नहीं रह जाता। उसकी कोई निजता नहीं सत्व नहीं वह एक जिंस के मानिंद है। इस तरह लाखों-लाख की गिनती में आदमी चन्द लोगों की मुट्ठी में होकर उनकी कूट नीति के शिकार होते हैं। वे चन्द फिर पार्टी नेता हों या मुल्कों के शासक हों। राजनीति इस तरह आदमियों पर और आदमियत पर जुआ लादकर अपने खेल खेला करती है। लाखों को मरवाती है ताकि मुट्ठी भर की सत्ता जमी रहे।

यह काम किसी राजनीति अथवा राजनीतिक चेतना के वश का नहीं है कि वह इस मूल शोषण से लड़ सके और उसका नाश कर सके। क्योंकि उसमें

प्रयोजन साध्य और व्यक्ति साधन ही रहता है। असली स्वतन्त्रता वैधानिक नहीं होती। राष्ट्र वह स्वतन्त्र है जिसका हर आदमी स्वतन्त्र हो। यानी जहाँ मेहनत श्रम की हो और जहाँ किसी के विकास पर ऊपरी दबाव न अनुभव हो। जहाँ प्रभाव उसी के पास रह गये कि जो आलसी है और श्रम के साथ सदा खुशहाली हो। जहाँ हरेक की इज्जत पवित्र समझी जाय और किसी के साथ पशु की भाँति बर्ताव न हो सके।

चरखा उसी अवस्था को लाने के लिए है। विलायती अर्थशास्त्र विलायती युद्ध हमको दे गया है। वह युद्धोद्योग को समझ सकता है ग्रामोद्योग को वह किस समझ से समझेगा? खादी ग्रामोद्योग का केन्द्र है। सत्ताएँ जो केन्द्रित और इस कारण स्फीत होकर अपने मद में स्वरक्षा या स्वविस्तार के नाम पर आपस में लड़ पड़ने को लाचार होती हैं वे सत्ताएँ टूटेंगी और बिखरेंगी तो इसी तरह से कि हरेक श्रमी बने और अपने श्रम का मालिक बने। इस तरह से हर श्रमिक स्वयं में सत्तावान और स्वाधीनचेता होगा। अभी औसत आदमी से मेहनत तो वसूल कर ली जाती है पर रखा उसे अभाव और अज्ञान में जाता है। अन्त में उसी की मेहनत में से उपजे हुए धन की पूँजी में से कुछ देकर उसे अपने मतलब का साधन बनाया जाता है। पूँजी की यही चाल है। पूँजी यानी सत्ता। पूँजी नहीं जमा हो सकती जब तक कि कहीं न कहीं श्रम को चूसा न जा रहा हो। धन श्रम में से बनता है। धन संचय से श्रम का ह्रास होता है। पूँजी की कीमत जहाँ बड़ी है आदमी की कीमत वहाँ उतनी ही घटी। यानी जहाँ श्रम सस्ता है वहीं धन महँगा हो जाता है।

खादी इस तरह पूँजीवादी अर्थशास्त्र से स्पष्टतापूर्वक उलटी दिशा में चलती है। और यदि कभी कागज पर नहीं बल्कि सचमुच में पूँजीवादी शासन विधान और समाज-व्यवस्था में क्रान्ति आयगी और उसका कायाकल्प होगा तो वह चरखा और खादी और ग्रामोद्योग के मार्ग से ही होगा। क्योंकि यहाँ है जिसमें देश का आधार या देश की राजनीति को उस देश की जनता के वास्तविक हित के अर्थ में ही देखा जाता है। यानी वहाँ जनता के इस्तेमाल के लिए राजनीति का इस्तेमाल किया जाता है।

यह तो ऊपर स्पष्ट कर ही दिया गया कि खादी यदि खादी है तो तभी जब उसमें अन्तर्निरीक्षण की वृत्ति है और वह विकासशील है। यानी वह मुनाफाखोर (Middle man) के बीच को कम-से-कम करके उत्पादक श्रम को अधिक-से-अधिक पहुँचाने के कर्तव्य के प्रति सावधान है। इसका यह मतलब कि खादी आश्रम का व्यवस्थापक जानता रहे कि उसके कातनेवाली कत्तिन

और बुननेवाला जुलाहा ज्यादा असली और ज्यादा प्रधान आदमी है। गांधी-आश्रम के व्यवस्थापक की खादी का असला अर्थ लिया जाय तो यह कोशिश होगी कि वह समय जल्दी आये कि उसे व्यवस्थापक रहने की आवश्यकता न रहे और वह खुद जुलाहा बन जाय।

इसके विरोध में अगर खद्दर-संगठन राजनीति के प्रयोजन का कहीं साधन बन गया—चाहे फिर गांधीवादी ही राजनीति वह क्यों न समझी जाती हो—तो वह हमारी मुक्ति में सहायक न रह जायगा। तब वह भी एक न्यस्त स्वार्थ हो जायगा। इसलिए ध्यान रखना होगा कि खद्दर की आत्मा चरखा है और खादी खरीदने वाले से खादी बनाने वाला श्रम में मूल्य के अधिक निकट है।

अक्टूबर '४१ ■ ■ ■

अपरिग्रह और स्वत्व विसर्जन

सभी जानते हैं मनुष्य चला जाता है कोई भी साधन वह अपने साथ नहीं ले जाता। धर्म अपरिग्रह पर जोर देता है। सब इसका समर्थन करते हैं पर उन्हें अपना (Share) हिस्सा छोड़ने में दिक्कत होती है। वे नैतिक भी बने रहें और धन भी रहे इसमें उन्हें सन्तोष रहता है। दुविधा यही है। अपरिग्रह से हमें यह क्षमता और दृष्टि मिलनी चाहिए कि पदार्थ, जो हमारा नहीं है उसका हमें क्या करना है? पर्याय और स्वत्व विसर्जन में से यह प्रतिफलित होगा कि उसका जो कुछ है वह तुम्हारा नहीं है तुम्हारे जिम्मे किया हुआ है। इससे स्वतः ट्रस्टीशिप निकलेगा।

विनोबा ने जो कहा कि सरकार या राज्य के बिना हमारा काम चल सकता है, पर व्यापारी के बिना नहीं चल सकता। इस पर व्यापारी-वर्ग को विशेष ध्यान देना है। जहां उपभोग होता है वहां वस्तु का उत्पादन नहीं होता है और जहां उत्पादन है वहां उपभोग का अवसर नहीं है। व्यापारी उत्पादक और उपभोक्ता के बीच का आदमी है कि जो उत्पादन को उपभोक्ता के पास पहुंचाता है। आज हवा ऐसी बनी है कि बीच का आदमी फालतू है। वह नफा कमाता है नफा कमाने की आदत उसके रक्त में है। उसकी आदत को दूर न कर उसे ही दूर कर दिया जाय और उसकी जगह पर तनख्वाहदार को रख लिया जाय तो काम ठीक नहीं होगा क्योंकि उसका उसमें रस नहीं है। हमने सोचा यह क्रांति हुई इससे स्वर्ग आ जायगा। पर बात एक दूसरी सामने आती है। अन्य एक पार्टी इस पर भी तरह-तरह की कठिनाई झेलता हुआ काम कर सकता है। सिविल सर्विस वाला अपना भत्ता व तनख्वाह आदि खतरे में डालने वाला नहीं है। इसमें लगा यह तरीका भी सही नहीं है। फिर यह विचार आया कि प्रोफिट मोटिव वाले के हाथ में व्यापार कम रहने दें सिविल सर्विस वाले के हाथ से होने वाले नुकसान के लिए कमीशन बिठा दें। अन्य-वर्ग के हाथ में व्यापार रहने में तो शोषण आयगा ही। अतएव उसमें धीरे धीरे व्यापार ले लिया जाय। इससे व्यापारी वर्ग पर उल्टी प्रतिक्रिया होती है। उनके हाथ में

जितनी कुशलता है उसे वह अपनी सिक्युरिटी (Security) में लगाने की सोचेगा, समाज के हित में नहीं।

यह सब देखने पर स्पष्ट लगता है—वैश्य के जिम्मेवार बने बिना काम नहीं चल सकता। उसे अपना जीवनक्रम और व्यवहार बदलना होगा। हमारे भारत में सहस्रों वर्षों तक यह घटित हो सका। बड़े बड़े करोड़पति यहां हुए पर उनका जीवन साधारण व्यक्तियों जैसा रहा। व्यापारी अपनी सिक्युरिटी (Security) का प्रश्न ही उठा दें, कल की बात ही न सोचें। गीता में जो कहा गया—"योगक्षेमं वहाम्यहम्" को सोचते हुए अत्यन्त निःशंक व प्रसन्न भाव से वचस्व और प्रखर चैतन्य में उसे अपने कर्तव्य पर बढ़ना होगा। इससे उनकी भार का तनाव कम होने से स्थिति सहज बनेगी।

जिन लोगों का तनाव पुद्गल एवं सम्पदा से सम्बन्ध है वे थोड़े से खड़े हो जाएं तो बड़ी शक्ति आ सकती है। उदर एवं शरीर के प्रतिनिधि दिमाग को बल दें इसकी आवश्यकता है। जो कर्म के लोग हैं, वे धार्मिक आन्दोलनों को बल दें। मैं मानता हूं जिस प्रकार कार्मिक आन्दोलनों को धर्म के बल की आवश्यकता है, उसी प्रकार धर्म के साथ कर्म की शक्ति आवश्यक है।

आज के संघर्ष और अशांति पूर्ण युग में यदि भारतवर्ष मार्ग नहीं दिखा सका, तो दूसरी ओर से तो सम्भावना ही नहीं है। यह एक शुभ लक्षण है कि अणुव्रत और सर्वोदय इस दिशा में कार्य कर रहे हैं।

मई '५९ ■ ■ ■

राजनीति का प्रश्न
राष्ट्र निर्माण की समस्या

एक दिन दो बन्धुओं में चर्चा हो निकली। एक का कहना था कि कांग्रेस और सर्वोदय आज एक-दूसरे से उलट हैं पर यह क्या कि सर्वोदय में उन्हीं नेताओं को मंच पर उपदेश के लिए लाया जाता है जो वजीर हैं? कांग्रेस अब सत्ता है और सत्ता केन्द्रित ही होती जा रही है। सर्वोदय क्या उसमें उलटी राह नहीं बताता?

इन बन्धुओं की राय थी कि स्वराज्य के बाद हम आगे नहीं बढ़े हैं नीचे खिसके हैं।

दूसरे बन्धु सहमत थे कि असन्तोष का कारण हो सकता है लेकिन जितना और जो हुआ है उसके लिए सब का भी कारण है। देखिए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कितना मान बढ़ा है! भारत की बात की हर जगह कद्र है। युद्ध छूटा नहीं और अगर सुनकर कोई आज उसकी बात नहीं कर सकता तो यह भारत की आवाज की ताकत की वजह से। यह तो मानना ही होगा कि भारत में गरीबी है इसलिए पहला काम माल पैदा करना और ज्यादा पैदा करना है। सिद्धान्त की बात तो पीछे भी देखी जा सकती है। आदमी दीन और दरिद्र रहेगा तो सिद्धान्त कहां रह जायेंगे? साफ है मशीन ज्यादा पैदा करती है। कुछ उससे बेकार बनते हैं तो उनके लिए दूसरे काम ढूंढे जायें बीस आदमियों का काम एक मशीन कर दे तो क्या जरूरत है कि उन्नीस आदमियों को फालतू उस काम में रखा जाय? उन उन्नीस के अड़तीस हाथ किसी दूसरे काम में लग सकते हैं। इसलिए, अगर से बेकारों को काम मिलता है तो वह अच्छा। कौन उसे खराब कहता है? और वह लाजिमी सरकार उसमें मदद दे रही है और देगी। पर मशीनी उत्पादन बन्द हो या न हो क्योंकि चरखा का चलना है तो भाई यह तो हठ की बात होगी गरीब के मन की बात न होगी। चरखा जितना कर सके चरखा कर हाथ करघा भी चले और मिल भी अपना जरूर कपड़ा बनाये। तो हम

तरह चारों ओर से गरीबी और बेकारी पर हमला बोलना है। जैसे हो अभाव काटना है बहुतायत लानी है। हमारे नेता शासन पर जाकर यहां कर रहे हैं। इसी से बात सोशलिस्ट पटर्न (समाजवादी प्रणाली) की है। यह नहीं कि निजी व्यवसाय और उत्पादन की पद्धति को एकदम खत्म करना है पर जहां वह विघ्न बने वहां सचमुच उसे नहीं रहने दिया जा सकता। पूंजीवादी उत्पादन स्थापित स्वार्थ की गांठें बनाता है और राष्ट्र को पनपने नहीं देता। तो व्यवसायों और उद्योगों का आवश्यक समाजीकरण हम कर रहे हैं। लक्ष्य यह कि सब तरफ से सब गोलमाल पैदा हो और गरीबी की जगह हम खुशहाली लायें। आप कुछ गोलमाल होने की बात कहते हैं पर बड़े कामों में ऐसा कुछ हो जाना अचरज की चीज नहीं है। आदमी अभी देवता तो नहीं बना है। अचरज बल्कि यह है कि काम इतना हुआ है और गोलमाल इतनी कम हुई है। यों ध्यान उधर भी है पर देखिए कि कितने बड़े बड़े बांध तैयार हुए हैं और उनसे किस कदर फायदा होगा। रेगिस्तान में वहां हरियाली होगी और जमीन फसल उगलेगी। साइंस (विज्ञान) की मदद से कुदरत से हम ताकत खींचेंगे और उसे जाया नहीं जाने देंगे। आखिर इस कदर पानी नदियों की राह बह जाता था और काम नहीं आता था। नुकसान करता था सो अलग। पर उसमें ताकत थी और उस ताकत को हमने बांधा है। उसको बिजली की शक्ल में हम हर देहात में पहुंचा देंगे। ताकत हो फिर बड़े-से-बड़े काम हो सकते हैं। अभी तो आदमी हमें मांगने पड़ते हैं और मशीनें भी। हलके हलके मशीनें हम यहां तैयार करने लग जायेंगे और टैक्निशियन (यान्त्रिक विशेषज्ञ) भी। यह चन्द दिन की बात है फिर हमें कुछ उधार लेना नहीं होगा बल्कि यह मुल्क तब मांगने की जरूरत में नहीं उलटे देने की हालत में हो जायेगा। भाई हम बटना नहीं है सबको इकट्ठा रहना है। कांग्रेस सर्वोदय को नहीं मानती सो नहीं। हां वह उन लोगों के प्रश्न में अलग नहीं मानती जो सर्वोदय से समाजवाद को पसन्द करते हैं या किसी और तरीके को—यानी वह एक पक्ष पर नहीं झुक सकती एकान्तवादी नहीं बन सकती। यों तो दायां पक्ष है और बायां पक्ष। दोनों आपस में लड़ें यह कांग्रेस को मंजूर नहीं है। यह सर्वोदय की पक्ष बने इसमें क्या फायदा है और आपकी यह शिकायत कि मिनिस्टर मंच पर लाये जाते हैं माफ कीजिए स्वस्थता का चिह्न नहीं है। आखिर क्या ये लोग आजादी के जंग में तपे हुए सिपाही नहीं हैं? स्वतन्त्रता के लिए क्या मुसीबतें इन्होंने नहीं उठाई? मन्त्री हैं, क्योंकि देश की तरफ से यह काम उन पर आया है। कहां तो इस सेवा के लिए हम उनके कृतज्ञ होते वहां आप आपत्ति करते हैं। आखिर मन्त्री-पद होना तो है और किसी को यह

भाम अपने कन्धा उठाना है। जिनके कन्धे परखे हुए हैं और पौढ़ हैं उन्हीं पर बोझ आये यह स्वाभाविक मानिये। यह बोझ है स्वाद नहीं है। भाई, अभी तुम जवान हो। सन् २६ में तुम पैदा भी नहीं हुए थे जब इन लोगों ने मोर्चा लिया था। जलियांवाला बाग तुमने सुना है इन्होंने झेला था। इसलिए जल्दी नहीं करना चाहिए भाई।

उत्तर म भाई कायल हो गये ऐसा नहीं मालूम हुआ बल्कि कुछ गरमा ही गये। उन्होंने भी अपनी तरफ के तर्क दिये और उसी जोर के साथ। लेकिन मेरा ध्यान उधर से हट गया था। ऐसे विवाद बहुत होते हैं। बाहर आपस में होते है और अकेले म हर एक के अपने दिमाग के अन्दर भी होते हैं। वेग है पर मन्थन भी है। काम धाम मे हम धड़धड़ाते हुए चल रहे हैं। पर। में शिथिलता भी नहीं दीखती है। पर अन्दर प्रश्न है और उलझन है। औसत कार्यकर्ता इस दल का या उस दल का इस दिमागी परेशानी से बरी नहीं है। इसलिए काफी मानव-शक्ति परस्पर के और अपने अन्दर के विग्रह म खत्म होती है। सघप ऐसे जोर का भी नहीं होता है कि उसमे से ज्वाला दमक आये। घुटन होती है और धुआ ही उठता है। यह आस्था का संकट है और बिलकुल जरूरी है कि हम चाहे तो विवाद शब्द-युद्ध म से होकर अपने लिए स्थिर आस्था प्राप्त करें।

ऐसे समय म गाधीजी की याद उठती है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के प्रयत्न तो सब ओर से चलते ही आये थ पर गाधीजी के आने से मालूम हुआ कि सबको सब कुछ करने का विशेष अवसर नहीं रह गया है अब भारत म भाव की ऐसी एकता जाग आई। सब विचारो क बीच उन्होंने एक अमोघ प्रश्न डाल दिया है हिंसा या अहिंसा ? यह प्रश्न कम की ओर से उठता न था बहुत हो दूर का और सिद्धान्त का मालूम होता था। पर गांधीजी न परिस्थिति को कम की अथवा उत्तर पक्ष की ओर से नहीं लिया मूलगत आस्था की ओर से पकडा। उनके आने क साथ ही जैसे परिस्थिति फट गई और देश के सामने जलता हुआ प्रश्न खड़ा हो गया यह या वह ? यह प्रश्न व्यक्तिगत या दलीय नहीं रह गया बल्कि मौलिक और आस्था का बन कर समक्ष आया। उसम भारत क मन और मस्तिष्क म एक विलक्षण आलोडन मचा। जो फलित हुआ इतिहास उसका साक्षी है। क्रान्ति का सूत्रपात हुआ सारा देश सकल्प म एक बन आया। बलि दान की आकांक्षा मे वह उद्ग्रीव हुआ। असमयता की भावना सर्वथा समाप्त हो गई। साम्राज्य जिसकी जड़ें पाताल म गहरी समझी जाती थी डगमगा आया। जनता म उत्साह और विश्वास जगा और सदियो म बसी आई गुलामी

की जकड़ का तोड़ फेंकना उन्हें सहज हो आया। आस्था भर आई स्वप्न झूम उठा और भारत के नर नारियों ने वह कर दिखाया जिस पर पीछे स्वयं उन्हें ही विश्वास न होता था।

अग्नि के पेश आने के बाद ऊपर से किया जाने वाला काम मुश्किल नहीं रह गया। कायदे में जो असम्भव समझे गये सफल होते चले गये। रेशम जिन्हें चुभ सकता था उन्होंने खद्दर से टाट पहना। अर्थशास्त्र उलट गया और लोग घाटा उठाकर नफा अनुभव करने लगे। मालूम हुआ कि फिसलना स्वाभाविक उतना नहीं है जितना ऊपर उठते जाना है इत्यादि।

आज की हालत में और सब हैं आस्था गायब है। अपनी सरकार है उसका अरबों का बजट है। पर समस्याएं अधिक हैं, सान्त्वना कम है। भीतर महा संकल्प का अभाव है। पंचवर्षीय योजना एक है और दूसरी है और उस पर पूरा बल है। लेकिन इतनी सरकारी है कि उसको जनता तक पहुंचाने के लिए फिर करोड़ों रुपया के खर्च से प्रचार करने की आवश्यकता बनी रहती है। मालूम होता है चिन्ता सबको अपनी अपनी हो आई है अपने को रखने की बढ़ाने की और धन-माल जुटाने की। जो जहां है फूलना चाहता है। अपने को मिटाने का आदर्श थोथा हो आया है। जो पहले सोचता था अब व्यर्थ लगता है। पहले त्याग था तो अब संग्रह धर्म है।

हिन्द में अब स्वराज्य है। एक 'हिन्द-स्वराज' गांधी ने दिया था। उसकी याद क्या किसी को है? क्या हिन्द का यह 'स्वराज' उस 'हिन्द स्वराज' के जैसा है?

जरूरी नहीं है कि पुराना चीज को हम रखें। चाहे गांधी के नाम के साथ हो अगर चीज गलत लगती है तो हम उसे फेंक देंगे। इसमें हर्ज नहीं है। लेकिन क्या हमने ऐसा किया है? क्या हमने इरादे के साथ गांधी के 'हिन्द स्वराज' को परखा है गलत पाया है और फेंकने का निर्णय किया है?

नहीं वैसा नहीं हुआ। सिर्फ हम उसकी याद भूल गई है। तो मैं देश को उसकी याद दिलाना जरूरी समझता हूं। जरूरी इसलिए कि रूस के कुछ लोगों ने स्तालिन को गिरा दिया। हम चाहें तो गांधी को गिरा सकते हैं। पर विचार पूर्वक हम गांधी को गिराने के लिए तैयार नहीं हैं तो कोई कारण नहीं रहता कि हम गांधी को और उनके 'हिन्द-स्वराज' को भुला दें।

आवश्यक यह इसलिए और भी है कि सब जो काम चल रहे हैं उनमें जोर पैसे का है संख्या का है और सरकार का है। बलिदान से अधिक महत्वाकांक्षा है रोशनी से ज्यादा गर्मी है। इनसे क्रिया जितनी है उसमें कम प्रतिक्रिया

नहीं है।

गांधीजी के जीते जी भी कांग्रेस ने एकाध बार वह नहीं किया जो गांधीजी की सलाह थी। कांग्रेस को वैसा अधिकार था। कांग्रेस ने अपने साथ ईमानदारी बरती और यह ठीक ही था। लेकिन उससे संकट इसलिए नहीं पैदा हुआ कि भारत की आस्था गांधीजी में मूर्त और अक्षुण्ण रही। कांग्रेस राजनीतिक होकर कुछ भी करती चाहे तो गलत दिशा अपनाती उससे भारतीय जीवन का विशेष बिगाड़ होने वाला न था क्योंकि ध्रुव उज्ज्वल था और सतर्क रहने नाव की स्थिरता को खतरा न था।

लेकिन गांधीजी के योग से कांग्रेस राजनीतिक संस्था ही न रह गई थी वरन् उसमें भारत का आदर मान और गौरव भी प्रतिष्ठित हो आया था। यह देखते हुए गांधीजी ने अंग्रेजों के जाने और स्वदेशी हुकूमत आने के समय कांग्रेस के पूछने पर कांग्रेस को बताया था कि वह हुकूमत पर आने का काम अपना न माने बल्कि प्रजा आपवर जन-सेवा को अपना ले। इस तरह भारतीय जीवन के प्राण को जीवित रखने का दायित्व वह उठाये हुकूमत वाला में न जाये।

ऐसा नहीं हो सका। कुछ दिन बाद देश ने गांधीजी को खो दिया। तब से अब तक कुछ मिलाकर देश एक आस्था के संकट में से गुजरता रहा है।

अक्टूबर ५६

शांति का निर्माण और भारत

हम नहीं चाहते कि लड़ाई हो। इससे मतलब सिर्फ उन लोगों से नहीं जो आदर्श की निष्ठा में रह सकते हैं और जिन पर जिम्मेदारी नहीं है। मतलब उन लोगों से भी है जो जिम्मेदार हैं, नेता हैं। निश्चय ही उनमें कोई लड़ाई नहीं चाहता। फिर भी संसार को एक के बाद जो दूसरे युद्ध में उतरना पड़ा है और ऊपर से युद्ध का खतरा पूरी तरह टलता नहीं दीखता है, सो क्यों? अवश्य उसके पीछे कोई विवशता होनी चाहिए जो स्वयं में राजनेताओं के निर्णयों से भारी हो। राजनेता लोग स्वाधीन और स्वतन्त्र होकर निश्चय ही युद्ध की घोषणा का बोझ कभी अपने ऊपर लेने को तैयार न होंगे। लेकिन वे अपने को बेबस पाते हैं और इसलिए जब समय पर युद्ध का घोष होता है तो उस देश की जनता मानो युद्ध के लिए उनसे भी अधिक उद्यत मिलती है।

यह भ्रम है कि युद्ध का निर्माण वहां होता है जहां वह लड़ा जाता है। बारिश जो यहां गिरती है हम न समझ लें कि उसका पानी यहां ही तैयार होता है। मूसलधार वर्षा का पानी कण-कण भाप को लेकर इकट्ठा हुआ करता है। और यहां टूटने वाला बादल जाने कहां का पानी खींच कर बना होगा, ठीक कहना मुश्किल है। सच यह है कि घर-घाट और हाट-बाट में मानव-सम्बन्धों की विषमता में से जो अनिष्ट तत्व निर्मित होते हैं वे अलक्ष्य में संचित होते और मानव-जाति की मानसिकता में घने होकर छाते जाते हैं। फिर राष्ट्र-स्वार्थ की सीमा रेखा पर उन्हीं को जुटाकर तीव्र वजन दिया जाता है और समय आता है जब राष्ट्र राज्य के नेता लोग देखते हैं कि कुछ भी और नहीं हो सकता—युद्ध ही एक उपाय है। अस्तित्व के लिए युद्ध ठानना होगा।

लोगों के दिमागों में अगर वह बारूद इकट्ठी न हो पाये जो युद्ध में काम आती है, जो उन्हें मारने और मरने को तैयार कर देती है, जो उन्हें एक दूसरे को दुश्मन गिन कर शांति और विकास के नाम पर नेस्तोनाबूद करने पर आमादा कर देती है, तो साफ है कि युद्ध लड़ा नहीं जा सकता। यह बारूद कोई बाहर रखना स्वीकार नहीं करता। हम सब ही अपने आपसी काम काज में हर पल यह

तयार करते रहते हैं। स्पर्द्धात्मक और विग्रहात्मक सम्बन्ध चिनगारियां उपजाते रहते हैं। हम यह न मान लें कि हमारे राग द्वेष और क्रोधावेश सिर्फ हमारे ही होते हैं। नहीं सम्बन्धों के द्वारा सारे समाज से हम जुड़े हुए हैं। द्वेष और क्रोध जो मुझमें उठता है मुझ तक ही नहीं रह जाता—दूर-दूर तक प्रतिक्रिया पैदा करता है।

इस तरह युद्ध का प्रश्न राजनीतिक प्रश्न नहीं है—वह गंभीर नैतिक प्रश्न है। युद्ध होता राजनीतिक भूमिका पर है लड़ा वहां जाता है और उसी पट पर निबटता हुआ भी दीखता है। पर यह तो वह है जो घटनात्मक है दीखता है। युद्ध का बहुत भाग तो दीखता नहीं है। और असल में प्रगट घटनात्मक को धारण करने वाला जो युद्ध का बहुत बड़ा मानसिक भाग है—युद्ध का सही निदान और समाधान तो वहां ही खोजने से मिलेगा।

इस भांति देखें तो युद्ध का प्रश्न विविध देशों की विदेश नीति पर उतना निर्भर नहीं रह जाता। सच यह है कि विदेश-नीति स्वदेश नीति से स्वतन्त्र होती भी नहीं है। न राजनीति समाजनीति से स्वाधीन बनाई जा सकती है। अन्तरंग नीति में शक्ति-तत्व को स्वीकार करके चलने से बाह्य नीति में शस्त्र निर्माण की अनिवार्यता से बचने का उपाय नहीं रह जायगा—यानी कोई देश अगर सर्वथा शांति के पक्ष पर ही दृढ़ रहना चाहता है तो उसके लिए यह तभी सम्भव होगा जब उसकी अन्तरंग व्यवस्था—समाज और अर्थव्यवस्था—अनुकूल हो। अर्थव्यवस्था द्वन्द्वात्मक हो तब फौज की आवश्यकता से छुटकारा ऊपर के लोगों के विश्वास और संकल्प के आधार पर भी सम्भव नहीं होगा क्योंकि यह प्रश्न मानसिक नहीं तात्कालिक है—फौज हम नहीं चाहते—इतने भर से फौज से छुटकारा नहीं हो जायगा। फौज से होने वाले काम की ही दरकार हम नहीं रह गई हो तभी फौज से सहज छुट्टी होगी। जब तक फौज की ताकत से होने वाला काम मौजूद है या उस काम के लिए फौज के अलावा किसी दूसरी शक्ति का हम निर्माण नहीं कर पाते हैं तब तक सेना से मुक्ति असम्भव है। अभाव प्रकृति में कहीं है नहीं। इसीलिए नकियों और आदर्शवादियों के द्वारा युद्ध का निराकरण सम्भव नहीं हो सकता है। वह निषेधात्मक नहीं रचनात्मक काम है और युद्ध अगर करोड़ों की जान लेता है और अरबों-खरबों की संपत्ति स्वाहा करता है तो युद्ध के निराकरण के अर्थात् शांति के काम को उससे छोटा काम समझने का भ्रम ही कुछ नहीं है। युद्ध खत्म होने से करोड़ों जानें जायेंगी और खरबों रुपया बच जायगा—इस डर या लालच में से युद्ध की समाप्ति नहीं पा जायगी। बल्कि युद्ध न करने के प्रयास में करोड़ों आदमी जूझने और जान देने को तैयार

होंगे और खरबों रुपया खर्च कर डालने को वे छोटा समझेंगे, तब वह काम हो सकेगा। जैसे आज देशों का समूचा उत्पादन कल-कारखाने सुरक्षा के और युद्ध के लिए चलाये जाते हैं सारी अर्थ-व्यवस्था मानों युद्ध के लक्ष्य के अधीन होकर चलती है शान्ति के लक्ष्य को उसी तरह उतना ही महत्व देना होगा। ऐसी शान्ति स्पष्ट है कि, युद्ध की अनुपस्थितिमात्र न होगी बल्कि वह जीवित और ज्वलंत लक्ष्य होगी। वह शान्ति एक देश से आरम्भ होकर वहीं तक सिकुड़ी न रहेगी बल्कि नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और परम्पराओं का वह विकास करने वाली होगी। वह मानव-जाति को मिलाती जायगी और विकास के नव नवीन आयाम उसस प्रकाश में आयेंगे।

प्रश्न को इस रूप में जब देखा जायगा तब गांधी से व्यावहारिक मार्ग दर्शन प्राप्त होगा। भारत गांधी का देश है पर भारत के पास फौज और शस्त्र-अस्त्र नहीं है ऐसा नहीं है। भारत के नेता और अधिष्ठाता लोग गांधी को नहीं मानते हैं सो भी नहीं है। एक तरह वे गांधी के अपने ही आदमी है। फिर भी फ़ौजी खर्च को अगर बढ़ाना पड़ा है तो यह उनकी मजूरी से हुआ है। पर इस मजूरी के नीचे उनकी इच्छा की त्रुटि नहीं परिस्थिति की विवशता है। राज्य पर न हों तो वे अवश्य ही पूरे जोर से निरस्त्रीकरण की बात कहें; पर राज्य का दायित्व लेकर वे चाहकर भी वैसी बात नहीं कह सकते। राज्य पर सुरक्षा का भार है। सिद्धान्त की रक्षा का काम जिसका चाहे हो वे देश के जानमाल की रक्षा का जिम्मा लेकर शासन पर बैठे हैं। भारत का शासक गांधीवादी होने के बहाने प्रमादी नहीं हो सकता और अनमने मन से क्या न हो उसे भारत की सैन्य-शक्ति को आधुनिक बनाये रखना होता है। नये-से-नये सैन्योप करणों को जुटाने में वह पीछे नहीं रह सकता। न पड़ोसी किसी देश से हेटा रह सकता है।

तो युद्ध का प्रश्न वाद का और सिद्धान्त का प्रश्न नहीं रह जाता है। न इसी भांति शान्ति का प्रश्न वाद अथवा सिद्धान्त का प्रश्न है। दोनों ही समग्र जीवन विधि के प्रश्न है कि समाज और देश के रूप में हम किस प्रकार की व्यवस्था का निर्माण करके रहते-सहते है? इस प्रश्न का हल ऊपर से नहीं आने वाला है, बीज में से वह प्रगट होगा। बाहर में से हो युद्ध का अभाव नहीं हो जायगा न शान्ति फलित होगी। उसके लिए बुनियाद से शुरू करना होगा।

इस समय दुनिया का काम काज चल रहा है राष्ट्र राज्य की कल्पना के आधार पर। विश्व-व्यवस्था के घटक आज सावभौम राष्ट्र-सत्तात्मक देश हैं। उनका संघ संयुक्त राष्ट्र-संघ है। आज अंतर्राष्ट्रीय नीति के क्षेत्र में बड़ी से-बड़ी

चीज जो पैदा हुई है वह पचशील है। इस पचशील सिद्धान्त का मतलब है कि प्रत्येक राज्य-सत्ता अखण्ड है और एक दूसरे के विषय में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती। इस व्यवस्था के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय ढग का कोई प्रश्न उठे तो क्या उपाय है ? सयुक्त राष्ट्र-सघ जो उपाय है उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है—राष्ट्रों की स्वेच्छित स्वीकृति ही उसका बल है। कुछ बडी शक्तियों के पास यहा तक कि विटो पावर है—अर्थात उन बडो में से कोई एक अपनी स्वीकृति न दे तो प्रश्न अधमय रह जाता है। विश्व स्थिति की इस परिस्थिति में फसने का उपाय शक्ति सन्तुलन के सिवा दूसरा रह नहीं जाता है। नैतिक शक्ति जैसी कोई चीज़ उस स्तर पर रहती नहीं शक्ति शक्ति ही मिल रहती है। इसी से शस्त्रास्त्र की होड लगी है और जो उसमें अग्रगण्य हो उसी को अपने को प्रथम शक्ति मानने का अवसर है।

शान्ति की परिस्थिति यह नहीं हो सकती। उसे इससे लगभग एकदम विपरीत होना होगा। अर्थात् तब प्रभुसत्ता अलग अलग घटकों के पास छोटे या बड़े राज्य के पास न मानी जायगी बल्कि वह नीति नियम के पास होगी। सघ के घटक-देश सावरेन-सत्तात्मक राज्य न होंगे बल्कि वे सांस्कृतिक भौगोलिक और भाषावार स्वेच्छित सामुदायिक इकाइयां होगी। अर्थनीति राष्ट्र राज्य-केन्द्रित न होगी बल्कि विकेन्द्रित अर्थात् जन-केन्द्रित होगी। तब राष्ट्रीयता एक निषेधात्मक धारणा न रह जायगी और सीमाओं पर तब काटे की बाड़ें न होगी। सरहदें तब कुछ फीकी और बेमालूम होगी और राष्ट्रवाद एक दर्प की हुकार और स्वाभिमान की गाठ होने की आवश्यकता से छूट जायगा। वह एक उत्तरोत्तर सस्कृति का सूचक भाव होगा और अपनी रक्षा योजन के बजाय उसमें आत्मदान की भावना और स्पृहा जाग्रत होगी।

फिलहाल राष्ट्र राज्य के आधार पर रहने के हम आदी बने हैं। यों कामनवेल्थ है साम्यवादी सघ है दूसरे सिएटो नेटो आदि धारणाएं भी हैं। लेकिन मूलतः राष्ट्र राज्य ही व्यवस्था का आधार है। राज्य के रूप में भिन्नता हो सकती है—जैसे साम्यवादी समाजवादी जनतत्रात्मक। पर वह भिन्न प्रश्न है। लेकिन राष्ट्र राज्य राष्ट्रीय स्वार्थ के हित में सोचता और योजनाओं और नीतियों का निर्माण करता है। जहा सर्वोपरि तत्व राष्ट्रहित हो। शिक्षण का ढांचा उसी ढग में तैयार होता है और उद्यम-व्यवसाय एव कृषि-व्यापार का उसी दृष्टि में नियोजन होता है—जहा राष्ट्रीय-स्वार्थ स्वय प्रधान और स्वय प्रतिष्ठ मूल्य हो और सब मर्यादाएं उससे उत्तरती हों। राष्ट्र के नाम पर बलि देने और बलि लेने का महत्त्व इसीलिए बढ़ चढ जाता है। सम्पत्ति को हम राष्ट्र के नाम

पर कूलते हैं और राष्ट्र को मालामाल करना अपना परम कर्तव्य मानते हैं।

इस आधार पर उद्दारक युद्ध सदा और सर्वथा अनिष्ट नहीं रह जाता। राष्ट्रीय-स्वार्थ की कसौटी पर कभी वह उचित और उपादेय भी बन सकता है। ठीक इसी जगह गांधीजी ने जगत् को एक नया दर्शन दिया। मानो राष्ट्रवाद को एक नया आधार और नई दिशा दी। स्वदेशी के धर्म को उन्होंने प्रतिष्ठा दी और उसको भौगोलिक और राष्ट्रीय से अधिक मानवीय भूमिका प्रदान की। परिणामतः एक ग्राम राज्य (विलेज रिपब्लिक) की कल्पना हमें मिली। उस आधार पर प्राप्त होने वाला स्वदेश विश्व भावना के लिए सदा ही साधक बनेगा, कभी बाधक नहीं बन सकेगा। ऐसे स्वदेशवाद में से युद्धवाद या साम्राज्यवाद कभी फलित नहीं हो सकता। ऐसा स्वदेश मनमाना निर्यात करके अपने को मालामाल करने की नहीं सोचेगा। जिसको आज की भाषा में औद्योगिक या व्यापारिक साम्राज्यवाद कहें वह उस लालच में नहीं पड़ेगा। मशीनी उत्पादन का तब उस स्वदेश में मानव हित और मानवीय परस्परता पर भारी होकर नहीं बैठ सकेगा। वह स्वदेश फौज पर निर्भर करने की आवश्यकता से मुक्त होगा। उसकी हद पर कांटे की बाड़ एकदम गैर-जरूरी हो जायगी। सम्बन्ध तब लोगों के और समूहों के उस स्वदेश में स्पर्द्धा और द्वंद्व पर आधार नहीं रखेंगे—बल्कि उनमें हित की समग्रता उत्तरोत्तर व्याप्त होती जायगी।

जब तक कोई देश आज की (पहले) सम्पत्ति और (फिर) शस्त्र की होड़ से अपने को अलग कर बुनियाद से ही विधायक शान्ति की ओर तदनुकूल समाज की रचना का आरम्भ नहीं करेगा तब तक युद्ध का बेल के बीज का सर्वतोभावेन नाश का उपाय भी नहीं होगा। और जो देश सचमुच इस आरम्भ से प्रारम्भ कर सकेगा वह विश्व के भविष्य का निर्माता समझा जायगा। क्या गांधी का भारत वह देश न बनेगा?

सितम्बर ६२

■ ■ ■

एक वक्तव्य

इधर बहुत दिनों से लिखा जो नहीं है सो जगह-जगह मुझसे जवाब तलब किया जाता है। मगर सच यह है कि लिखना मेरे लिए धंधे की तरह आसान नहीं बन सका है और मैं उलझन में रह गया हूं। साहित्य के परिचय में से या उस तरह की किसी इच्छा में से साहित्य में मेरा आना नहीं हुआ। सन् १९२१ ई० के असहयोग में पड़ने से अलग हो गया और फिर इधर-उधर भटका किया। इसमें जेल जाना हुआ और सब कुछ के अभाव में लिखना शुरू हुआ। यह लिखना फिर साहित्यिक आलोचकों से साहित्य समझा गया और उस दिशा में मुझसे अपेक्षा होने लगी। उस अपेक्षा के उत्तर पर सीधे मैं कुछ दे नहीं सकता था। आज भी देखता हूं कि उस तरह के दावे का जवाब मुझसे नहीं बन पड़ता है।

इसमें जो विषम स्थिति कारण बनी है उसको राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। गांधीजी हमारे राष्ट्रपिता थे। उनके बाद से राजनीति सिर्फ राज्य की नीति होकर नहीं चल पाती है, उसे मानव की नीति भी होना होता है। यानी मानव जाति से विमुख होकर, उससे स्वाधीन होकर राजनीति प्रपंच की ही नीति बन रहती है—ऐसी धारणा जन-सामान्य में प्रायः जम चुकी है। राजनीति का सम्बन्ध इस तरह राज्य से और राजकर्ताओं से अधिक जनता के सुख-दुःख से हो गया है। वह कुछ खास आदमियों की चीज न होकर हर आदमी के लगाव की चीज हो गई है। वह पेशा नहीं है बल्कि आध्यात्मिक पुरुष के लिए भी आवश्यक रूप में चिंता का विषय है। आज राजतन्त्र जनतन्त्र होकर ही टिक सकता है। पूरे और सच्चे अर्थों में जनता का अपना तन्त्र नहीं बन जाता तब तक वह न अपने आप में सुरक्षित है, न सबके लिए हितकर है।

इस तरह राजनीति उनको किसी तरह निश्चिन्त नहीं छोड़ सकती जो संवेदनशील है। भगवान ही जिनकी पूजा है, ऐसे मानों पर इसलिए कुछ अधिक ही बोझ आता है। जिन पर राज्य का, उसके पद-प्राप्ति का दायित्व नहीं है, जिनकी प्रकृति में कभी अनुकूलता नहीं है, उनका ही आज विषम चुनौती है।

चुनौती इसलिए कि हम संकट अनुभव कर रहे हैं। इस विकट अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के बीच खुद आंतरिक और निजी संकट में गिरफ्तार मालूम होता है। सब देखते हैं कि आज की सी हालत पहले कभी नहीं थी। भ्रष्टाचार हद पर है और सभी को अपनी या अपनों की पड़ी है। पाकिस्तान नाम का राज्य हिन्दुस्तान की सहमति से बना है लेकिन दोनों के बीच बिगाड़ है और जलन है। उसमें से जो कठिनाइयां उत्पन्न हुई हैं वे किसी को चैन नहीं लेने देतीं। उसने जीवन की सहज प्रणाली को आर्थिक और व्यापारिक बनाव को और आपसी नागरिक सम्बन्धों को झकझोर कर रख दिया है। देश की जितनी शक्ति का मुख्य भाग उसके उत्पादन का और उसके आयकर का बहुत बड़ा हिस्सा उसी खाते में फंक जाता है। फिर भी विभीषिका कटती नहीं संताप टलता नहीं है। वारदातें होती ही रहती हैं जो सब को त्रास से भर दें। हुकूमत का भारी खर्च और उसके दूसरे बड़े उपाय जनता को राहत नहीं पहुंचाते हैं। और उसके इस बड़े व्यय से अर्थात् संचित के इस समूचे अपव्यय में से शक्ति के संचय की आशा की जाती है। इस आपाधापी में ही यह हालत बन आई है।

गांधी जी के बाद लगता है कि वह दृष्टि नहीं है, नेतृत्व नहीं है व्यक्तित्व नहीं है जो कुल मिलाकर देश को एकाग्र भाव से किसी दिशा की ओर ले जाय। गांधी-नीति में संभावना दीखती थी। लेकिन वह नीति तो बिखरी पड़ी है। व्यवहार में हटकर वह तत्ववाद में जगी दीखती है। परिस्थितियों पर और दलों पर वह भारी नहीं आती और जान पड़ने लगा है कि शक्ति सत्ता में है और दलों में है और इस तरह बहुमत-वाला-दल जहां वोट पाकर बैठता है उस सरकार में है। राजकीय राष्ट्रीय और दलीय भूमिका से अलग कहीं कोई शक्ति ही नहीं है और दल क्यों कि कई हैं इसलिए हरएक दल दूसरे दल को पराजित करने की लगन में से देश की भलाई का अपना काम और प्रोग्राम प्राप्त करता है।

लेकिन यह झूठ है। शक्ति जनता के पास है और वहीं से किसी के पास पहुंच सकती है। दलों के पास अपनी स्थायी शक्ति नहीं हो सकती। सरकार की शक्ति जनता के पास से नहीं आती तो समझना चाहिए कि वह वहां है ही नहीं। जनता सारी दुनिया की अपने सुख दुख में एक है। दलों में राज्यों में राष्ट्रों में बंटकर जनता अगर खण्डित होती है तो न दल, राज्य और राष्ट्र टिकने वाले नहीं हैं। जनता को बांट बांटकर अब कोई अधिक नहीं जी पायगा।

आज का संकट कुछ यह है कि जनता की आस्था निराश है और अपदस्थ है। जो राज्य के पद पर हैं वे मुख्य हो गये हैं। नेता जनता में नहीं हैं व

हुकूमत पर है। इसलिए सेवक होने और सम-समान होने की इच्छा के ऊपर नायक होने और विशिष्ट होने की वृत्ति बढ़ रही है। मूल्य असल से हटकर नकल पर आ चढ़े हैं। व्यवस्था और शासन बड़ा काम हो गया है। उद्यम और उत्पादन छोटा काम रह गया है। रचना करने से आंदोलन करना प्रमुख हो उठा है।

समूचा देश आजाद होकर एक विधान के नीचे आया है और रियासतें अब अलग उसमें छिटकी हुई नहीं रह गई हैं। यह इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ। पर कानूनी एकता को पुलिस और फौज के सहारे ही टिकना पड़ेगा कि जब तक वह संस्कृति की ओर अभिलाष की एकता पर ही कायम नहीं होता।

सशस्त्र प्रशासन के नीचे पलने वाली एकता उसके अभाव में फूटकर बिखर जायेगी कहा नहीं जा सकता। उस बल भरोसे कि जहां से कानून है और हुकूमत है हम निश्चिन्त नहीं बैठ सकते। वह खतरनाक होगा। जरूरी है कि जहां सच्ची एकता रहती है और जहां से वह विश्वासशील बनती है उस आत्मा को हम जगावें। मन और मूल्य हमारे बदलें। अर्थात् वे बाहर की ओर से लौटकर अन्दरूनी योग साधें और वसे बनें जैसे गांधी काल में थे।

राजनीतिक व्यक्ति से यह काम नहीं हो सकता। इसके लिए उसे अधिक सचेष्ट और अधिक संवेदनशील बनना होगा। अथवा कि यह काम संवेदनशील व्यक्तियों के आने से हो सकेगा।

इंसान अपनी जगह रहकर राष्ट्रीय मतवाद में घिरने को लाचार क्यों बने? प्रकृत सहानुभूति के प्रति वह शून्य क्यों सिद्ध हो? मानव नीति को मजबूती से हाथ में लेकर वह अन्य राष्ट्रनीति या राजनीति को सही दिशा में रखने का काम क्या न कर सके। गांधी का देश का ऐक्य तभी साथ सके जब उनकी संवेदना दुर्भाव न थी मानवीय थी कृत्रिम और भौगोलिक न थी प्रकृत और हार्दिक थी। सीमित नहीं थी उससे गहरी और व्यापक थी।

अपनेपन पर गर्व करने का अब अवसर नहीं है। नाना वाद (Exclusivisms) हमको पर लिया करते हैं। ऐसे हम असीम से कटते और सीमा से घिरते जावें हैं। आवश्यकता है कि परम की श्रद्धा हम अपने में और बाहर जागृत करें।

जगह जगह असंतोष के चिह्न नजर आ रहे हैं। असंतोष है और तरह तरह के प्रयत्न हैं। यह सूचना है कि जमाना का क्या तकाजा है। अनास्था को काटने के लिए सोचने का अवसर नहीं है। करने से ही व्यय विचार कटता है। और करने का आरम्भ होगा श्रद्धा से आस्था में।

□ ■ □

सुनी बानी

अभी बानी सुनी है, अभी उसे दोहरा दे रहा हू। अर्थ उसका नही जानता, शायद वह अनादि है। जो सुनता हू, वही सुनाता हू। सुनो—

विचार परिग्रह है। हर विचार परिग्रह है। आदर्श बन्धन है। आदर्श और दर्शन और विचार और धर्म इन सबकी जड़ में भय है। अनागत भय, अपना भय और जाने किस किस का भय। भय जीतना होगा, उसका सामना करना होगा। बचकर किसी दर्शन या पथ या पुस्तक या गुरु के पीछे छिपने से नही बनेगा। भय क्या ऐसे तुम्हारा पीछा छोड़ देगा? इसमे भागो नही, सामना करो। तुम्हारी बनाई विधियां तुम्हारे कदखाने है। वे तुमको ही रोकती हैं, या वे तुम को खाती हैं। छूटना चाहते हो तो छूटने तक के विचार से छूटो। आदर्श मात्र से छूटो। हर विषय से छूटो। क्या सहारा पकड़ा है? लकड़ी जड़ है जिस का आधार तुम लेते हो। उसपर उठना गिरने की तयारी करना है। और अगर लकड़ी टिकी भी रही तो उसपर भार देकर तुम्हें स्वयं अपना भार संभालना कैसे आयेगा? इससे छुट्टी पाओ। खुद अपने से छुट्टी पालो। मनको ऐसा रखो जैसे बिना बादल नीला आसमान, एकदम सूना और सुनसान। 'सुन्न महल में दियना बारि लें।' वहां जो रहे अभाव रहे ताकि सब भाव उसमें आकर जा सकें। और बुद्धि को रखो तरल, जैसे वायु। निराकार, निर्लेप। उसको जमकर आकार न पकड़ने दो। उसको बहती ही रहने दो। उसमें गांठ भली नहीं। विचार गांठें हैं। हमारे बनाये आदर्श और पन्थ और ग्रन्थ मोटी मोटी ग्रन्थियां हैं। पर खूंटी पर कपड़े लटक सकते हैं, और वहीं मान्यताओं पर आदमी लटक सकते हैं। लेकिन लटका आदमी चलता नही है। पैर टेक कर वह भाग नही सकता। उड़ तो वह सकता ही नही। और आदमी धरती से चिपटकर कौन रह सकता है? वह पेट से नही चलता। उसका सिर सीधा रहने के लिये है। कल्पना उसकी उड़ने के लिए है। आदमी बनने के लिये खूंटियां या सहारा छोड़ो। उस दीवार का ही साथ, जिसमें खूंटियां गड़नी है। अरे क्यों नही समझ लेते कि खूंटियों पर उतारे कपड़े ही टंगते हैं और श्रुति-स्मृ

तिया पर आदमी की उतरन ही टग सकती है। क्या तुम उतरन हो तुम इन्सान नहीं हो ? इन्सान हो तो तुम्हें खूँटी की टटोल क्यों हो ? छोड़ो तुम उस घर को जहाँ तुम्हें बहुत आसानी पैदा कर दी गई है। यह आसानी ही परेशानी है। यही बाधा है। *मुसीबत में इन्सान नहीं दबता है ? मुसीबत को सामने से* लो। अपने लिए मुसीबत पैदा करो। सहारा छोड़ो और देखो कि बे-सहारा भी तुम रह सकते हो। क्या बुद्धि को दरिद्र रखते हो ? बन्द होकर बुद्धि पीली होती है। सहारा पाकर वह ऊँघने लगती है। क्यों उस सहारे की भीत बनाते हो ? रीढ़ अपनी क्या तोड़ते हो, क्या उसे झुकाते हो ? मुसीबत बचाना उस मुसीबत को अपने सिर हावी होने देना है। बस मुसीबत जीतती और तुम हारते हो। इसलिए घरेलूपन के नीचे कभी न आओ। घरेलू आराम को जहर की तरह तजो। आराम में डर है। आसमान जिसकी छत है और धरती जिसका बिछौना है और जिसमें कभी कुछ नहीं खो सकता है, मगर ऐसे ईश्वर के घर में रहना तुम्हें नहीं आता है, रहना दूभर हो जाता है और तुम्हें उससे एक छिन्पुन घर अपना अलग चाहिए तो चलो कोई घर अपना बना उठो। बस कोई न-कोई घर तो तुम्हें जन्म से मिला ही है। धर्म का घर, जाति का घर, देश का घर। पर याद रखो हर घर सराय घर है। वहाँ के आराम में गिर कि मरे। नित प्रार्थना में रहो कि उस घर में घिरकर तुम न रह जाओ। दुःखी है वह जो छत को बीच में लेकर आसमान से अपने को काटता और दीवारें खड़ी कर चारों दिशाओं से बीच अपने को मूँदता है। मुक्ति से कटता है वह जो घर में बसता है। लेकिन उसमें दुःखी है वह जो घर को घर कर उसमें सामान भी भरता है। याद रहे कि वह अपने स्वयं का गहरा करता है। नहीं और *कुछ कर सकते हो तो सामान को निकाल फेंको। सामान जो जितना कीमती* है उतना भला है उतना ही वह जहर है। उसकी कीमत तुम्हारे मन में गड़ जाती है। कीमत जब तक है तब तक मन का धन कम हो सकता है ? निकाल दो [illegible] काट दो। फेंक दो धन [illegible] डालो। धन कीमती नहीं होता। उसकी कीमत दाम है। [illegible] जिसको कीमती समझा है उस [illegible] को अपना दुश्मन समझो। घर को उससे पार रखो। बुद्धि में ज्ञान का बीज टाँककर क्या तुम दर हो [illegible] बनाते हो ? या कि तुम समझते हो कि तब बुद्धि समृद्ध बनती है ? [illegible] उसमें [illegible] तुम बुद्धि का [illegible] ही बना सकते हो, जिसमें कोई [illegible] न हो। ज्ञान से भरकर बुद्धि का भार बनाना [illegible] बनाना है। बुद्धि मुक्त होकर पूर्ण है। बुद्धि की भूख रोग है। पढ़ पढ़कर बुद्धि को पुष्ट न बनाओ। [illegible] निकम्मी बनता है। क्यों बुद्धि के

पीछे पड़े हो ? ठोंक पीटकर उसको दुरुस्त करने की सीख किसने दी ? उसका कसूर तुम्हारा कसूर है। उस पर काबू मत जमाओ। उसे बन्दिनी मत बनाओ। पोट बांध-बांधकर और गहन लाद लादकर उसे क्या बनाना चाहते हो ? वह अनुरक्त और अनुगत ऐसे नहीं बनती। ऐसे वह बेकार और बीमार बनती है। उसको नयी परिस्थिति दो खुली वायु दो। शब्दों का घेरा मत उसके चारों ओर कसो। तब जो चाहते हो वह तुम्हें मिलेगा। बटोरा सामान सब फेंकने जाओ। बटोरा हुआ ज्ञान परिग्रह है। वह जकड़ पैदा करता है। मान खजाना सब लुटा दो। अकिंचन होकर ही तुम विस्तार के लिये गुनोगे। तहखाना नहीं लाघोगे तो खुली हवा तुम्हें नहीं नसीब होगी। कैद में आराम है पर स्वतन्त्रता बाहर है। उसे पाओ। और वह पाना है तो आराम को पास न फटकने दो। सहारों को दूर करो। मन के कांटों को एक-एककर बीन डालो। उन खूंटियों को उखाड़ फेंको जिनपर टिककर बुद्धि अपना उड़ना भूलती जा रही है। आसमान की तरह होओ जिसमें कुछ नहीं रुकता और सब भरा रहता है। रथा जहां कुछ नहीं है स्थित जहां सब कुछ है जिसका गुण अवकाश है और स्वरूप शून्य है और रंग कोई नहीं है। घरोंदे अपने उजाड़ फेंको। क्या थमा ताप तो ? बाहर जाओ। धूप उजली है स्वागत फैला है। अन्दर पड़े क्या अपने डैने फड़फड़ाकर तोड़ रहे ? अफसोस कि तुम नहीं जानते हो। डैन समर और मन का साहस थाम तुम थोड़ो से बाहर निकलो तो। देखोगे कि तुम खुद अपना सहारा हो। घर कुछ को अपने को बन्द रखता है बन्द वही है। और कुछ दुनिया में बन्द नहीं है। आओ बाहर और उठो ऊपर।

दिसम्बर ३६

◘ ◘ ◘

कांग्रेस तब, अब, और आगे

हमारी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सन् २१—४७ की अवस्था से आज सन् ५३ में कमजोर हो आई है इस बारे में शायद ही दो मत हों। अब सत्ता उसके हाथ में है उसका सदस्य बनने वाले के लिए आज तरह-तरह की सम्भावनाएं खुल जाती हैं। पहले सिर्फ सामने जेल था और दूसरी तरह के खतरे थे। फिर भी देखते हैं कि अब कांग्रेस निर्बल है पहले बल अधिक थी। इसलिए आवश्यक है कि हम समझें कि बल उसका क्या था जिससे फिर से उसे बलशाली बनाने के लिए हम उसे क्या देना होगा इसका अनुमान हाथ आ सके।

गांधीजी का मानना था कि पवित्रता ही बल है। शक्ति नीति में है असल शक्ति नैतिक है। और मानव क्षेत्र में काम देने के लिए दूसरी शक्ति यानी भौतिक शक्ति न केवल बेकार है बल्कि हानिकर है। मूल में देखा जाय तो वह आश्रित है निर्बलता है और यदि उसमें शक्ति का आभास होता है तो इस कारण कि मनुष्य में नैतिक भावना मूर्छित होने से उसकी बुद्धि का उसे प्रच्छन्न सहयोग मिल गया है। बुनियाद में वह सहयोग न हो तो शक्ति कोई दूसरी हो नहीं सकती है। नीति का व्यक्ति अपना सहयोग उसके नीचे से खींच ले तो जगत् की शक्ति टिक नहीं सकती सहज ही वह गिर रहेगा।

गांधीजी की यह बात उस समय उतनी साफ हम में नहीं हो गयी। कोई कोई मानता था यह भारत का मानों उस समय दुबारा ले रहा था और हम अवसर था कि हम मानें कि हमारा बल जनसंख्या का है। कभी अवसर हो न आया कि हम नीति को और गिनती को अलग करके देख सकें। गांधीजी के पास अगण्य मानवों का यह महान् उपाय था और हम मान गए कि कांग्रेस के सदस्यों की जनसंख्या कांग्रेस का बल है।

गांधीजी की सदा कांग्रेस की न बन पाई। कांग्रेस राष्ट्रीय थी गांधी धार्मिक थे। सच और अहिंसा गांधीजी के लिए धर्म थे कांग्रेस ने सामाजिक नीति के तौर पर ही उन्हें अपनाया था। फिर भी गांधीजी के रहते उनके रंग से

कांग्रेस बच नहीं सकी और गांधीजी का प्रभाव संस्था के रूप में कांग्रेस को प्रभाविष्णु बनाये रहा।

बल क्या होता है? मालूम होता है कि वह व्यक्ति में नहीं होता है, व्यक्ति के संबंधों में रहता है। व्यक्ति अपने में क्या है इससे अधिक दूसरे के प्रति वह क्या है इसमें उसका बल रहता है। उसकी अपनी निजता दूसरों के प्रति बने उसके सम्बन्धों के रूप में उसके व्यवहार में झलकती है। उससे अलग उसमें कोई मूल्य नहीं है बल नहीं है। १९४७ के जमाने में कांग्रेस केवल एक संगठित संस्था न थी एक दल न थी वरन् समूचे देश के उठते हुए मानस की प्रतीक थी प्रतिनिधि थी। मानो अपार जनता के मनोभावों का वह व्यक्त रूप थी। तब वह उतनी संस्था न थी जितना जन-आंदोलन थी। उसके संस्था-पन का पता ही न चलता था। विधि विधान का उलझाव शायद ही तब कभी होता था और उनकी धाराओं को याद बहुत कम की जाती थी। कांग्रेस और अ-कांग्रेस के बीच गहरी रेखा न थी। मानो देश के सभी लोग कांग्रेस में थे। इस तरह देश का बल कांग्रेस में आ गया था। सक्रिय सदस्यों की संख्या तब ज्यादा न थी क्योंकि वह काम जोखम का था। गिने चुने लोग थे जो उसे सभालते थे। लेकिन जैसे वे गिने चुने अपने पीछे अनगिनत को लिये चलते थे। वे केवल अपने में न थे जनता के मनोभावों की थाती लिये चल रहे थे।

तब से हम जानते हैं कि शक्ति जनता में है। किन्तु भाषा को जानते हैं, क्या उस सार को भी जानते हैं? बड़ा चुनाव अभी हमारे देश में हुआ। इतना बड़ा कि ऐसा दुनिया के इतिहास में न हुआ होगा और बिना दुर्घटना के हुआ। यह छोटी बात नहीं है। मानो वोट के लिये कांग्रेस के लोग जनता के पास पहुंचे और जनता ने उन्हें वोट दिये। परिणाम कि कांग्रेस सत्ता पर है। पर वोट के साथ क्या जनता की शक्ति भी आई? पहले कभी वोट नहीं लिया गया फिर भी मानो जनता की पूरी शक्ति कांग्रेस के पास थी। अब वोट लिया गया है और मिल गया है लेकिन क्या वह महाशक्ति भी आ सकी है? यदि नहीं तो सोचने की बात है क्या नहीं?

जनता में जाने और जन-सम्पर्क बढ़ाने की बात सदा कही और याद की जाती है। ठीक है। पर क्या यह काफी है? क्या काफी हो सकती है? यदि नहीं तो क्यों?

कारण मुझे यह जान पड़ता है कि कांग्रेस अधिकाधिक संस्था बनी जा रही है चेतना नहीं रहती जा रही है। अब वह अपने में ठोस है संघटना है, दल है। पहले उसकी जैसे अपनी अलग निजता न थी स्वत्व न था। वह सप

कांग्रेस तब, अब, और आगे

हमारी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सन् '२१—'४७ की अवस्था से आज सन् '५३ में कमजोर हो गई है इस बारे में शायद ही दो मत हों। अब सत्ता उसके हाथ में है उसका सदस्य बनने वालों के लिए आगे तरह-तरह की संभावनाएं खुल जाती हैं। पहले सिर्फ सामने जेल था और दूसरी तरह के खतरे थे। फिर भी देखते हैं कि अब कांग्रेस निर्बल है, पहले वह प्रबल थी। इसलिए आवश्यक है कि हम समझें कि बल उसका क्या था जिससे फिर से उसे बलशाली बनाने के लिए हमें उसे क्या दिशा देनी होगी इसका अनुमान हो पा सके।

गांधीजी का मानना था कि पवित्रता ही बल है। शक्ति नीति में है। असल शक्ति नैतिक है। और मानव क्षेत्र में काम देने के लिए दूसरी शक्ति यानी अनैतिक शक्ति न केवल बेकार है बल्कि हानिकर है। मूल में देखा जाय तो वह अनाश्रित है, निर्बलता है और यदि उसमें शक्ति का आभास होता है तो इस कारण कि मनुष्य में नैतिक भावना मूर्छित होने से उसकी बुद्धि का उसे प्रच्छन्न सहयोग मिल गया है। दुनियादारी में वह सहयोग न हो तो शक्ति कोई दूसरी हो नहीं सकती है। नीति का व्यक्ति अपना सहयोग उसके नीचे से खींच ले तो असत् की शक्ति टिक नहीं सकती, वहां ही वह गिर रहेगी।

गांधीजी की यह बात उस समय उतनी साफ हम पर नहीं हो सकी। कोई-कोई मानता था यह भारत देश मानो उस समय हमारा न रहा था और हमें अवसर था कि हम मानें कि हमारा बल जनसंख्या का है। कभी अवसर हो न पाया कि हम शक्ति को और हिंसा को अलग करके देख सकें। गांधीजी के सीधे अगम्य मानता का यह सत्याग्रह रहस्य था और हम मानते चले गये कि कांग्रेस में संख्या की जनगणना कांग्रेस का बल है।

गांधीजी की श्रद्धा कांग्रेस की न बन पाई। कांग्रेस राष्ट्रीय थी, गांधी धार्मिक थे। सत्य और अहिंसा गांधीजी के लिए धर्म थे, कांग्रेस ने सामाजिक नीति के तौर पर ही उन्हें अपनाया था। फिर भी गांधीजी के रहते उनके रूप से

काग्रेस बच नहीं सकी और गांधीजी का प्रभाव संस्था के रूप में कांग्रेस को प्रभाविष्णु बनाये रहा।

बल क्या होता है? मालूम होता है कि वह व्यक्ति में नहीं होता है, व्यक्ति के संबंधों में रहता है। व्यक्ति अपने में क्या है इससे अधिक दूसरे के प्रति वह क्या है इसमें उसका बल रहता है। उसकी अपनी निजता दूसरों के प्रति बने उसके सम्बन्धों के रूप में उसके व्यवहार में झलकती है। उससे अलग उसमें कोई मूल्य नहीं है, बल नहीं है। १९४७ के जमाने में कांग्रेस केवल एक संगठित संस्था न थी, एक दल न थी वरन् समूचे देश के उठते हुए मानस की प्रतीक थी प्रतिनिधि थी। मानो अवाक् जनता के मनोभावों का वह व्यक्त करती थी। तब वह इतनी संस्था न थी जितना जन आन्दोलन थी। उसके संस्थापन का पता ही न चलता था। विधि विधान का उल्लेख शायद ही तब कभी होता था और उनकी धाराओं की याद बहुत कम को जाती थी। कांग्रेस और अ-कांग्रेस के बीच गहरी रेखा न थी। मानो देश के सभी लोग कांग्रेस थे। इस तरह देश का बल कांग्रेस में आ गया था। सक्रिय सदस्यों की गणना तब ज्यादा न थी क्योंकि वह काम जोखम का था। गिने चुने लोग थे जो उसे संभालते थे। लेकिन असल में गिने चुने अपने पीछे अनगिनत को लिये चलते थे। वे केवल अपने में न थे जनता के मनोभावों को थामी लिये चल रहे थे।

तब से हम जानते हैं कि शक्ति जनता में है। किन्तु भाषा को जानते हैं, क्या उस सार को भी जानते हैं? कल चुनाव अभी हमारे देश में हुआ इतना बड़ा कि ऐसा दुनिया के इतिहास में न हुआ होगा और बिना दुर्घटना के हुआ। यह छोटी बात नहीं है। याना वोट के लिये कांग्रेस के लोग जनता के पास पहुंचे और जनता ने उन्हें वोट दिये। परिणाम कि कांग्रेस सत्ता पर है। पर वोट के साथ क्या जनता की ताकत भी आई? पहले कभी वोट नहीं लिया गया फिर भी मानो जनता की पूरी शक्ति कांग्रेस के पास थी। अब वोट लिया गया है और मिल गया है लेकिन क्या वह महाशक्ति भी आ सकी है? यदि नहीं तो सोचने की बात है क्या नहीं?

जनता में जाने और जन-सम्पर्क बढ़ाने की बात सदा कही और याद की जाती है। ठीक है। पर क्या यह काफी है? क्या काफी हो सकता है? यदि नहीं तो क्या?

कारण मुझे यह जान पड़ता है कि कांग्रेस अधिकाधिक संस्था बनी जा रही है, चेतना नहीं रहती जा रही है। अब वह अपने में ठोस है सघनता है, दल है। पहले उसकी जैसे अपनी अलग निजता न थी स्वत्व न था। वह सब

और सत्ता न थी। वह समाई थी और समाती थी। तब मानो हरेक उसम था और वह सबकों का भाईचारा थी। कांग्रेस म जो थ उनकी अपनी पृथक हस्ती न थी मानों ये केवल इसलिए थे कि जो कांग्रेस म नहीं हैं उनकी सेवा म आ सकें। अब हालत कुछ दूसरी है। मानों अब जो कांग्रेस म हैं इसलिए कि दूसरे दूर रह। मानो कांग्रेस का काम अ ग्रेस म अपने को बचाय रखना है। उनम लड़ना और उन्हे परास्त करना है। सेवा करना नहीं मतुलन करना है!

मुझ सन्देह है कि जन सपक जो नतत्व क लिये प्रभाव के लिय किया जाता है उनक सुख-दुख मे सम रस होने क लिय नहा वह इष्ट परिणाम ला सकता है? अपने स्वत्व और निजत्व क विस्तार क लिय जो कोशिशें होगी वह बल बढ़ायगी नहीं। उनसे महकार बढ सकता है पर असली बल उनम घटने ही वाला है।

कांग्रेस गाधीजी के साथ होकर दल म न सिमट पाई। और यदि वह दल हुई भी तो गाधीजी उसम ऊपर सदा निस्पृह रह। वह स्वत्व क न बने सेवा के ही बने रह। अपार निरीह जनता के सुख दुख म घुल मिल रहने मी उनकी शान्ति रही। मानो वह नेता न थ जनता थे। परिणाम यह कि नेतृत्व कभी उन्ह रखना नहीं पड़ा बनाना नहीं पड़ा मानो वह उनके पास आता और रहता चला गया। परिग्रह की भाति वह अपने स उसे दूर ही मानते रह पर वह कभी उनस दूर न हो सका।

यश पर दृष्टि जाती है। जब काग्रस स दल चला तब गांधीजी की उपस्थिति के योग स कांग्रेस म बोध बल भाव प्रतिष्ठित था। अब वह नहीं है और सब कुछ है। दल सगठन है विधान है अनुशासन है प्रान्तो म और केन्द्र मे सत्ता है नगरपालिकाओ म और जिला बोर्डों म बन्धन है उसक बल म देश का जन और समूचा धन उसकी मुट्ठी म है। पुलिस है फौज है हरमन की सारी मशीन है करोड़ा-करोड़ रुपया है। वह मुट्ठी-भरी कांग्रेस नहीं जो कभी हुआ करती थी। पर तब की छ जा रहा है बल तो मानो कुछ भी नहीं है सब उजड़ गया है। काग्रेस म दल तो क्या चलना मानो गुट आप म ही नहीं चल रहा है। हाल म ही हुए कांग्रेस क अपने चुनावों के बारे म ऐसी खबरे सुनी और इन्हीं बातें सुनी जा रहा है कि क्या कहा जाय। क्या कृष्ण के पीछे पाण्डवो की आपस म लड़ना और मरना ही था? या कि कृष्ण के प्रभाव में कृष्णत्व की फिर प्रतिष्ठा हो सकती थी?

कृष्ण की क्या कथा है? यह कि उनके पास सेना भी थी और सहायता की आशा म दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही उनके पास पहुचे थ। दुर्योधन ने सेना

पाई अर्जुन के लिए अकेले कृष्ण रहे। अर्जुन के पक्ष के पांडव जीते कौरव हारे। जीत नीति और न्याय की हुई जिस पर कृष्ण का ध्यान था। सेना और सख्या के बल की नहीं हुई जिन पर कौरवों ने विश्वास बाधा था।

दल के रूप म ताकत बढ़ाकर सख्या बढ़ाकर अनुशासन और कौशल बढ़ाकर कांग्रेस मजबूत और सशक्त हो सकेगी इसम बहुत सन्देह है। भारत की शक्ति शायद उस जगह नहीं है। औरों का भी है विश्वास उस सेना और संख्या के बल पर और व राष्ट्र जिनका दुनिया पर प्रभुत्व है और आतंक है बड़ी सेना और बेहद अस्त्र शस्त्र से लस हैं। वह तयारी उनकी बढ़ती ही जा रही है। उनके पास दल हैं एसे सुगठित जसे ठोस दीवार। लेकिन उन्हीं से दुनिया सकट म है। जसे सभ्यता ही सकट म हो और साथ मानव-जाति और उसका विकास भी। गांधीजी को आशा थी कि सकट म स मार्ग निकलेगा और भारत वह मार्ग दिखायगा। मानों अब तक का भारत का इतिहास जैसा बना है वह इसीलिए कि संस्कृति और सभ्यता के एक विमूढ़ मोड पर वह अपनी युग-युग की साधना म स तीसरा मार्ग दिखा पाये।

४७ के बाद अभी सिफ ५२ हो पूरा हुआ है। याने अभी हमारी धुधली नहीं हो गई है चिह्न जो गाधी के चरण समय की धूल पर छोड गये अभी वे गीले हैं और ताजा हैं। और असभव नहीं है कि हम उस राह को फिर म लें और उस पर चल निकलें। वह तो राह है कि जिसका अत नहीं होता। गाधी चलकर उसे बता गये पर हम आगे चलना है। क्यो कि उनका जीवन प्रयोग रहा और प्रयोग का परिणाम वह हम देते गये अब उस परिणाम का हम विस्तृत परिस्थितियों म और बड पैमाने पर घटा दिखाने का आस्था रख सकते हैं और उधर बढ सकते हैं।

कांग्रेस दोराहे पर है। उसके आगे चुनाव साफ है। एक राह है जिधर चलकर सब हकूमत के हाथ हो रहता है। सत्ता केंद्रित होती है और अमुक प्रदेश का धन-जन सब उसका स्वत्व होता है। ऊपर के निर्णय स नीचे की चीजें चलती हैं और इस खूबी के साथ कि जसे मशीन चलती हो। वह सब कुछ जो इस यन्त्रवत् चलन म बाधक होता है वैज्ञानिक निर्ममता के साथ नष्ट और नाबूद कर दिया जाता है। यह पूरा दशन ही है। इसको स्टलिज्म संज्ञा दी जा सकती है। यह सबसे आधुनिक दशन है और मानना होगा कि वह्द् वैज्ञानिक है। लगता है, दुनिया ठीक इस समय इसी दशन के अधीन चल रही है। उससे ईश्वर अनावश्यक हो जाता है प्राथना केवल दश्य बनकर रह जाती है धम वहां धोखा होता है और व्यक्ति नगण्य बनता है। सगठन और शासन

यहां सबसे ऊंची कला होती है और श्रम की सेवा निम्न। कांग्रेस के सामने यह राह खुली है और चाहे तो वह उस पर सरपट जाने का निर्णय कर सकती है। ऐसी अवस्था में प्लानिंग अच्छा बन सकता और चल सकता है। तब पदार्थ के हिसाब में मानव भावना किसी ओर से बाधक नहीं हो पाती क्योंकि स्वयं उस भावना को और मन को यान्त्रिक और वैज्ञानिक प्रचार से नियत और नियमित रखा जाता है। नियम नियता-वर्ग के अधीन रहना है और नियम के बाहर शेष को असत ठहराकर अपनी व्यवस्था और चेष्टा से सचमुच ही मौत के घाट उतारकर अस्तित्व-हीन कर दिया जाता है।

इस रास्ते का समूचा राजनीतिक इतिहास का अनुमोदन है। उसको हम जानते हैं वह प्रयुक्त है परिचित है और एकदम स्पष्ट है। उसकी नीति दो टूक है कि जनता के हम हितैषी हैं उसके नेता हैं जनता के दुश्मनों को हम होने नहीं देंगे हो गये हैं तो रहने नहीं देंगे। एक-एक को चीन्ह-चीन्ह कर जनहित की रक्षा में हम खत्म कर देंगे। और जो हम हितैषियों की पांत में नहीं है बस वही हैं जो जन-शत्रु हैं। हमारा कोई उनका जीता नहीं रहने देगा।

यह नया मजहब है। शायद पुराना मजहब भी ऐसा ही होता था। पुरानों के पास ताकत शायद दिल की ज्यादा थी और दिमाग की कम होती थी।

अब ताकत विज्ञान की है और अपरिमित है। यह इतना जो हम या उस रूप में स्टालिनिज्म हो है खुला हुआ सामने बिछा है। उस पर चलकर धड़ाधड़ फतह की तरफ बढ़ा जा सकता है। उस नारे पर मन हो तो उस में दम-खम के साथ जूझ कर लड़ा जा सकता है।

जनता में इस तरह से भग्नाग्र सेनानी बनना विचारक और सुधारक हितैषी नेता कम नहीं हुए हैं। जनता की छाती उन्हें झेलती आई है। उनकी हितैषिता के कारनामे उसके भाल पर अंकित हैं। हमारी कष्ट भी गरदनें उसी दम पर हुई हैं। कांग्रेस उस रास्ते को समझ-बूझ कर ले सकती है और उसमें कोई दोष न होगा।

लेकिन तब गांधी के नाम को उसे एक ही बार छोड़ देना होगा। इसमें कोई हर्ज नहीं है। जरूरी समझा था तो हमने ईसा को सूली दी थी जिसने जरूरी समझा उसने गांधी को गोली से ढेर कर दिया। आखिर सब का और हम का ठेका ईसा और गांधी के पास न था। कांग्रेस भी गांधी से स्वतन्त्र होकर निर्णय कर सकती है। अपने में स्वतन्त्र हो निर्णय करना चाहिए। भावना का पान भी गलत है। मन में भावना रंग सकते हैं पर बुद्धि अपनी से चलना होगा।

जो खतरनाक है वह दोनों नावों पर सवारी करने की कोशिश है। सही है कि चीज कोई ऐसी नहीं है जिसके दो किनारे न हों। ओर होता है तो छोर भी होता है और दोनों को मिलाये रखना पड़ता है। इसलिए जीवन की कला समन्वय की कला है इसको और उसको मिलाये रखने की कला है। हर क्षण वह समझौता है। सही लेकिन समझौता ईमान में नहीं हो सकेगा। उसको तो एकाग्र ही रहना होगा। इसी से सत्य में आग्रह को स्थान है। समझौता और समन्वय की बात कहकर ईमान को ही दो सही बनाए रखना खतरे से खाली नहीं है। ऐसे दिल दिमाग की लड़ाई पैदा हो जायगी और कुछ नहीं होगा। ऐसी कोशिशों से नटबाजी की कला उन्नय में आती है। डिप्लोमेट ऐसा ही नट है। साधक वह नहीं होता और कोई स्थायी दान नहीं दे जाता यद्यपि कौशल का वह नमूना होता है।

इस दोराहे के मुहाने पर कांग्रेस नटबाजी के फेर में न पड़े। समन्वय की साधना वह नहीं है। अपने को अच्छी तरह टटोल कर उसे अपना ईमान पा लेना और स्थिर कर लेना चाहिए। शुद्ध हिंसा और अहिंसा कहीं नहीं है पर रास्ते जरूर दो है और ईमान और तरीके भी उनके मुताबिक दो ही हैं। ऊपर का राजनीति का और हिंसा का है। इसमें राज मुख्य और साध्य शेष गौण और साधन होना है।

पर दूसरा भी है। वह रास्ता जरा कड़ा है। राजनीतिक इतिहास के पन्ने पर वह कहीं चला हुआ नहीं दीखता है। फिर भी यह नहीं कि वह आजमाया नहीं गया है बल्कि इतिहास की एक निगाह वह भी है जो सफलता का सच्चा उसी राह पर देखती है। उस मारने की नहीं मरने की तैयारी की राह कहा जा सकता है। इसमें आदमियों को जुगाया जाता है बनाया और बदला जाता है तपस्या से तितिक्षा से सेवा से। यहां आदमी अपने लिए स्थिति नीची स्वीकार करता है सेवक बनता है दूसरे को ऊंचाई देता है और उसे अपना सेव्य गिनता है। आगे इस अंतर के साथ आगे भी अन्तर पड़ता जाता है। यानी उसमें राज्य ऊपर कहीं केन्द्रित नहीं होता, नीचे ग्राम पंचायत से नियुक्त होता है। समाज का उस स्थिति में केन्द्र व्यक्ति होता है जिसके हृदय में स्नेह और हाथों में श्रम है न कि कोई स्टेट जो फाइल और फीते से अपने को घिरा रखती है। तदनुरूप उत्पादन की विधि होती है और वितरण का विधान और जीवन की दूसरी व्यवस्थाएं भी उसी नीति से स्वरूप पाती और नियंत्रित होती हैं। उस सब ब्यौरे में जाने की जरूरत नहीं है। कारण, उस नीति के प्रयोग और उससे निष्पन्न अर्थशास्त्र समाज शास्त्र और राज शास्त्र का सम निर्माण

नहीं हुआ है। प्रचुर साहित्य उस दिशा का मिल सकता है।

तो वह राह भी है। अच्छा है कि उस पैरकर भी निमम निर्णय के साथ उस सत्ता के लिए छोड़ दिया जाय। लेकिन उस राह का हम लोभ है और रह रहकर मन यदि यह उठता है कि उसम भी कुछ सचाई है तो अच्छा है कि हम ठिठकें और अपने को सोचने का समय दें। पर लें उस राह को तो कदम फिर खींचे न रहे मुह न मोड़ें और उस नीति म से जो फलित हो उसका स्वीकार करें और पालन करें।

कम्यूनिज्म के पास एक पूरा निजाम है। अथ से इति तक वह निष्पन्न है और कम्युनिस्ट उस बारे म निभ्रम है। इसलिए वह बहुत कुछ कर जाता है और वक्त पर खुशी से मर जाता है। इस ताकत ने जसे दुनिया को रोशनी दी है। लेकिन जस इसी ताकत ने दूसरी मुकाबल की ताकत को खड़ा कर लिया है। वह अपनी नहीं बल्कि एन्टि-कम्यूनिज्म की ताकत है। इसलिए दोनो एक दूसरे को काट नहीं पाती मानो अपनी सब कामनाओं स व एक-दूसरे को और पार ही देती हैं।

ऐसी हालत म क्या कोई चीज है जो इस 'पोलेराइजेशन' (परम द्वत) से बाहर हो ? कोई डिप्लोमसी कोई चतुराई इस द्वत के बीच संधि नहीं ला सकती। यूनो का चित्र सामने है। क्या सब कोशिश वहा हार ही नहीं रहा है ? क्या एक भी अवसर हुआ जब यह उघड़ बिना रह सका कि सेशन है बीच म गहरी खाई है और पुल जितने ही बनाओ अव्वल तो वह बनने वाले नहीं हैं बने तो लगेंगे टिकने वाले नहीं हैं !

ऐसी हालत में क्या कोई जीवन का विधान है नहीं होगा नहीं जा द्वैत से न चल और इसलिए शत्रु पाल न करे। जो दुश्मन न बने इसलिए दुश्मन न बनाय। जो मारने की कोशिश म न मरे जिसस कि मरना कायम रहे। बल्कि बचाने की कोशिश म मरे जिससे कि फिर सब एक-दूसरे को बचाने में लग सकें। दुनिया इस कदर स्थितिया हो गई है ऐसा बरामा तो नहीं होता। पर भारत और भारत की कांग्रेस इस दिशा में अपना रिवाला लिया उठती तो फिर भला आशा दूसरे कहां और किससे रखी जा सकती है ?

चुनाव का अवसर कांग्रेस के हाथ है और हर कार्यकर्ता के साथ है। देखना है कि उत्तर क्या आता है ?

जनवरी ५१ ■ ■ ■

संस्कृति का प्रश्न

प्रश्न— सांस्कृतिक शब्द का आजकल बोलबाला है। स्वतन्त्र संस्थाओं के अतिरिक्त राज्य स्तर पर भी बड़े-बड़े इन्स्टीट्यूशन खड़े किए जा रहे हैं। युद्ध का खतरा ज्यों ही निकट दीखता है उक्त सांस्कृतिकता की निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। आखिर यह संस्कृति क्या है? क्या उसमें इतनी शक्ति नहीं होनी चाहिए कि अमानवीय तत्वों का शमन कर दे?

उत्तर—संस्कृति वह है जहां आत्मा का प्यार काम करता है अहंकार नहीं। अहं से कोई छूटा हुआ नहीं है। इसीलिए प्रेम अनिवार्य होता है। अहं बोध एक कष्ट है। प्रेम में जो सुख मालूम होता है सो इसी कारण कि उसमें अहं भाव हमसे छूटता और पर के प्रति विसर्जन का भाव जागता है।

आपका प्रश्न यह बनता है कि अहंकारों में जब विग्रह छिड़ता है तो प्रेम वहां क्यों अकारथ हो जाता है? संस्कृति क्यों असमर्थ और अपंग दीखती है उस समय जब युद्ध की चुनौती सामने होती है?

इस प्रश्न में एक भ्रान्ति है। आपकी संस्कृति मेरे अहंकार का शमन क्यों नहीं करती प्रश्न का मूल यह रूप है। आप देखें कि वह आप ही बांका और औंधा है। अहंकार का उत्तेजन जब हो तब प्रेम तो भाग ही चुका होता है। यह कहना कि प्रेम उस समय क्यों अपनी शक्ति नहीं दिखाता मानो यह पूछना है कि अहंकार जागता ही क्यों है? इस तरह प्रश्न उलट-पलट जाता है। अर्थात् संस्कृति पर दायित्व राजनीति का नहीं है।

लेकिन अब शायद आप मानव जाति को एक इकट्ठे रूप में देखकर पूछना चाहते हैं कि संस्कृति की शक्तियां क्यों निर्बल साबित होती हैं? और उससे विरोधी अहंकार की शक्तियां या पशुता की शक्तियां क्यों जबर्दस्त निकलती हैं? कुल मिलाकर अवश्य ऐसा होता दीखता है। लेकिन तब यही कहना होगा कि मनुष्य संस्कृति के सोपान में अभी उतना ऊंचा नहीं पहुंच पाया है।

मुझे यह भी प्रतीत होता है कि सदा-सर्वदा व्यक्ति को ऐसा ही लगेगा, लगते रहना चाहिए कि मनुष्य काफी संस्कारी नहीं अभी बन पाया है। यह

असंतोष दैवी गुण है और जगत् के सब प्राणियों को छोड़ कर एक मनुष्य में ही संभव है। यह हमारी संस्कारिता का ही प्रमाण है कि हम अनुभव करते हैं हम काफी सुसंस्कृत नहीं हैं। वास्तविक और ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो पिछले युगों से मनुष्य बहुत आगे आ गया है। संस्कृति के मान में भी मानव जाति ने उत्कर्ष किया है। इस सम्बन्ध में अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है कि पाषाण-युग, धातु-युग आदि को पार करता हुआ मनुष्य अणुयुग में आया है तो यह उन्नति है। यह मान रखना एकदम हठवाद होगा कि इस बीच में मनुष्य ने विकास नहीं किया है। हमारी सम्यता सब इसका प्रमाण है कि मन मस्तिष्क दोनों ओर से मनुष्य ने अपना अगम विस्तार साधा है। इस अर्थ में पर यदि आज मनुष्य को संतोष नहीं है तो यह स्वयं उसके उन्नत मानस का परिचायक है।

अहंकार पर अहंकार की विजय न होती चली जाती तो आज हमारे पास यह अंतर्राष्ट्रीय तंत्र उपस्थित नहीं हो सकता था जो है और काम कर रहा है। यह सब संभव नहीं रह गया है कि देश अलग-अलग और एक-दूसरे से अप्रभावित रहें। शक्ति-व्यूह का कहीं तनिक असंतुलन यहाँ से वहाँ तक सारे विश्व को विचलित कर देता है। दूर निर्जन प्रदेश में शासन की समस्या उठती नहीं कि दुनिया की बन जाती है। यह व्यवस्था आप देख रहे हैं और मैं देख रहा हूँ। अहंकार जो आत्मा को अलग में सब कुछ मान रखने में सहायता देता था आज किसी को भी प्रिय नहीं सकता है। यह उस सद्भाव की विजय नहीं तो क्या है। इसके मूल में प्रेम मूलक संस्कृति ही हो सकती है।

अहंकार से छुटकारा हो गया है या नहीं। वह छुटकारा पूरी तरह कभी होने वाला भी नहीं है। पुरुषार्थ सदा अपूर्ण रहेगा और कभी न होगा कि आदमी रहे और उसके पास करने जानने को कुछ न रहे। उसके अन्दर का मूल विग्रह यह अहंभाव उसका अंत तक साथ देने वाला है। मुक्ति और मृत्यु से पहले एक क्षण के लिए यह उसे छोड़ने वाला नहीं है। वह गया तो देह ही चला गया और फिर प्रेम तक के लिए अवकाश नहीं रह गया। प्रेम तभी तक संभव और कार्यकारी है जब तक स्व के लिए कुछ पर भी हो। सम्बन्ध का अवकाश जहाँ तक है प्रेम की भी वहाँ तक व्याप्ति है। मैं समाप्त हो गया तो वह और 'तू' भी खतम हो गया तब भी तो काम नहीं चल सकता। यह अवस्था अनिर्वचनीय है।

इसलिए अहं खतम तो नहीं होता नहीं ही होने वाला है। उसका रूपान्तर अवश्य हुआ करता है। वह अहं आज विराट् बन गया है। राष्ट्रव्यापी से कहीं आगे आज आकर अन्तर्राष्ट्रीय इन्टरनेशनल कामनवेल्थ सीटो नाटो आदि उसके

अनेक रूप हैं। विश्व का एक अहंकार तो नहीं बना है और राजनीतिक धरातल पर उसकी कोशिश चल रही है। यूनो अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है अहंकारों का सम्मेलन है। एकता का सजीव संगठन नहीं है लेकिन धीरे-धीरे वह भी संभव हो सकेगा। अहंकार का यह फैलाव स्वयं में संस्कारी नहीं है विस्तार की परिधि पर सदा वहां सुरक्षा की चिन्ता और युद्ध का तनाव है लेकिन जिस कारण यह विस्तार अनिवार्य होता हुआ बढ़ता ही जा रहा है उसमें जाने अनजाने मानव-संस्कृति के तत्व पड़े हुए हैं। अपने को आत्मतुष्ट मानने के सिद्धान्त से (मुनरो डोक्ट्रीन में) अमेरिका को बाहर आना पड़ा तो यह किसी संकीर्ण स्वार्थ के कारण नहीं बल्कि इस पहचान के कारण कि कोई स्वार्थ संकीर्ण रह कर स्वयं अपने को सिद्ध नहीं कर सकता है। इस तरह आदमी चाहे अपने में यह अनुभव कर रहा हो कि उसका अहंकार दिन दिन विस्तृत हो रहा है और यह मद भी उस पर चढ़ता जाता हो शायद सभ्यता का मद यही है लेकिन इसमें परस्परता के विकास का ऐतिहासिक सत्य काम कर रहा है। परस्परता का भाव घनिष्ठ हो होता जा रहा है। आज का युद्ध भी जागतिक (ग्लोबल) हुए बिना रह नहीं सकता स्वयं क्या दरसाता है? यही नहीं कि अब हम आपस में उस तरह बंटे और बिखरे नहीं हैं अगर बंटे हैं तो कुल दो छावनियों में बंटे हैं। इस अकेले ज्ञापन के अलावा हम आपस में बेहद मिले हुए हैं। देशों के अरबों खरबों के बजट आवागमन यातायात के सवर्द्धमान साधन भी भौगोलवाद और बहुत मतवाद-अगर ये सबूत हैं तो इस बात के हैं कि हम एक दूसरे के पास पहुंच रहे हैं आपस में काम ले रहे और काम आ रहे हैं।

इस विस्तार के प्राथमिक रूप को अवश्य राजनीतिक कहना चाहिए। यहां पर आपको अहंकार के दर्शन होंगे। वहां इसलिए शस्त्र है सन्नद्धता है कूटनीति है। लेकिन परिधि पर की इस विकलता और भुक्ति को देख कर केन्द्र के समीप जो सिद्धान्त चरितार्थ हो रहा है उसके प्रति असावधान होना अंधा बनना है। केन्द्र में मनुष्य का नहीं ईश्वर का हेतु है। प्रेम का और संस्कृति का नियम वहां वर्तन करता है। वहां व्यथा है, नम्र है। वहां दावा और घोष यदि उतना नहीं है तो उस बारे में भूल करना अनजान बनना होगा। आज का लोक-नेता लोक विधाता नहीं है लोकाश्रित है। उसको वोट की जरूरत होती है उसको जनता का प्यार और विश्वास चाहिए। संभव हो सकता है कि वोट उस चतुराई से मिल जाय लेकिन जैसे भी हो यह अनिवार्य है कि लोकमानस उसको स्वीकार करता ऊपर लाए। निश्चित मानिए कि लोकमानस में ठहर सकने वाले सत्व वे हैं जो सेवा और श्रम के संग-संग रहते हैं। तप और दम लोक हृदय में

असंतोष दैवी गुण है और जगत् के सब प्राणियों को छोड़ कर एक मनुष्य में ही संभव है। यह हमारी सुसंस्कारिता का ही प्रमाण है कि हम अनुभव करते हैं हम काफी सुसंस्कृत नहीं हैं। वास्तविक और ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो पिछले युगों से मनुष्य बहुत आगे आ गया है। संस्कृति के मान में भी मानव जाति ने उत्कर्ष किया है। इस सम्बन्ध में अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है कि पाषाण युग, धातु युग आदि को पार करता हुआ मनुष्य अणुयुग में आया है तो यह उन्नति है। यह मान रखना एकदम हठवाद होगा कि इस काल में मनुष्य ने विकास नहीं किया है। हमारी सम्पदा सब इसका प्रमाण है कि मन मस्तिष्क दोनों ओर से मनुष्य ने अपना अगम विस्तार साधा है। इस प्रगति पर यदि आज मनुष्य को संतोष नहीं है तो यह स्वयं उसके उन्नत मानस का परिचायक है।

अहंकार पर सहकार की विजय न होती चली जाती तो आज हमारे पास यह अंतर्राष्ट्रीय तंत्र उपस्थित नहीं हो सकता था जो है और काम कर रहा है। यह अब संभव नहीं रह गया है कि कोई व्यक्ति और देश अपने में बन्द और दूसरे से अप्रभावित रहे। अग्नि-व्यूह का कहीं तनिक असंतुलन पल में यहाँ तक सारे विश्व को विचलित कर देता है। दूर निर्जन प्रदेश में दावानल की समस्या उठती नहीं कि दुनिया की बन जाती है। यह यथार्थता आप देख रहे हैं और मैं देख रहा हूँ। अहंकार जो आत्मा को अपने में सब कुछ मान रखने में सहायता देता था आज किसी का भी टिक नहीं सकता है। यह उस सहभाव की विजय नहीं तो क्या है। इसके मूल में प्रेम मूलक संस्कृति ही हो सकती है।

अहंकार से छुटकारा हो गया है या नहीं। वह छुटकारा पूरी तरह कभी होने वाला भी नहीं है। पुरुषार्थ सदा अपरिमित रहेगा और कभी न होगा कि आदमी रहे और उसके पास करने जानने को कुछ न रहे। उसके अन्दर का मूल विग्रह यह अहंभाव उसका अंत तक साथ देने वाला है। मुक्ति और मृत्यु से पहले एक क्षण के लिए यह उसे छोड़ने वाला नहीं है। वह गया तो देह ही चला गया और फिर प्रेम तक के लिए अवकाश नहीं रह गया। प्रेम तभी तक संभव और सार्थक है जब तक स्व के लिए कुछ पर भी हो। सम्बन्ध का अर्थ भेद यहाँ तक है प्रेम की भी यही तो व्याप्ति है। मैं समाप्त हो गया तो 'वह' और 'तू' भी खतम हो गया, तब की तो बात नहीं की जा सकती। वह अवस्था अनिर्वचनीय है।

इसलिए अहं खतम तो नहीं होता, नहीं ही होने वाला है। उसका रूपांतर अवश्य हुआ करता है। वह यह आज विराट् बन गया है। राष्ट्रवादी से कहीं आगे आज आदर्श कम्युनिज्म इन्टरनेशनल कामनवेल्थ लीग आदि उसके

अनेक रूप हैं। विश्व का एक सहकार तो नहीं बना है और राजनीतिक धरातल पर उसकी कोशिश चल रही है। यूनो अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है, सहकारों का सम्मेलन है। एकता का संघीय संगठन नहीं है लेकिन धीरे-धीरे वह भी संभव हो सकेगा। सहकार का यह फैलाव स्वयं में संस्कारी नहीं है, विस्तार की परिधि पर सदा वहां सुरक्षा की चिंता और युद्ध का तनाव है लेकिन जिस कारण यह विस्तार अनिवार्य होता हुआ बढ़ता ही जा रहा है उसमें जाने-अनजाने मानव-संस्कृति के तत्व पड़े हुए हैं। अपने को आत्मनिर्णय मानने के सिद्धान्त से (मुनरो डॉक्ट्रीन से) अमेरिका को बाहर आना पड़ा तो यह किन्हीं नकारात्मक स्वार्थ के कारण नहीं, बल्कि इस पहचान के कारण कि कोई स्वार्थ संकीर्ण रह कर स्वयं अपने को सिद्ध नहीं कर सकता है। इस तरह आदमी चाहे अपने में यह अनुभव कर रहा हो कि उसका अहंकार दिन दिन विस्तृत हो रहा है और यह मद भी उस पर चढ़ता जाता हो, शायद सभ्यता का मर्म यही है, लेकिन इसमें परस्परता के विकास का ऐतिहासिक सत्य काम कर रहा है। परस्परता का भाव घनिष्ठ ही होता जा रहा है। आज का युद्ध जो जागतिक (ग्लोबल) हुए बिना रह नहीं सकता स्वयं क्या दरसाता है? यही नहीं कि अब हम आपस में उस तरह बंटे और बिखरे नहीं हैं, अगर बंटे हैं तो कुल दो छावनियों में बंटे हैं। इस अकेले दोपन के अलावा हम आपस में बेहद मिले हुए हैं। दसों के अरबों खरबों के बजट, आवागमन यातायात के संवर्द्धमान साधन, भी साम्योगवाद और बहुत् मन्त्रवाद अगर ये सबूत हैं तो इस बात के हैं कि हम एक दूसरे के पास पहुंच रहे हैं, आपस में नाम न रहे और काम आ रहे हैं।

इस विस्तार के प्राथमिक रूप को अवश्य राजनीतिक कहना चाहिए। वहां पर आपको अहंकार के दर्शन होंगे। वहां दमखम है, अकड़ना है, कूटनीति है। लेकिन परिधि पर का इस विकराता और त्रुटि का दम भर केन्द्र के समीप जो सिद्धान्त चरितार्थ हो रहा है उसके प्रति असावधान होना अंधा बनना है। केन्द्र में मनुष्य का नहीं ईश्वर का हेतु है। प्रेम का और संस्कृति का नियम वहां यतन करता है। वहां क्षमा है, श्रम है। वहां दावा और घोष यदि उतना नहीं है तो उस बारे में भूल करना अनजान बनना होगा। आज का लोक नेता लोक विधाता नहीं है, लोकाश्रित है। उसको वोट की जरूरत होती है, उसको जनता का प्यार और विश्वास चाहिए। संभव हो सकता है कि वोट जरी चतुराई से मिल जाय लेकिन जैसे भी हो यह अनिवार्य है कि लोकमानस उसको स्वीकार द्वारा ऊपर लाये। निश्चित मानिए कि लोकमानस में उतर सकने वाले सत्य वे हैं जो सेवा और श्रम के संग संग रहते हैं। तप और दम लोक हृदय में

स्थान नहीं कर पाते। वे जन नम्र हैं और मौन हैं। इससे हम सुविधा है कि कह दें कि वे नहीं हैं, हैं तो कार्यकारी नहीं हैं। लेकिन यह कहेंगे तो तब जब दूरदर्शन और अन्तर-दर्शन से बचेंगे। सच मानिए कि यदि धरती पर पाप है और रसातल नहीं जाती है तो इसी वजह से कि टिकी हुई वह पुण्य पर है। पुण्य भीतर है, पाप ऊपर है, इस वास्ते ही भ्रम उत्पन्न होता है। लेकिन सम्यक दर्शन का महत्व ही यह है कि वह सुगम नहीं होता है। इन चाम की आँखों नहीं हो पाता है। श्रद्धा से उसका साक्षात्कार होता है, अन्यथा दर्शन बन नहीं पाता। *आपने जो कहा वह दौलत वाला सच हो सकता है। इस दृश्य रूप के नीचे जी* के गहरे में बसने वाला जो सच है, उसको जो पहचानता है वही पहचानता है। रूप की हिलोर में आप मुग्ध और चमत्कृत हो सकते हैं, लेकिन वे जो अन्तर्मन में विधा जा रही है, उसको पहचानेंगे तभी पहचानने वाले कहे जायेंगे। तब ही सकता है रमणी का आप मन पा लें, उसका सच पा लें और तब उसका अर्पण भी पा जायें। दुनिया क्या उनके पीछे पागल बनी है जिन्होंने रूप का ही नहीं चाहा है।

मानना होगा कि संस्कृति में विचार प्रधान है, क्रिया कम है। क्रिया में से साहस और दम की निष्पत्ति है। राजनीति के पास इस साहस और दम की पूजा हुआ करती है। इसी में से उसकी प्रबलता बनती है। इस सामर्थ्य से काम चल रहा है और यदि संस्कारी व्यक्ति से यह अपेक्षा है कि वह सांस्कृतिक भाव से प्रेरित हो तो उसे विचार में अधिक क्रिया को अपने भीतर लेकर वहाँ से साहसिक पग का उपक्रम करना होगा। कर्म यह है जो अकेले संभव नहीं बनता इसीलिए भाव से कर्म आगे बढ़ जाता है। भाव अपने में अनाश्रित रह सकता है और सहकार-सहयोग के बिना भी जी सकता है। भाव जब कर्म में व्यक्त होने बढ़ेगा तो उसे सहकार में आना होगा। तब उसमें पारस्पर्य और बल उत्पन्न होगा।

विचार एकाकी होता है, कर्म द्वारा व्यापक सामाजिक बनता है। कर्म प्रवृत्ति है, विचार निवृत्ति है। उस निवृत्ति में से प्रवृत्ति और संयम में से कर्म निकलेगा तो उसकी प्रबलता अमोघ होगी। संस्कृति के प्रतिनिधि ऐसा नहीं कर सकेंगे तो कभी संभव नहीं बनेगा कि यह का परिधि पर शस्त्रास्त्र की हुंकार और युद्ध की ललकार समाप्त हो। यह मोर्चा जब जिस दल में अहिंसा अथवा प्रेम के व्रतियों के हाथ आ सकेगा तभी दिखाई दे जायेगा कि राजकारण में भी प्रेम सबसे बड़ा मूल्य है। प्रेम का सत्य केवल वैयक्तिक नहीं है, राष्ट्रीय और अब राष्ट्रीय तल पर भी उतना ही सार्थक और समर्थ है। आज तो कोई

देश वहाँ तक उठा हुआ नही है। स्वय गाधी का भारत मोह मे पडा है और सस्कृति को उपकरण के रूप म ही वह ले सकता है उससे आगे की श्रद्धा यह भी खो बठा है।

सस्कृति के द्य दौबल्य म प्रत उस शब्द को जिस रूप म हम चलाते चलात हैं उसका दोष है। मूल तत्व की त्रुटि नही है।

नवम्बर ६१

भारत के सर्देशाधिकारी नेहरू

जवाहरलाल जी म नौन प्रनजान है। कुछ भी उन्होंने अपने पास नहीं रोका। समय को भी अपने म नही रोका। अपना सब कुछ वह देते ही चले गये हैं। इस प्रकार उनके सम्बन्ध सब ओर फैले हैं। पर उन असाध्य मानव सम्बन्धों के विस्तार म भी यन सीमित नही हैं। सब उन्हें जानते हैं फिर भी सभी को विस्मय है कि क्या वे उन्हें जानते हैं। कारण घटना पर जितने हैं उससे अधिक वह हवा म हैं। इस हवाई चीज को पकडना आसान नहीं। मालूम होता है कि वह जहा भी है वहा और न्तन हा नहीं हैं उससे पर और आगे भी हैं। मानव सम्बन्धों म उन्हें पूरी तरह पकडा या समझा नही जा सकता। उनके पार जो पहुंचों का लाभ है जवाहरलाल एक क्षण वहा म भी अपने को तत्पर अलग नहा कर पाते हैं। इस तरह वहना कि यह बहुत जल्दी नाराज और निराश कर देते हैं। लेकिन अगले क्षण ही नाराजी दूर हो जाती है निराशा उड जाती है। यद्यपि जवाहरलाल की मुस्कराहट उन्हें बता देती है कि वह व्यक्ति नहीं बालक हैं। बालक म स्वार्थ गाठ नहा बन पाता सब कुछ उसम हरा और लहराया रहता है। आंख उसकी साफ और मन सदा आगे रहता है। बालक करता नहा है उससे होता है। अपनी गल्तियां और त्रुटियों के लिए भी मानों पूरी तरह उसे जिम्मेदार ठहराया नही जा सकता।

व्यक्ति यों तो आत्मा है लेकिन सशरीर इस जगत म होकर धीरे धीरे बहुत सारा वह अपने पास जुटा लेता है जो औरों से काटकर उसे अपनी निजता की गाठ म अलग बाध देता है। यह संचय उसका नियम और यह रक्षा उसकी चिंता होती है। शरीर के धनाय तब उसे चलना और उसकी भाषा म जीना होता है। इस तरह जीवन उसके लिए समस्या बनता है और वह जगत् का गुत्थी म माला अपनी ओर म एक उलझन और बढ़ाता है।

जवाहरलाल में यह शिनाख्त नहीं लगा सो नहा कह सकते। उनके रक्त में सम्भ्रान्ति है। नसा म नीरा मन है। वह उनको एक दर्पी और प्रतापी व्यक्तित्व प्रदान करता है। वह उनको आगे छोट देता है। पर भीतर से

जवाहरलाल इस अपनी विशिष्टता पर प्रसन्न नहीं हैं। यह विशेषता है जो राजनीतिक रखकर भी उन्हें स्मरणीय बनाती है। अधिकांश राजनीतिक विस्तार में रहते हैं। इसलिये तत्काल म उनकी सीमा है और वहीं समाप्ति है। भावी मे उनकी व्याप्ति नहीं होती। अमरता म वे नही उठते। मर कर वे ऐसे मिटते हैं कि किसी कृतज्ञता में याद शेष नहीं छोड़ जाते। इतिहास उन पर धूल ही चढ़ाता जाता है। अतीत भीतर से उन्हें जगाने की चिंता भविष्य को नहीं होती। पर जवाहरलाल को अपनी निज की विशिष्टता अन्दर से प्रिय नहीं यही अमरता के प्रति उनका दावा है। अन्त म यही उनकी समस्या भी है।

वह शक्ति के क्षेत्र म नगण्य नहीं है। वह क्षेत्र आवश्यक रूप म स्वार्थों का क्षेत्र है। शक्ति का मतलब ही है कि सामने तुलने को दूसरी शक्ति भी है। उस शब्द म ही प्रतिद्वन्द्व है। विरोध और विग्रह के बिना शक्ति निष्फल ही अधिक है। विग्रह तमाम विरोधी स्वार्थों म हुआ करता है। ऐसा होकर भी जवाहरलाल किसी स्वार्थ के प्रतिनिधि नहीं है। भारत के भारतीय सत्व के सरकार क प्रतिनिधि हैं। फिर भी उसकी सत्ता के प्रतिनिधि उन्हें नहीं कहा जा सकता है। भारत उनके लिए भूगोल नहीं है मानो एक आत्मा है एक आन्दोलन ह एक भाव धमकता है। स्तालिन टू्मन के मिलने जुलने म जो दिक्कत होती है जवाहरलाल के साथ उसकी कल्पना भी मुश्किल है। कारण जवाहरलाल के पास देश की क्या अपनी निज की अस्मिता के लिये भी स्थान नहीं है। यह ग्रही से है कि शासक के साथ वह मित्र भी है सेवक भी है। सच पूछिये तो सही ढग के वह शासक हो नहा हैं।

आदमी शरीर रखकर चलता है। लेकिन कल्पना उस बधन से उल्टी ही उड़ती है। शासक कल्पना विहारी नहीं हो सकता। इस तरह शासक अनागत के आवाहन मे सदा ही बाधा है। वह स्थिति से बध जाता है और गति यथा किंचित उससे दबती ही ह। काल-गति उस ताड़कर अपने को सम्पन्न करती है। शासक और कवि म इसलिये मौलिक विरोध ह। जवाहरलाल म यह विरोध कम नहीं हो गया — लेकिन कभी वह अवरता नहा ह। कहना मुश्किल ह कि वह म र्हि यक अधिक ह या राजनीतिक। कल्पना शील नहीं तो वह कुछ भी नहीं। यह कल्पनाशीलता प्रधान मंत्री नेहरू के लिय भूषण ह दूषण बिल्कुल नहीं। यही जवाहरलाल की प्रतिभा का प्रमाण ह।

नेता की भिन्न कोटि है। राजा का बेटा राजा होता है और कुर्सी आदमी का अफसर बना सकती है। पर नेता शासन म अलग है। नेता उठाता है शासक दबाता है। जरूरी है कि आत्मा का निर्माण शासन म अधिक हो शरीर

जवाहरलाल इस अपनी विशिष्टता पर प्रसन्न नहीं हैं। यह विशेषता है जो राजनीतिक रखकर भी उन्हें स्मरणीय बनाती है। अधिकांश राजनीतिक विस्तार में रहते हैं। इसलिये तत्काल में उनकी सीमा है और वही समाप्ति है। भावी में उनकी व्याप्ति नहीं होती। अमरता में वे नहीं उठते। मर कर वे ऐसे मिटते हैं कि किसी कृतज्ञता में याद शेष नहीं छोड़ जाते। इतिहास उन पर धूल ही चढ़ाता जाता है। अतीत भीतर से उन्हें जगाने की चिंता भविष्य को नहीं होती। पर जवाहरलाल को अपनी निज की विशिष्टता अन्दर से प्रिय नहीं यही अमरता के प्रति उनका दावा है। अन्त में यही उनकी समस्या भी है।

वह शक्ति के क्षेत्र में नगण्य नहीं है। वह क्षेत्र आवश्यक रूप में स्वार्थों का क्षेत्र है। शक्ति का मतलब ही है कि सामने तुलने को दूसरी शक्ति भी है। उस शब्द में ही प्रतिद्वन्द है। विरोध और विग्रह के बिना शक्ति निष्फल ही अधिक है। विग्रह तमाम विरोधी स्वार्थों में हुआ करता है। ऐसा होकर भी जवाहरलाल किसी स्वार्थ के प्रतिनिधि नहीं हैं। भारत के भारतीय सत्व के सरकार के प्रतिनिधि हैं। फिर भी उसकी सत्ता के प्रतिनिधि उन्हें नहीं कहा जा सकता है। भारत उनके लिए भूगोल नहीं है, मानो एक आत्मा है, एक आन्दोलन है, एक आवश्यकता है। स्तालिन ट्रूमन के मिलने जुलने में जो दिक्कत होता है जवाहरलाल के साथ उसकी कल्पना भी मुश्किल है। कारण जवाहरलाल के पास देश की क्या अपनी निज की अस्मिता के लिये भी स्थान नहीं है। यह इसी से है कि शासक के साथ वह मित्र भी है सेवक भी है। सच पूछिये तो सही ढंग के वह शासक ही नहीं है।

आदमी शरीर रखकर चलता है। लेकिन कल्पना उस बंधन से उल्टी ही उड़ती है। शासता कल्पना विहारी नहीं हो सकता। इस तरह शासन अनागत के आवाहन में सदा ही बाधा है। वह स्थिति से बंध जाता है और गति यथा किंचित नस्स रुकती ही है। काल-गति उस तोड़कर अपने को सम्पन्न करती है। शासक और कवि में इसलिये मौलिक विरोध है। जवाहरलाल में यह विरोध कम नहीं हो गया है लेकिन कभी वह प्रखरता नहीं है। कहना मुश्किल है कि वह मूलतः ऐतिहासिक अधिक है या राजनीतिक। कल्पना शील नहीं तो वह कुछ भी नहीं। यह कल्पनाशीलता प्रधान मंत्री नेहरू के लिये भूषण है, दूषण बिल्कुल नहीं। यहां जवाहरलाल की प्रतिभा का प्रमाण है।

नेता की भिन्न कोटि है। राजा का बेटा राजा होता है और कुर्सी आदमी को अफसर बना सकती है। पर नेता शासक में प्रधान है। नेता उठाता है शासक दबाता है। जरूरी है कि आत्मा का विश्वास नायक में अधिक हो शरीर

का लगाव कम। वह निस्पृह हो बहादुर हो खरा और बलाग हो। शरीर से स्वाथ उपजता है आत्मा से हो प्रम। आत्मोमुख होने पर ही व्यक्ति उठता है। आत्मवान ही प्रमन भय म विराट बन सकता है। नायक को इस तरह प्रलक्ष्य की ओर ही बढ़ना होता है जिसम सहारा केवल उसकी श्रद्धा हो। अब अनुयायी होता है उसका शरीर। आजकल पार्टी लीडर पार्टी से अलग और ऊपर कुछ रह नहीं जाता इसलिए वह जोड़-तोड़ म रहता है। उसकी खूबी चतुराई की बन जाती है। निष्कपटता म उस खतरा है। शौय और पराक्रम उसम झलक नहीं सकते। किन्तु जवाहरलाल की धातु और है। देश और पार्टी के नेता होकर भी देश और पार्टी का वह आत्मापमन नहीं पहुंचा पाते हैं कि वह उनसे घिरे हैं। यही उनका नेतृत्व है जो उन्ह ढकता नहीं उल्टे मुक्त करता है। नेतृत्व उनकी चिन्ता नहीं बोझ की भांति आ गया हुआ एक दायित्व है जो विनम्र और कुशल तो उन्ह बना सकता है कायर और कुटिल नहीं।

दुनिया की आज की स्थिति म जवाहरलाल से बहुत आशाए हैं। गांधी ने एक नई दृष्टि और नई परम्परा जाग्रत की थी। उन्होने दिखाया कि ससार का काम ईश्वर की नीति से ही चलना और चलाना होगा। सांसारिक नीति कोई अलग नहीं हो सकती। आत्मा के अनुसार चलने म ही शरीर का स्वास्थ्य है। इसलिए ससार के भले के लिए सम्राट और राजनेता नहीं चाहिए सेवक और शहीद चाहिये। शासक और श्रमिक की खाई झूठी है। शासक बोझ है इसलिए शासक बदलने उनकी सख्या कम अधिक करने और शासन तन्त्र को इधर या उधर करने से असली कुछ लाभ होने जाने वाला नहीं है। आर्थिक कह कर जिस कायक्रम के सहारे विश्व म सहयोगी शांत और सही व्यवस्था हम लानी है उसका तथ्य अक और हिसाब म नहीं है। मूल की ओर से उसे नतिक और सेवा भावी होना है। उसके लिए सबसे पहले हृदय का परिवतन करना है स्पर्धा की जगह प्रार्थना से चलना है। सारी दृष्टि को ही बदल डालना है। तब शासन और श्रम दोनों के ही क्रम और कम बदलते दिखाई देंगे। उनके विकार को दूर करके उन्ह सस्कार देना है। यहा तो रुग्ण साधन से नीरोग साध्य नहीं प्राप्त होने वाला है।

गांधी की यह दृष्टि सारे राजनतिक ससार के लिए चुनौती है। खासकर अब जब कि देशों म तनाव है। शस्त्र भीषण वेग से तैयार हो रहे हैं और एक दूसरे को मारने और दोषी और दुष्ट प्रमाणित करने की कोशिश चल रही है। ताप म जब युद्ध चारों ओर से लगा अनुभव होता है गांधी का माग

जाए का एक राजामग रह जाता है। जवाहरलाल के हाथ उस परम्परा का उत्तराधिकार है और उस माग के द्वार की कुंजी है। गांधी नगाए और भावकी में रहते थे। जवाहरलाल सूट और महल में भ नते है। गांधी चर्खे पर मन रखते थे जवाहरलाल की आस मशीन और ट्रेक्टर पर है। यह अन्तर है और जवाहरलाल को बस्त पासना तय करना है। फिर भी विनोबा से भी ज्यादा उस परम्परा की र ? जवाहरलाल के हाथ है—और विलायना तो जवाहर से वह चीज मिलती और ल नी है। नहीं तो नहीं कहा जा सकता है कि तीसरा विश्वयुद्ध न होगा या कि फिर उसी की कड़ी में चौथा प्रलय युद्ध न आकर टूटेगा।

एक बात साफ है। वस्तु की बहुतायत अथवा मशीनी उत्पादन सबकी बसी आवश्यकताओं की अस्पष्ट पूर्ति—इस तरफ जवाहरलाल का रुख और जोर है तो यह वस्तु की चाह के कारण नहीं बल्कि खरी मानव सहानुभूति के कारण है। इन्सान से उन्हें प्यार है और आदमी को भूखा नंगा देखना वह सह नहीं सकता। भूखे नंगे को गांधी दरिद्रनारायण कह कर जब कि उसको ऊँचे स्थान पर रखते थे तब जवाहरलाल उस भावना में उनका साथ नहीं दे पाते। इसे उनके स्नायुओं की विशेषता कह लीजिए। लेकिन अगर वह कपड़े हैं और रहन-सहन से शालीन रहते हैं तो इसलिए कि वह नहीं चाहते कि कोई एक घड़ी भी अपना भूखा नंगापन बर्दाश्त करे। गांधी जो जिस मंदिर में बिठाते हैं उसका अपने कमरे में कब्जा रखना भी जवाहरलाल बर्दाश्त नहीं कर सकते। इस ऊपरी विरोधाभास के बीच दर्द की थोड़ी बहुत आंतरिक एकता भी नहीं देख सकते तो हम भूला भासों भ्रम ही रहेंगे।

मगर जवाहरलाल आदर्श और नीति से भटकन भी है तो वह दर्द ही उन्हें भटकाता है। उस दर्द से बढ़कर भी क्या कोई आदर्श है ? कोई नीति है ? जवाहरलाल इसी मूल प्रेरणा के कारण गांधीवादियों में अधिक गांधी परम्परा के उत्तराधिकारी हैं।

जिस पर इस तरह हम विस्मय कर सकते हैं उसी तरह हम तरस भी खा सकते हैं। अनेक विरोधाभास से जवाहरलाल में आ जुड़े हैं। व्यक्तित्व जो जितना समृद्ध और सम्पन्न होगा उतना ही विरोधाभासों का जाल सघन होगा। समस्त सम व और एकत्व जहाँ परिपूर्ण होता है वह तो है भगवान। गुण सब वहीं से हैं और वह स्वयं निर्गुण है साकार सब कुछ उस निराकार में से है। पर जवाहरलाल के प्रति गहरी वेदना होती है जब देखते हैं कि इतने सारे विरोधों को भीतर लेकर भी उन्हें उस भगवान की उपासना प्राप्त नहीं है जो समस्त विरोधों के निर्विरोध पति हैं और सब अशांति के लिए चिर शांति हैं।

का लगाव कम। वह निस्पृह हो बहादुर हो खरा और बेलाग हो। शरीर से स्वार्थ उपजता है आत्मा से ही प्रेम। आत्मोन्मुख होने पर ही व्यक्ति उठता है। आत्मवान ही अमल अर्थ में विराग बन सकता है। नायक को इस तरह अमृत्य की ओर ही बढ़ना होता है जिसमें सहारा केवल उसकी श्रद्धा हो। अब अनुयायी होता है उसका शरीर। आजकल पार्टी लीडर पार्टी से अलग और ऊपर कुछ रह नहीं जाता इसलिए वह जोड़-तोड़ में रहता है। उसकी खूबी चतुराई की बन जाती है। निष्कपटता में उसे खतरा है। शौर्य और पराक्रम उसमें झलक नहीं सकते। किन्तु जवाहरलाल की धातु और है। देश और पार्टी के नेता होकर भी देश और पार्टी को वह आत्मवमन नहीं पहुंचा पाते हैं कि वह उनसे घिरे हैं। यही उनका नेतृत्व है जो उन्हें ढकता नहीं उल्टे मुक्त करता है। नेतृत्व उनको चिन्ता नहीं बोझ की भांति आ गया हुआ एक दायित्व है जो विनम्र और कुशल तो उन्हें बना सकता है, कायर और कुटिल नहीं।

दुनिया की आज की स्थिति में जवाहरलाल से बहुत आशाएं हैं। गांधी ने एक नई दृष्टि और नई परम्परा आग्रत की थी। उन्होंने दिखाया कि संसार का काम ईश्वर की नीति से ही चलेगा और चलाना होगा। सांसारिक नीति कोई अलग नहीं हो सकती। आत्मा के अनुसार चलने में ही शरीर का स्वास्थ्य है। इसलिए संसार के भले के लिए सम्राट और राजनेता नहीं चाहिए सेवक और शहीद चाहिये। शासक और श्रमिक की खाई झूठी है। शासक बोझ है इसलिए शासक बदलने उनकी संख्या कम अधिक करने और शासन तन्त्र को इधर या उधर करने से असली कुछ लाभ होने जाने वाला नहीं है। आर्थिक कह कर जिस कार्यक्रम के सहारे विश्व में सहयोगी शांत और सही व्यवस्था हमें लानी है उसका तथ्य अर्थ और हिसाब में नहीं है। मूल की ओर से उसे नैतिक और सेवा भावी होना है। उसके लिए सबसे पहले हृदय का परिवर्तन करना है स्पर्धा की जगह प्रार्थना से चलना है। सारी दृष्टि को ही बदल डालना है। तब शासन और श्रम दोनों के ही क्रम और कम बदलते दिखाई देंगे। उनके विकार को दूर करके उन्हें संस्कार देना है। नहीं तो रुग्ण साधन से नीरोग साध्य नहीं प्राप्त होने वाला है।

गांधी की यह दृष्टि सारे राजनैतिक संसार के लिए चुनौती है। खासकर अब जब कि नसों में तनाव है। शस्त्र भीषण वेग से तयार हो रहे हैं और एक दूसरे को मरार करने और दोषी और दुष्ट प्रमाणित करने की कोशिश चल रही है। यूरोप में जब युद्ध चारों ओर से लगा अनुभव होता है गांधी का मार्ग

शरण का एक रामायण रह जाता है। जवाहरलाल के हाथ उस परम्परा का उत्तराधिकार है और उस माया के द्वार भी खुल जाते हैं। गांधी लंगोटी और झोंपड़ी में रहते थे। जवाहरलाल सुन्दर और महल में रमते हैं। गांधी धरती पर मन रखते थे। जवाहरलाल का मन मशीन और दुनिया पर है। यह अन्तर है और जवाहरलाल का बहुत फासला तय करना है। फिर भी जिनावा से भी ज्यादा उस परम्परा की रक्षा जवाहरलाल के हाथ है—और विनायता तो जवाहर से यह चीज मिलती और मिलती है। नहीं तो नहीं कहा जा सकता है कि तीसरा विश्वयुद्ध न होगा या कि फिर उसी की कड़ी में चौथा प्रलय युद्ध न आकर टूटेगा।

एक बात साफ है। वस्तु की बहुतायत अथवा मनमानी उत्पादन सबकी बसी आवश्यकताओं की भरपूर पूर्ति—इस तरफ जवाहरलाल का रुख और जोर है तो यह खुद वस्तु की चाह के कारण नहीं बल्कि गहरी मानव सहानुभूति के कारण है। इन्सान से उन्हें प्यार है और आदमी को भूखा नंगा देखना वह सह नहीं सकता। भूखे नंगे को गांधी 'दरिद्रनारायण' कह कर जब कि अपने से ऊंचे स्थान पर रखते थे तब जवाहरलाल उस भावना में उनका साथ नहीं दे पाते। इस अवस्था की विपन्नता कह लीजिए। लेकिन अगर वह वैभव से और रहन सहन से आलीशान रहते हैं तो इसलिए कि वह नहीं चाहते कि कोई एक घड़ी भी अपना भूखा नंगापन बर्दाश्त करे। गांधी जो जिस मंदिर में विराजते हैं उसका अपने कमरे में कल्पना रखना भी जवाहरलाल बर्दाश्त नहीं कर सकते। इस ऊपरी विरोधाभास के नीचे हम भी थोड़ी बहुत आंतरिक एकता भी नहीं देख सकते तो हम खुशी खासी अंधे हो रहेंगे।

मगर जवाहरलाल आदर्श और नीति से भरपूर भी है तो वह देश हो उन्हें भटकाता है। उस हद से बढ़कर भी क्या कोई प्रमाण है? कोई नीति है? जवाहरलाल इसी मूल प्रेरणा के कारण गांधीवादियों से अधिक गांधी परम्परा के उत्तराधिकारी हैं।

जिस पर इसी तरह हम विस्मय कर सकते हैं उसी तरह हम तरस भी खा सकते हैं। लेकिन विरोधाभास से जवाहरलाल में भरा कुछ है। व्यक्तित्व जो जितना समृद्ध और सम्पन्न होगा उतना ही विरोधाभासों का क्षेत्र होगा। समस्त सम व और एकत्व जहां परिपूर्ण होता है वह तो है भगवान। गुण सब वहीं से हैं और वह स्वयं निर्गुण है। साकार सब कुछ उस निराकार में से है। पर जवाहरलाल के प्रति गहरी श्रद्धा होती है जब देखते हैं कि इतने तीव्र विरोधों को भीतर रखकर भी वह उस भगवान की उपासना अपने में नहीं है पर समस्त विरोधों के लिए खपते हैं और सबकी शान्ति के लिए चिर शान्ति है।

जवाहरलाल मत समाधान नहीं जो कदाचित् निदान है। वह सतत प्रश्न हैं जो शायद यह जीवन है। वह एक गम्भीर और गहन ट्रेजडी हैं। महान् जो भी है ट्रेजिक है। जवाहरलाल म महत्ता है और यही ट्रेजडी है। यदि केवल वह व्यस्त न रहते बल्कि आगे बढ़कर अपने लिए छीन कर एकाध पल की फुरसत वह भी न लेते और उस फुरसत म सचमुच शून्य होने अर्थात् स्वयं तन्हान की कृतार्थता पा सकते तो ? तो—

पर यह तो ! तो ठानी की कल्पना है। जवाहरलाल म गांधी होने का दावा करने की अदया हम कस कर सकते है। हम कस चाह सकते है कि अन्तरग व्यथा किसी म बढ़ लेकिन अगर उनका मस्तिष्क जो पश्चिम की शिक्षा से खूब सध गया है तनिक सहृदय होता और सहज-सहानुभूति को बीच म लपक कर उसे बौद्धिक योजनाओं का रूप देने म इतना अभ्यस्त न होता तो क्या सचमुच ही वह सहानुभूति उनके सारे व्यक्तित्व को जलाकर आज आग न बना देती कि जिस पर न कपड़ा टिकता न पद और महत्व और न बड़े-बड़े नारे बल्कि अपने समूचेपन म वह आसू और आग की एक कविता बन जाता !

जवाहरलाल अमरीका स अपने जन्म के दिन पर ही भारत पहुंच हैं। भारत मे यह हैं और कहीं कुछ करें जन्म वाला दिन तो उनका भारत मे ही भाग्य म रहने वाला है। आज तो दुनिया विग्रह पर खड़ी है और एक का जो उजला है वही उस कारण दूसरे को काला दीखता है। क्या हम कह कि नेहरू अमरीका जीत कर आये हैं ? कहिये तभी उधर दूसरा कहेगा कि अमरीका म वह बिककर आये हैं। दोनो ही राष्ट्रगत स्वार्थों की भाषा है। उसम भारत की आत्मा नहीं है। कुछ को शिकायत रही कि भारत के इतिहास में राष्ट्र का उदय नहीं हुआ। इतिहास की जगह जो हो भारत की आत्मा कभी खण्ड के गर्व म नहीं उफनी, अखण्ड की पूजा में ही उसने अपनी लगन रखी। विश्व की और मानव जाति की वह अखण्डता आज बीसवी सदी म तथ्य की और व्यवहार की बात हो आई है। भारत ने तो सत्य माना कि वह अखण्ड ही सत्य था और है लेकिन समाजवादियो ने उसे स्वप्न कहा। आज यद्यपि विश्व अखण्ड होकर समक्ष है फिर भी राष्ट्र अपने उत्कट राष्ट्रवादों स बहके हुए हैं। व शान्ति चाहते हैं पर औरों के सिर चढ़कर। *क्या अब तक हमी वृत्ति म से युद्ध नहीं निकलते रहे हैं ?* अपने को महत्व देने का यह आग्रह तो सदा का नियम है। किन्तु दूसरों को महत्व देकर बसने का नियम सिर्फ एक भारत म पनपा है। यही अहिंसा का नियम है जिसे गांधी ने फिर से स्वयं भारत को और उसके द्वारा जगत को अर्पित किया है। भारत में चक्रवर्ती भी हुए जिन्होंने आक्रमणों को झेला और परास्त

किया और देश के माथे को ऊंचा रखा। फिर भी भारत के आत्म शौर्य का प्रताप ज्वलंत होता है—राम-कृष्ण में बुद्ध-महावीर में शंकर चैतन्य में। और वास्तव में गांधी में वही है जो जगतवंदनीय हैं। भारत के बाहुबल को कभी इतना दर्पी बनने नहीं दिया गया कि वह दूसरे के लिए संत्रास और भीति का कारण हो। सदा ही वह आश्वासन का साधन और वाहक होकर रहा।

जवाहरलाल पश्चिम को उसी विश्व की अखण्डता का दिग्दर्शन कराते हुए अमरीका से आ रहे हैं। अमरीकी महत्ता को उनसे उत्तेजन और अभिनन्दन नहीं मिला है। महत्वाकांक्षा को नहीं बल्कि पश्चिम की उत्तरदायित्व भावना को उन्होंने उभारा है। भारत के योग्य उत्तराधिकारी के अनुरूप ही उनका यह काम हुआ है। सत्ता के प्रतिनिधि तो वह थे और इस हैसियत से उसकी तत्कालीन आवश्यकताओं का उन्होंने ध्यान रखा है पर भारत के सच्चे सर्वकालीन संदेश का प्रतिनिधित्व भी उन्होंने वहां किया है।

आगामी विश्व में वस्तु से व्यक्ति का महत्व निश्चय अधिक होने वाला है। तब विश्व का केन्द्र पश्चिम नहीं पूर्व होगा। क्योंकि इंसान ज्यादा यहां बसता है। एशिया सिर्फ खपत की मण्डी है उस समय तक कि जब मशीन पर हमारा आधार है। पर आधार जब स्वयं मनुष्य होगा तब एशिया अनायास विश्व को शक्ति शांति और प्रकाश देने वाला भूखण्ड हो जायेगा। अण्डर डवलप्ड जो वस्तु की ओर से है वह आत्मा की ओर से भी अविकसित है—यह मानकर चलना योरुप व अमरीका के लिए भयंकर खतरे की बात होगी। जवाहरलाल से यह चेतावनी पूरे और सही अर्थ में मुल्कों को मिली है। जिनको नहीं मिली हम आशा करनी चाहिए कि मान संकेत से वे भी जानेंगे और अधिक गफलत में नहीं रहेंगे।

भारत के अतीत गौरव के उत्तराधिकारी, भारत के आत्मगत संदेश के वाहक गांधी के नियुक्त जवाहरलाल का इस आगमन और नव वर्ष पर हम अभिनन्दन करते हैं।

दिसम्बर ५०

■ ■ ■

गान्धी, नेहरू और हम

नेहरू अब नहीं रहे। सन् १९४७ से अब (सन् १९६४) तक के काल को नेहरू युग कहा जा सकता है। उसका आरम्भ उस भारत से हुआ जिसमें से पाकिस्तान कटकर अलग हो चुका था। भारत का अंग स्वराज्य आया ही था। गांधीजी राजनीतिक क्षेत्र से मानो विचारपूर्वक हटकर बंटवारे के कारण जो हिन्दू और मुस्लिम समाजों के बीच गहरा घाव बन गया था उसके उपचार में लग गये थे। असल में यह काम बुनियाद का था जहां से स्वयं राजनीति को आधार मिलता है। दरअसल अगर राजनीति को मानव नीति से स्वतन्त्र न रहना हो, युद्ध की विवशता से उसे उत्तीर्ण होना हो, तो यह बुनियादी काम अनिवार्य ही हो जाता है। कहना चाहिए कि इस खंड स्वराज्य के सुयोग के क्षण से ही गांधी जी उस स्वराज्य को सच्चा, अखण्ड और सम्पूर्ण बनाने के जड़ के काम में जुट गये थे। यह शक्ति की राजनीति से दूर हटा हुआ काम मालूम होता था और स्वराज्य का उत्सव अगर धूमधाम से दिल्ली में मनाया जा रहा था तो गांधी जी पांव पैदल उस वक्त दूर नोआखाली के वीरान में घूम रहे थे। हुकूमतें दो भले ही हो गई हों हिन्दू और मुस्लिम के नाम पर हृदय दो नहीं हुए हैं और नहीं हो पायेंगे, इस अपने दावे को सच्चा करने में वे लग गये थे।

गांधीजी के बाद वह काम छूट गया और सन् १९४७ से १९६४ तक का नेहरूयुग गांधीजी के छूटे हुए अधूरे काम को आगे नहीं ले जा सका। बल्कि वह मुख्यता से उस समस्या में घिरा और अटका रहा। नेहरू के मन में हिन्दू मुस्लिम का कोई भेद न था। उनके लिए यह शान की बात थी कि भारत देश और भारतीय शासन धर्म निरपेक्ष रहेगा और मुस्लिम का किसी भी विचार से यहां हिन्दू से दोयम स्थान न होगा। लेकिन कांग्रेस विभाजन मान चुकी थी और नेहरू विभक्त राष्ट्र के प्रधान मन्त्री बने हुए थे। इस तरह वह पाकिस्तान के लोकमत पर या उसकी शासन-नीति पर किसी प्रकार का प्रभाव डालने में मानों असमर्थ हो गये थे। भारतीय स्वराज्य के सत्रह वर्षों का यह नेहरू-युग उस प्रश्न से परिणामतः निरन्तर इस प्रकार आक्रान्त बना रहा कि शान्ती के रूप में

वह मानवाले उत्तराधिकारियों के समक्ष भी यह प्रश्न दीवार की तरह अड़ा खड़ा दिखाई देगा। पूर्वी बंगाल से लगातार आने जाने वाले विस्थापितों का सवाल है इधर कश्मीर का सवाल भी खासकर शेख अब्दुल्ला साहब के बाहर आने पर दहकते अंगार के माफिक बन गया है। दो अलग कौमों के रूप में हिन्दू और मुस्लिम को न तो गांधीजी ने माना था न नेहरू के मन ने एक पल के लिए इसे स्वीकार किया। लेकिन नेहरू विभाजन के अंग थे जब कि गांधीजी ने अपने को विभक्त नहीं होने दिया न किसी विभक्ता के साथ अपने को जुड़ने दिया। दूसरे शब्दों में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य गांधीजी के लिए सत्य और कर्तव्य बना रहा। नेहरू के साथ उससे उलटा हुआ। सकट बनकर वह हिन्दू मुस्लिम प्रश्न उनको घेरे ही नहीं रहा उन पर मडराता रहा और उनके सारे चिंतन और कर्म को चुनौती देता रहा।

यह मूलभूत अन्तर है और इसको पहचानने की जरूरत है। गांधीजी नीति और नैतिकता की भूमिका से इस प्रश्न की ओर बढ़ते थे। इसलिए उस सम्बन्ध में उनका अधिकार अक्षुण्ण और अखण्ड रहता था। नेहरू की भूमिका राजनैतिक हो जाती थी और उसमें का शक्ति चाहे अनचाहे ही हो मूल हो जाता था। उससे प्रश्न उलझता था और उसमें पेच पड़ जाते थे। हृदय की भूमिका रह नहीं जाती थी और अस्मिताओं की सतह पर सवाल उभर आता था। हृदय-परिवर्तन की जगह कुछ हार जीत का वातावरण बनता और परिणाम तनाव होता था।

नेहरू अपने जीवन के प्रारम्भ से ही मानों गांधी के प्रभाव में आ गए थे। उन्हीं से उन्होंने सार्वजनिक प्रवृत्ति की शिक्षा और दीक्षा पाई। उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा गांधीजी के अनोखे व्यक्तित्व और चरित्र का। लेकिन गांधी के ईश्वर का, प्रार्थना का और उनकी धर्म चिंतना का स्थान वहां नहीं बन सका। मस्तिष्क का जो संस्कार उनकी विलायती शिक्षा-दीक्षा ने दिया था वह किसी तरह घुल नहीं सका। फिर भी उससे एकदम भिन्न प्रकार का आदर्शवाद गांधी के सम्पर्क के कारण उनमें घर कर बैठा। नैतिक मूल्यों की आस्था और उनकी आवश्यकता के बारे में नेहरू उस तरह उदासीन फिर नहीं रह सकते थे और न ही रहे कि जिनने पश्चिम के राजनेता रह जाते थे। किन्तु यह हृदय का प्रश्न था—मस्तिष्क को जो संस्कार पश्चिम से मिला वह तो रहता ही चला गया।

इन परस्पर विपरीत वृत्तियों के सामंजस्य और असामंजस्य के परिणाम स्वरूप नेहरू-युग ने अपना निर्माण पाया। देश ने तरक्की की ओर बड़े बांध और कारखाने ऐसे खड़े हुए कि दुनिया में उनका सानी नहीं है। वैज्ञानिक और

गान्धी, नेहरू और हम

नेहरू अब नहीं रहे। सन १९४७ से अब (सन् १९६४) तक के काल को नेहरू युग कहा जा सकता है। उसका आरम्भ उस भारत से हुआ जिसमें से पाकिस्तान कटकर अलग हो चुका था। भारत का अपना स्वराज्य आया ही था। गांधीजी राजनीतिक क्षेत्र से मानों विचारपूर्वक हटकर बटवारे के कारण जो हिन्दू और मुस्लिम मानसों के बीच गहरा घाव बन गया था उसके उपचार में लग गये थे। असल में यह काम बुनियाद का था जहां से स्वयं राजनीति को आधार मिलता है। खासकर अगर राजनीति को मानव-नीति से स्वतन्त्र न रहना हो, युद्ध की विवशता से उसे उत्तीर्ण होना हो तो वह बुनियादी काम अनिवार्य ही हो जाता है। कहना चाहिए कि इस कटे स्वराज्य के दुर्योग के क्षण से ही गांधी जी उस स्वराज्य को सच्चा, अखण्ड और सम्पूर्ण बनाने के जड़ के काम में जुट गये थे। यह शक्ति की राजनीति से दूर हटा हुआ काम मालूम होता था और स्वराज्य का उत्सव अगर धूमधाम से दिल्ली में मनाया जा रहा था तो गांधी जी पांव पैदल उस वक्त दूर नोआखाली के वीरान में घूम रहे थे। हुकूमतें दो भले ही हो गई हों, हिन्दू और मुस्लिम के नाम पर हृदय दो नहीं हुए हैं और नहीं हो पायेंगे, इस अपने दावे को सच्चा करने में वे लग गये थे।

गांधीजी के बाद वह काम छूट गया और सन् १९४७ से १९६४ तक का नेहरू-युग गांधीजी के छूटे हुए अधूरे काम को आगे नहीं ले जा सका। बल्कि वह मुख्यता से उस समस्या में घिरा और अटका रहा। नेहरू के मन में हिन्दू मुस्लिम का कोई भेद न था। उनके लिए यह आन की बात थी कि भारत देश और भारतीय शासन धर्म निरपेक्ष रहेगा और मुस्लिम का किसी भी विचार से यहां हिन्दू से दोयम स्थान न होगा। लेकिन कांग्रेस विभाजन मान चुकी थी और नेहरू विभक्त राष्ट्र के प्रधान मन्त्री बने हुए थे। इस तरह वह पाकिस्तान के लोकमत पर या उसकी शासन-नीति पर किसी प्रकार का प्रभाव डालने में मानों असमर्थ हो गये थे। भारतीय स्वराज्य के सत्रह वर्षों का यह नेहरू-युग उस प्रश्न से परिणामतः निरंतर इस प्रकार आक्रांत बना रहा कि खाते के रूप में

वह मानेवाले उत्तराधिकारियों के समक्ष भी यह प्रश्न दीवार की तरह खड़ा नज़र दिखाई देता। पूर्वी बंगाल से लगातार आने जाने वाले विस्थापितों का सवाल है इधर कश्मीर का सवाल भी खासकर शेख अब्दुल्ला साहब के बाहर आने पर दहकते अंगार के मानिन्द बन गया है। दो अलग कौमों के रूप में हिन्दू और मुस्लिम को न तो गांधीजी ने माना था न नेहरू के मन ने एक पल के लिए इसे स्वीकार किया। लेकिन नेहरू विभाजन के अंग थे जब कि गांधीजी ने अपने को विभक्त नहीं होने दिया न किसी विभक्ता के साथ अपने को जुड़ने दिया। दूसरे शब्दों में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य गांधीजी के लिए सत्य और कर्तव्य बना रहा। नेहरू के साथ उमस उमड़ा हुआ। संकट बनकर यह हिन्दू मुस्लिम प्रश्न उनको घेरे ही नहीं रहा उन पर मंडराता रहा और उनके सारे चिंतन और कर्म को चुनौती देता रहा।

यह मूलभूत अन्तर है और इसको पहचानने की जरूरत है। गांधीजी नीति और नैतिकता की भूमिका से इस प्रश्न की ओर बढ़ते थे। इसलिए उस सम्बन्ध में उनका अधिकार अक्षुण्ण और अखण्ड रहता था। नेहरू की भूमिका राजनैतिक हो जाती थी और उसमें का शक्ति चाहे अनचाहे ही हो मेल हो जाता था। उसमें प्रश्न उलझता था और उसमें पेच पड़ जाते थे। हृदय की भूमिका रह नहीं जाती थी और अस्मिताओं की सतह पर सवाल उतर आता था। हृदय-परिवर्तन की जगह कुछ हार जीत का वातावरण बनता और परिणाम तनाव होता था।

नेहरू अपने जीवन के आरम्भ से ही मानो गांधी के प्रभाव में आ गये थे। उन्हीं से उन्होंने सार्वजनिक प्रवृत्ति की शिक्षा और दीक्षा पाई। उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा गांधीजी के अनोखे व्यक्तित्व और चरित्र का। लेकिन गांधी के ईश्वर का प्रार्थना का और उनकी धर्म चितना का स्थान वहां नहीं बन सका। मस्तिष्क को जो संस्कार उनकी विलायती शिक्षा-दीक्षा ने दिया था वह किसी तरह धुल नहीं सका। फिर भी उससे एकदम भिन्न प्रकार का आदर्शवाद गांधी के सम्पर्क के कारण उनमें घर कर बैठा। नैतिक मूल्यों की आस्था और उनकी आवश्यकता के बारे में नेहरू उस तरह उदासीन फिर नहीं रह सकते थे और न हो रहे कि जितने पश्चिम के राजनेता रह जाते थे। किन्तु यह हृदय का प्रश्न था—मस्तिष्क को जो संस्कार पश्चिम से मिला वह तो रहता ही चला गया।

इन परस्पर विपरीत वृत्तियों के सामंजस्य और असामंजस्य के परिणाम स्वरूप नेहरू-युग ने अपना निर्माण पाया। देश ने तरक्की की और कई बांध और कारखाने ऐसे खड़े हुए कि एशिया में उनका सानी नहीं है। वैज्ञानिक और

यान्त्रिक प्रगति में वह एशिया मे सबसे आगे आ गया। जापान का यदि अपवाद हो तो हो किन्तु जापानका औद्योगिक प्रगति का प्रारम्भ आधी सदी से भी अधिक पहले हो चुका था। इस सब प्रगति की दिशा म गाधी विचार नही जा सकता था। यह विशेषता थी तो नेहरूनीति की विशेषता थी कि इस सक्षिप्त नेहरू युग म देश आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से एकदम पिछडी हुई अवस्था से मानो औद्योगिक प्रतिस्पर्द्धा के क्षत्र म आ गया। उसकी अन्तर्राष्ट्रीय साख बनी। अन्त र्राष्ट्रीय क्षत्रों और प्रवृत्तियो म इसन अधिकारपूर्ण योग दिया और भाग लिया।

लेकिन दूसरी और नय प्रश्न भी पना होते चले गये। भारत हिमालय और तिब्बत म सुरक्षित था लेकिन तिब्बत बीच मे से एकाएक खत्म हो गया और हिमालय सुरक्षा क बजाय सकट का चिह्न बन गया। पाकिस्तान की ओर से उठने वाले सवाल बढते ही चले गये। चीजो की कीमतें बढी और १ से २ गुनी तक पहुच गई। अमीर-गरीब के बीच का फासला बहुद चौडा हो गया। शहरो म आलीशान मकान बन और गाव उजडते चल गये। रोजगार बढ उससे ज्यादा बेरोजगारी बढ गई। सरकारी मुलाजिमो की तादाद कई गुनी हो गई और इन्तजाम कई गुना ढीला होता चला गया। रुपये का चलन तेज हुआ और उसी परिमाण मे भ्रष्टाचार बढा। राजनीतिक दल उतने ही सिद्धान्त हीन और चरित्रहीन बनते गय कि जितना उनका ध्यान चुनाव पर केन्द्रित हुआ।

नेहरू युग इन दोनो प्रकार की गतियो म सबसे विशिष्ट माना जायगा। मानना यह भी होगा कि नेहरू के व्यक्तित्व की और नेतृत्व की ही यह प्रतिच्छवि थी। निस्सदेह अत्यन्त कमठ और प्रखर वह व्यक्ति था। दिल स उदार उतना ही दिमाग से सम्पन्न लेकिन जस दिन और दिमाग क बीच कहीं कोई कडी अन छुडी रह गई हो। उनकी उदारता और सहृदयता का लाभ बाहर के मित्रों ने ही नही उठाया बल्कि देश के भीतर के मित्रों ने भी पूरा-पूरा उठाया। अपने काम म वे चौकस थे और अपने को जरा भी आराम नही देते थे लेकिन अपनी उदारता म दोष पर दुलभ अवश्य कर जाते थे। जोर डालकर या आजिजी जताकर लाखों करोडों की रकम उनसे मजूर करा ली जा सकती थी। वह सदा स्वयम् सुभीते की स्थिति मे रहे थ इसलिए लगभग सबको वह सम्पन्न और सुविधाजनक स्थिति म देखना पसन्द कर सकते थे। फलत सामाजिक शालीनता का मूल्य उनसे बढा सीधी-सादी सादगी की कीमत किसी कदर घटी। मूल्य चीज से हटकर चतुराई पर आ गये और अन्तरग से बहिरग की अधिक पूछ होने लगी।

ऐसा लगता है कि श्रम और स्वप्न की एकता गांधी नेहरू को नहीं दे पाये। परिणाम यह हुआ कि नेहरू-युग में काम धाम खूब हुआ। जीवन में वेग आया और एक-पर एक आने वाली पंचवर्षीय योजनाओं से उत्पादन बढ़ा और निर्यात बढ़ा लेकिन इस सब सफलता के साथ-साथ ऐसा भी लगा जैसे कि अपने स्वप्न से देश दूर होता जा रहा है—डेमोक्रेसी है, सोशलिज्म भी हो रहा है, डमोक्रेटिक सोशलिज्म की तरफ निश्चय ही बढ़ा जा रहा है। पर रामराज्य कहां है? क्या वह कहीं आस-पास दीखता है? निश्चय ही तरक्की है और सबको यह मानना पड़ता है। पर जस सवाल मन में बना रहता है कि यह सब तरक्की है तो उसकी दिशा क्या है? लक्ष्य क्या है? तरक्की जो की जा रही है वह आखिर क्या पाने के लिये?

और ठीक यही चीज थी जो लगता है, अन्त की ओर खुद नेहरू में चुभन देकर उठने लग गई थी। रह रहकर उन्हें नैतिक मूल्यों की ओर उन पर बल देने की आवश्यकता की याद आती रही। लेकिन नैतिक के समक्ष निरे आर्थिक का जो वेग उन्होंने खोल दिया था मानों उसमें फुरसत नहीं मिल पाती थी। और बहाव खुल ही गया था—अपनी गति में सब-कुछ को डुबोता हुआ वह बढ़ता चला जा रहा था। आशा होनी थी कि प्रधान मंत्री नेहरू में क्या नेता नेहरू कभी जगेगा—और प्रवाह को मूल से पकड़कर उसे नया मोड़ नई दिशा दे सकेगा? संशय नहीं कि उस मोड़ की आवश्यकता थी जिससे लक्ष्य स्पष्ट हो और प्रवृत्तियां की विविधता में दिशा की एकता रहे। दिल और दिमाग दो तरफ न चलें बल्कि दोनों आत्मा की एक आवाज को सुनें और दोनों तदाधीन होकर चलना स्वीकार करें।

किन्तु नेहरू अपना योग पूरा कर गये। निश्चय ही ऐतिहासिक उनका काम था और जिन संकट और परिस्थितियों से उन्हें सामना करना पड़ा उनमें कोई भी दूसरा व्यक्ति टूट जा सकता था। नेहरू का यह पारदर्शी निश्छलता और निस्स्वार्थता थी कि वह देश की नाव को उन सब भंवरों में से पार खेते ले आये। इतिहास में कम ही ऐसे नायक पुरुष होंगे जिनको इतनी कठिन परीक्षा में से गुजरना पड़ा हो। घर की समस्याएं कम न थीं और दूसरा कोई होता तो उनमें घिर जाता। नेहरू की दृष्टि पार देखती रही और आपाधापी में घिरकर भी कविता उनमें मन्द नहीं हुई। उनकी वसीयत कविता ही नहीं तो और क्या है? उसमें कहीं भी लोकाकांक्षा का भाव नहीं है। अपने को भविष्य में अमर कर जाने की लालसा नहीं है। उसमें साफ लालसा है कि उनका अवशेष कुछ शेष न छोड़ा जाय—उनकी आखिरी राख को भारत के खेतों में बिखेर दिया

जाय कि उसकी मिट्टी में रचकर और सिंचकर वह यहां की हरियाली में खिले और महके। यह बहुत कुछ असम्भवनीय संयोग ही है। राजनता उद्दाम होता है। प्रेम से अधिक उसमें प्रतिस्पर्द्धा का बल होता है। यह धरती पर प्रभुता का भाग करता है और समय के आयाम के लिए मानो खो जाता है। कारण काल को चुनौती देता हुआ जो जीता रहता है वह तो प्रेम है—प्रेम की वाणी, प्रेम की कृति। क्षण तो नश्वर है और क्षण के साथ बीत जाता है। नेहरू राजनेताओं में मानों अपवाद हैं। प्रेम का स्वर उनमें सर्वथा मन्द या मूर्च्छित नहीं हुआ और उनकी रचनाओं में से उसकी मीठी महक मिले बिना न रहेगी। राज के झगड़े झमलों के पार नेहरू की निगाह को कोई उधर से नहीं फेर कि जहां मानव-जाति एक होगी और मनुष्य सब एक-दूसरे के लिए होंगे कोई किसी के लिए खतरा नहीं रहेगा बल्कि आश्वासन बनेगा।

भारत के तमाम इतिहास में इतने विशाल प्रदेश पर व्यवस्थित शासन करने वाले नेहरू के अलावा दो महापुरुषों के ही नाम याद हैं—एक अशोक दूसरे अकबर। किन्तु वे दोनों ही सम्राट थे। नेहरू वह हैं जिन्होंने सम्राट् बनने से इन्कार किया और जो आग्रह पूर्वक अन्त तक एक इन्सान सामान्य इन्सान की हैसियत में अपनको बनाये रहे।

उनका सानी दूसरा नहीं मिलेगा। क्या देश में क्या देश से बाहर। जैसे कि उन परिस्थितियों की समता और तुलना भी कहीं और नहीं मिल सकती। लेकिन जो आता है वह जाता है और पीछे की पीढ़ियों पर अपना भार और आभार छोड़ जाता है। भारत ने गांधी को पाया जिनके नेतृत्व में उसने ऐसी अनोखी पद्धति से स्वराज्य प्राप्त किया कि सारा मानव-इतिहास उससे जगमगाता रहेगा। स्वतन्त्र भारत विश्व के मित्र के रूप में उठा जो अब तक के इतिहास के क्रम को देखते सर्वथा अनहोनी घटना है। नेहरू स्वतन्त्र भारत की ओर से विश्व को गांधीजी की ही देन थे। आशय यह नहीं कि वह गांधीजी की अनुकृति थे, उस रूप में वह सर्वथा मौलिक और स्वतन्त्र व्यक्तित्व थे। किन्तु गांधीजी की भांति उनका लक्ष्य और उनका अन्तः स्वभाव विश्वजनीन था और दोनों का प्रभाव विश्वशांति की दिशा में था। इस विशिष्ट परम्परा की थाती अब आई है उस कांग्रेस-संस्था पर जिसके द्वारा इन दोनों विभूति-पुरुषों ने काम किया। यह सबके लिए विस्मय और सन्तोष की बात हुई कि कांग्रेस ने एकमत से अपने नेता का निर्वाचन किया है। यदि इसी कुशलता और उदारता का परिचय कांग्रेस ने अन्तर्दलीय क्षेत्र में भी दिया तो देश में उस भावात्मक एकता का बीज पड़ सकेगा जिसकी बहुत आवश्यकता है। विश्वासपूर्वक हम निर्दलीय लोकतन्त्र

तक भी पहुंच सकते हैं। ऐसा कुछ यदि भारतवर्ष सम्भव करके दिखा सका तो गांधीजी से आरम्भ हुई परम्परा सफल हुई मानी जा सकती है। आशा रखनी चाहिए कि कांग्रेस के मतिमान बन्धु उस ऊंचाई को कल्पना में लाने में समर्थ हो सकेंगे। तभी अपने इन उल्लेखनीय पूर्वजों के प्रति उन्हें उऋणता मिली मानी जा सकेगी।

जुलाई, '६४ ▫ ▫ ▫